B.A.LL.B. 2nd Sem. Paper-II History-II

प्रश्न न0 1– तुर्कों के आक्रमण के समय उत्तर भारत की स्थिति की विवेचना कीजिए?

उत्तर– उत्तर भारत में तुर्कों के आक्रमण के समय की स्थिति को समझना बहुत आवश्यक है, क्योंकि इसी स्थिति का लाभ उठाकर तुर्कों ने भारत में अपनी पकड़ बनानी शुरू की। यह समय मुख्यतः 10वीं और 11वीं शताब्दी का था, जब भारत राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक रूप से कमजोर होता जा रहा था। नीचे एक विस्तृत उत्तर दिया गया है:

तुर्कों के आक्रमण के समय उत्तर भारत की स्थिति (लंबा उत्तर)–तुर्कों के भारत पर आक्रमण से पहले उत्तर भारत की स्थिति अत्यंत जटिल और दुर्बल हो चुकी थी। यह काल राजनीतिक अस्थिरता, आपसी संघर्ष, सामाजिक विषमता और धार्मिक रूढ़ियों से भरा हुआ था। इन परिस्थितियों ने भारत को बाहरी आक्रमणों के लिए एक आसान लक्ष्य बना दिया।

1. राजनीतिक विघटन और कमजोर शासन–तुर्कों के आक्रमण से पूर्व भारत में कोई एक शक्तिशाली केंद्रीय शासन नहीं था। विभिन्न छोटे–बड़े राज्य जैसे प्रतिहार, पाल, राष्ट्रकूट, और बाद में चौहान, सोलंकी, परमार, गहड़वाल आदि राजवंश आपस में संघर्षरत थे। राजाओं में एकता का अभाव था और वे एक–दूसरे के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे। यही कारण था कि जब महमूद गजनवी और बाद में मोहम्मद गोरी ने आक्रमण किए, तो उन्हें गंभीर विरोध नहीं झेलना पड़ा।

2. सामाजिक स्थिति–भारतीय समाज जाति–पांति में बंटा हुआ था। उच्च वर्ग और निम्न वर्ग में भारी अंतर था। ब्राह्मणों और राजाओं का वर्चस्व था, जबकि शूद्र और अन्य निचली जातियाँ शोषण का शिकार थीं। सामाजिक असमानता के कारण समाज में एकता और समरसता का अभाव था।

3. धार्मिक स्थिति–धर्म के क्षेत्र में भी गिरावट आई थी। धार्मिक आडंबर, मूर्ति पूजा, कर्मकांड और ब्राह्मणवाद का बोलबाला था। भक्ति की भावना की जगह पाखंड ने ले ली थी। इस धार्मिक पतन ने लोगों को उदासीन बना दिया, जिससे विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध कोई संगठित प्रतिरोध नहीं हुआ।

4. सेनाओं की कमजोर स्थिति–भारतीय राजाओं की सेनाएँ पारंपरिक ढंग से युद्ध करती थीं, जबकि तुर्क घुड़सवार सेना और तेज गति से हमला करने की रणनीति में निपुण थे। भारतीय सेनाओं में अनुशासन की कमी थी और तकनीकी दृष्टि से वे पीछे थीं।

5. महमूद गजनवी और मोहम्मद गोरी के आक्रमण–इस राजनीतिक और सामाजिक कमजोरी का लाभ उठाकर महमूद गजनवी ने भारत पर 17 बार आक्रमण किया और सोमनाथ जैसे प्रमुख मंदिर को लूटा। इसके बाद मोहम्मद गोरी ने 1191 में तराइन का पहला युद्ध पृथ्वीराज चौहान से हारा, लेकिन 1192 में दूसरे युद्ध में विजयी हुआ। इसी के साथ तुर्कों की स्थायी सत्ता का भारत में प्रवेश हुआ।

निष्कर्षतः, उत्तर भारत में तुर्कों के आक्रमण के समय राजनीतिक विघटन, सामाजिक असमानता, धार्मिक पतन और सैनिक कमजोरी जैसी स्थितियाँ व्याप्त थीं। इन कमजोरियों ने भारत को तुर्क आक्रमणों के लिए एक आसान शिकार बना दिया और अंततः दिल्ली सल्तनत की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

प्रश्न न0 2– दिल्ली सल्लनत की स्थापना किस प्रकार हुई? कुतबद्दीन ऐवक के कार्यों की विवेचना कीजिए?

उत्तर– मोहम्मद गोरी के कोई पुत्र न था। गोरी के भारतीय साम्राज्य का स्वामी उसका सबसे महत्वपूर्ण गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक श हुआ। 1206 ई० से 1290 ई० तक के मध्य हुये दिल्ली सल्तनत के सुल्तान गुलाम वंश के सुल्तानों के नाम से प्रसिद्ध हुये यद्यपि वे न तो एक वंश के थे और न सुल्तान होने के समय इनमें से कोई गुलाम था। वे सभी सुल्तान तुर्क थे किन्तु उनके वंश का अलग–अलग थे।

कुतुबद्दीन ऐबक (1206–1210)–दिल्ली का प्रथम मुसलमान शासक कुतुबद्दीन ऐबक था और उसी को तुर्की राज्य का संस्थापक भी माना जाता है। कुतुबद्दीन ऐबक की मुख्य सफलता भारत के तुर्की राज्य को गोर और गजनी के सुल्तानों के स्वामित्व से मुक्त करके उसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने का प्रयास करना तथा मोहम्मद गोरी के निधन के उपरान्त उद्भूत हुयी अस्थिर परिस्थितियों में उसे स्थायित्व प्रदान करना था। इसी कारण उसे भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक स्वीकार किया गया है।

कुतुबद्दीन ऐबक तुर्क था और उसके माता–पिता तुर्किस्तान के निवासी थे। बचपन में निशापुर के काजी फखरूद्दीन अब्दुल अजीज कूकी ने उसे एक दास के रूप में खरीदा था। तुर्कों में अपने दास को योग्य बनाने की परम्परा थी। अनेक व्यक्ति अपने दासों को साहित्य, कला और सैनिक शिक्षा प्रदान कर उन्हें राज्य की उत्तम सेवा करने के योग्य बनाया जाता था। ऐबक ने काजी की कृपा से उसके पुत्रों के साथ कुरान पढ़ने लगा, धीरे–धीरे निपुण अश्वारोही तथा धनुर्धारी बन गया और साहस तथा पुरुषोचित गुणों के लिये प्रख्यात हो गया। जब उसके पहले स्वामी की मृत्यु हो गयी तो उसके पुत्रों ने इसे फिर बेच दिया और अन्ततः वह मोहम्मद गोरी का गुलाम हो गया। उसने कर्तव्यनिष्ठा और स्वामिभक्ति का परिचय दिया जिससे प्रसन्न होकर मोहम्मद गोरी ने उसे अपनी सेना की एक टुकड़ी का नायक बना दिया। उसके पश्चात् वह अस्तबलों के अध्यक्ष (अमीर आखुर) के पद पर नियुक्त हुआ। तराइन के द्वितीय युद्ध के पश्चात् 1192 ई० में मोहम्मद गोरी ने उसे अपने भारतीय

साम्राज्य का शासक नियुक्त कर दिया और अपनी अनुपस्थिति में राजकाज संचालित करने का अधिकार दे दिया। ऐबक ने दिल्ली के निकट इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाया।

अपने स्वामी की अनुपस्थिति में कुतुबद्दीन ऐबक ने 1192 ई० में अजमेर और मेरठ में विद्राहों का दमन किया। 1194 ई० में उसने अजमेर के दूसरे विद्रोह को दबाया और फिर कन्नौज के गहड़वालों के विरुद्ध युद्ध में गोरी का सहयोग दिया। उस युद्ध में जिसमें जयचन्द की हार हुयी और मृत्यु, ऐबक ने महत्वपूर्ण भाग लिया। 1195 ई० में उसने अलीगढ़ को विजित किया, अजमेर के विद्रोह को दबाया, गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ को लूटाय राजस्थान के कुछ दुर्गों को जीता और बुन्देलखण्ड के राजा परमर्दीदेव को नतमस्तक करके कालिजर, महोबा और खुजराहो पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार ऐबक ने अपने स्वामी गोरी को न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों को विजित करने में सहयोग दिया वरन् समय–समय पर उसकी अनुपस्थिति में विजित किये गये प्रदेशों को तुर्कों के प्रभुत्व में रखा और राज्य विस्तार भी किया।

सन् 1206 ई0 में मोहम्मद गोरी की मृत्यु के पश्चात् लाहौर के नागरिकों ने कुतुबद्दीन ऐबक को लाहौर आकर शासन–सत्ता अपने हाथों में लेने के लिये आमन्त्रित किया। ऐबक ने लाहौर पहुँच कर शासन सत्ता अपने हाथों में ले ली यद्यपि उसने अपना राज्याभिषेक गोरी की मृत्यु के तीन माह पश्चात् 1206 ई० में कराया।

सिंहासन पर आसीन होने के अवसर पर उसने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की बल्कि केवल श्मलिकश, शसिपहसलारश की उपाधियों से ही सन्तुष्ट रहा जिन्हें उसने अपने स्वामी मोहम्मद गोरी से प्राप्त किया था। इसी कारण ऐबक ने अपने नाम का न खुतबा पढ़वाया और न अपने नाम के सिक्के चलाये। बाद में 1208 ई० में मोहम्मद गोरी के उत्तराधिकारी गियासुद्दीन ने ऐबक को श्सुल्तानश की उपाधियों से विभूषित किया तथा उसके पास राजछत्र, ध्वजा, सिंहासन आदि राजपद की वस्तुयें भिजवा दीं।

सिंहासनारूढ़ होने के अवसर पर ऐबक अनेक कठिनाइयों से घिरा हुआ था। तुर्कों ने अफगानिस्तान से लेकर उत्तरी भारत के बंगाल तक के भू–प्रदेशों को अपने पैरों तले कुचल अवश्य दिया था किन्तु वे इसके निर्विवाद स्वामी बनने में अभी तक सक्षम न थे। गोरी ने राजपूतों की शक्ति को जर्जर अवश्य कर दिया था किन्तु समाप्त नहीं कर सका था और राजपूत स्थान–स्थान पर तुर्कों का सामना कर रहे थे तथा अनेक स्थानों से तुकों को निष्कासित कर रहे थे। चन्देल शासक ने कालिंजर को पुनः विजित कर तुर्कों के दक्षिण की दिशा में अग्रसर होने का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था, गहड़वाल नरेश हरीशचन्द्र ने फर्रुखाबाद और बदायूं में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और प्रतिहार–राजपूतों ने ग्वालियर को पुनः जीत लिया था। बंगाल में खलजी सरदारों के पारस्परिक संघर्षों ने वहां तुर्की सत्ता को निर्बल कर दिया था तथा बंगाल की खलजी सरदार ऐबक के स्वामित्व को मानने के लिये तैयार नहीं थे। वास्तव में ऐबक का आधिपत्य सिन्ध, पंजाब, दिल्ली और दोआब तक सीमित था और वहां पर भी राजपूत उसकी सत्ता का प्रतिरोध कर रहे थे।

परन्तु इनमें सबसे बड़ा संकट ऐबक को अपने सम्बन्धियों तथा अपने ही समान गोरी के दास और उनके राज्य के उत्तराधिकारी ताजुद्दीन यिल्दिज (एल्दौज) और नासिरुद्दीन कुबाचा की ओर से था। ताजुद्दीन यिल्दिज ने गजनी में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी, उसकी पुत्री का विवाह ऐबक से हुआ था और वह ऐबक को अपने अधीन तथा गोरी के भारत के राज्य पर अपना अधिकार मानता था। वास्तव में एल्दौज और कुवाचा ऐबक के प्रतिद्वन्द्वी थे।

कुतुबद्दीन ऐबक व दिल्ली के नये तुर्की राज्य के लिये सबसे बड़ा संकट मध्य एशिया की ओर से था। ख्वारिज्म के शाह की गजनी तथा दिल्ली पर दृष्टि थी। इस कारण ऐबक की एक मुख्य कठिनाई भारत के राज्य को मध्य एशिया की राजनीति से अलग करना, उसे गजनी के शासकों के कानूनी आधिपत्य से मुक्त करना तथा उसे एक अलग राज्य का अधिकार और अस्तित्व देना था।

ऐबक का शासन शुद्ध सैनिक शासन था। राजधानी में एक प्रबल सेना थी, अन्य भागों में भी सेना रखने की समुचित व्यवस्था थी। उसकी सबसे बड़ी योग्यता एक कर्मठ सैनिक और योग्य सेनापति होना था। वह एक साहसी और अनुभवी सेनापति था। मोहम्मद गोरी की भारतीय विजयों का अधिकांश श्रेय उसी को था।

भवन निर्माण के प्रति भी ऐबक की विशेष रुचि थी। 1191 ई० में उसने कुबातुल इस्लाम मस्जिद का निर्माण दिल्ली में कराया था। इसके विषय में कहा जाता है कि इसका निर्माण जैन मन्दिर के ध्वंशावशेषों पर किया गया था। इस मस्जिदों में एक आयताकार सहन था जो स्तम्भदार बरामदों से घिरा हुआ था। इसके नमाज के कक्ष में बाहरी भाग में मुस्लिम शैली में मेहराबदार पर्दा जैसी दीवार थी जिस पर पवित्र कुरान की आयतें तथा श्रृंगारयुक्त चित्र अंकित थे। इस मस्जिद का इबादतखाना बड़ा ही सुन्दर है। ऐबक द्वारा निर्मित करायी गयी दूसरी इमारत कुतुबमीनार है। कहा जाता है इसे ऐबक ने महात्मा ख्वाजा कुतुबद्दीन की स्मृति में बनवाया था। यह दिल्ली में स्थित है। कुछ विद्वान कुतुबमीनार को हिन्दू भवन बताते हैं। परन्तु सर जॉन मॉर्शल इसकी आलोचना करते हुये कहते हैं कि मीनार की सम्पूर्ण योजना, रचना तथा अलंकरण की लगभग हर बात पूर्णरूपेण इस्लामी है। कुतुबद्दीन ऐबक ने इसके अतिरिक्त अजमेर की प्रसिद्ध मस्जिद बनवायी जिसे अढ़ाई दिन का झोपड़ा कहते हैं।

इस भांति ऐबक एक योग्य सेनापति, एक व्यावहारिक शासक और एक उदार व्यक्ति था। वह भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक माना गया है। इतना होने पर भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि ऐबक ने अपने शासनकाल में न कोई विजय प्राप्त की, न राज्य का विस्तार ही किया। शासन–प्रबन्ध की दृष्टि से उसमें कोई विशेष प्रतिभा न थी। उसका शासन एक फौजी जागीर की भांति रहा जिसमें स्थायित्व के गुणों का समावेश न था। 1210 ई० में अपने उत्तराधिकारियों के लिये विस्तृत राज्य छोड़कर वह चौगान खेलते हुये इस संसार से विल बसा।

<u>प्रश्न न0 3–</u> बलवन के राजत्व सिद्धान्त एवं कार्यों की विवेचना कीजिए?

<u>उत्तर–</u> गियासुद्दीन बलबन (1265–1287 ई०)–बलबन इलबारी कबीले का एक तुर्क था, स्वयं इल्तुतमिश भी इसी कबीले का था और उसका पिता दस हजार परिवारों का खान था। इससे इतना निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि बलबन का जन्म एक कुलीन परिवार में हुआ था। सुल्तान इल्तुतमिश ने उसके गुणों से प्रभावित होकर उसे भिश्तियों का प्रधान नियुक्त किया। उसे उपरान्त जब उसके भाई किशलू खां की नियुक्ति अमीर–ए–हाजिब के पद पर हयी तो उसके लिये उन्नति का मार्ग खुल गया। अपनी योग्यता और कार्य क्षमता के कारण रजिया के शासन काल में वह 'अमीर–ए–शिकार' के महत्वपूर्ण पद पर पहुंच गया। रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वाले तुकी सरदारों में से वह भी एक था और जब वह बहरामशाह सुल्तान बना तो उसे 'अमीर–ए–अखुर' (अश्वशाला का प्रधान) का पद प्रदान किया गया। 'अमीर–ए–हाजिब' मलिक बदरूद्दीन संकर रूमी की उस पर विशेष कृपा रही जिसके कारण उसे रेवाड़ी की जागीर दी गयी। सुल्तान बहरामशाह को सिंहासन से हटाकर मसूद शाह को सुल्तान बनाने में भी उसने तुर्की अमीरों का साथ दिया, जिसके कारण उसे हांसी की सूबेदारी दी गयी। जब वजीर मुहाजबुद्दीन और तुर्की सरदारों में संघर्ष हुआ और मुहाजवुद्दीन को हटाकर अबूवक्र को वजीर बनाया गया तो बलबन को 'अमीर–ए–हाजिब' का पद प्राप्त हुआ। अगस्त 1249 में बलबन ने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरूद्दीन से कर दिया। इस अवसर पर उसे 'उलूग खां' की उपाधि और 'नाइव–ए–मामलिकात', का पद दिया गया। इस प्रकार शासन के सम्पूर्ण अधिकार विधिक रूप (कानूनी तौर) से उसे दे दिये गये। बलबन ने अपने सम्बन्धियों को महत्वपूर्ण पद प्रदान किये और स्वयं राज्य का वास्तविक शासक बन गया। कालान्तर में सुल्तान नासिरूद्दीन की मृत्यु के बाद बलबन जिसका राजसत्ता पर पहले से ही अधिकार था, गियासुद्दीन बलबन नाम से सिंहासन पर 1266 ई० को आसीन हो गया।

बलबन का राजत्व–सिद्धान्त – बलवन दिल्ली सल्तनत का पहला शासक था जिसने सुल्तान के पद और अधिकारों के बारे में विस्तृत रूप से विचार प्रकट किये। दलबन के राजत्व सिद्धान्त की दो मुख्य विशेषतायें थीं। प्रथम, सुल्तान का पद ईश्वर के द्वारा प्रदान किया होता है और द्वितीय सुल्तान का निरंकुश होना आवश्यक है। उसके अनुसार ''सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि (नियाबत–ए–खुदाई) है और उसका स्थान केवल पैगम्बर के पश्चात् है। सुल्तान को कार्य करने की प्रेरणा और शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। इस कारण जनसाधारण या सरदारों को उसके कार्यों की आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं है।'' उसने अपने पुत्र वुगरा खां से कहा था कि सुल्तान का पद निरंकुशता का सजीव प्रतीक है। उसने ईरान के सासानी शासकों के राजत्व सिद्धान्त को अपनाया तथा सम्राट् के पद को अत्यन्त उच्च स्तर तक उठाने के लिये विभिन्न प्रकार के माध्यमों का सहारा लिया। इसलिये वह जनता या सामन्त वर्ग के प्रति उत्तरदायी न होकर ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है। उसने सुल्तान के पद की गरिमा को बनाये रखने के लिये राजदरबार में कठोर अनुशासन लागू करने पर विशेष बल दिया है और स्वयं को सर्वसाधारण से दूर रखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार उसने शासक और शासित के मध्य एक अलौकिकता की दीवार खड़ी कर दी। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् बलबन के सत्ता में आने के पूर्व तक अमीर वर्ग (उमरा वर्ग) शक्तिशाली एवं प्रभावशाली हो गया था। वे इतना सक्षम हो गये थे कि किसी भी सुल्तान का विरोध करने पर उसे सत्ता से च्युत कर देते थे और उसकी हत्या कर देते थे। सुल्तान बनाने के पूर्व नायव के रूप में जिस खेल को बलबन ने स्वयं खेला था, उसे अपने तथा अपने वंशजों के हित में राजत्व के नये प्रतिमानों द्वारा बन्द करने का संकल्प लिया। उसने अलौकिकता का प्रदर्शन और आचरण संहिता का निर्धारण कर दरबारी शिष्टाचार, मर्यादा तथा अनुशासन की नई निर्मित रेखाओं की परिधि के अन्तर्गत सबको चलने के लिये अपरिहार्य बना दिया। उसकी उपस्थिति में दरबारी द्वारा ऊंचे स्तर में बातचीत या हास–परिहास करने का साहस नहीं था। वह उच्च व निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्तियों में बहुत अन्तर मानता था और निम्न कुल के किसी भी व्यक्ति को सरकारी पद देना पसन्द नहीं करता था।

बलबन ने ईरान के सासानी शासकों के दरबार के नमूने पर अपने दरबार का अलंकरण किया। बलबन ने फारसी तथा ईरानी प्रथाओं एवं परम्पराओं को भी अपनाया। अपने निजी तथा सार्वजनिक जीवन में प्राचीन फारस के रस्मों–रिवाजों और रहन–सहन के विभिन्न मानदण्डों को कठोरता से लागू किया। उसने सिजदा (भूमि पर लेटकर अभिवादन करना) और पैबोस (सुल्तान के सिंहासन के निकट जाकर उनके चरण को चूमना) की रीतियां आरम्भ की, ऊंचे और भयानक व्यक्तियों का अंगरक्षक बनाया जो उसके सिंहासन के दोनों तरफ चमचमाती हुयी नंगी तलवारें लेकर खड़े रहते थे और बड़े–बड़े सरदारों के अतिरिक्त बाकी सभी व्यक्तियों को अपने दरबार में खड़े रहने के आदेश दिये। दरबारियों के लिये शराब पीना निषिद्ध कर दिया गया और उन्हें

विशेष वस्त्र धारण करके ही दरबार में आने की आज्ञा दी गयी। उसके दरबार में प्रत्येक वर्ष ईरानी त्यौहार 'नौरोज' बड़ी शान–शौकत से मनाया जाता था। शान–शौकत और सत्ता के इस प्रदर्शन का प्रभाव सरदारों और जनसाधारण पर पड़ा और सुल्तान की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा में वृद्धि हुयी।

बलवन ने अपने राय के सिद्धान्त में अभिजातता एवं रक्त शुद्धता पर विशेष बल दिया। अभिजातता मारक की शुद्धताको सुपिश्चित करने के लिये उसने वंशजांच प्रणाली लागू को और पहले से नियुक्त सकलों को पियक्ति को निरस्त कर दिया। उसने स्वयं को फारस के अफरासियाव का वंशज बताकर यह करना चाहा कि केवल उच्च वंश के लोगों को ही यह पद मिलता है और निम्नवंशीय लोग इस पद के अधिकारी नहीं हैं।

निरंकुश शासन को आवश्यकता के अनुरूप उसने उलेमा वर्ग को शासन की परिधि से बाहर रखकर राजनीति को मजहब से दूर रखने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही उलेमा की सन्तुष्टि तथा इस्लामी जगत में उपयोग अपने सिक्कों में किया और इस प्रकार खलीफा को जीवित रखा। ने बगदाद के मूल खलीफा के नाम का

बलवन का शासन प्रवन्ध – बलबन का शासन एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन था। राज्य की समस्त शक्ति उसके हाथों में थी। किसी भी कार्य का भार वह अपने पुत्रों तथा अधिकारियों पर नहीं छोड़ता था। यद्यपि उसने क्षेत्रा आदि के अधिकारी नियुक्त किये थे, परन्तु राज्य के सभी कार्य वह स्वयं देखता था।

केन्द्रीय शासन – बलबन ने एक स्वेच्छाचारी केन्द्रीयभूत शासन की स्थापना की थी। राज्य की समस्त शाक्रिया सुल्तान में पिहित थीं, तथा केन्द्रीयभूत थों और वह समस्त अधिकारों का स्रोत था सभी कार्यों में सुनितान के परामर्श और उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक था।

बलवन की राज्य सभा – बलबन की राज्यसभा बड़ी प्रसिद्ध है। बलबन ने दरबार की शान–शौकत को बढ़ाया। उसने योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति तथा उन्हें उच्च पद प्रदान किये। उसका विश्वास था कि योग्यतम व्यक्तियों के शासन में सुधार सम्भव है। दरबार में उसने कठोर अनुशासन की व्यवस्था की। जो व्यक्ति लबार के कार्यों के अनुकूल न थे उन्हें उसने पदच्युत कर दिया।

सैनिक व्यवस्था – बलबन की निरंकुशता का मुख्य आधार स्तम्भ उसकी शक्तिशाली सेना थी। उनको संगठित करने की दिशा में उसने यथोचित ध्यान दिया। कुतुबद्दीन ऐबक के समय में ही तुर्की सैनिकों को सैनिक वेतन के स्थान पर भूमिकर का कुछ भाग दिया जाता था। उनमें से कुछ को प्रदेश जागीर रूप में भी दिये जाते थे। इल्तुतमिश ने भी सैनिक सेवा के बदले में जागीरें प्रदान की। सुल्तान बलबन ने आज्ञा निकाली कि तुद्ध, अनाथों, विधवाओं से भूमि वापस ले ली जायें और उन्हें नगद वेतन दिया जाये। जो लोग जवान तथा सैनिक सेवा के योग्य थे उनकी जागीरों उनके अधिकार में रहने दी गयीं किन्तु उनके गांव से भूमि कर वसूल करने का कार्य केन्द्रीय सरकार ने अपने ऊपर ले लिया और जागीरदारों को नगद रुपया देने का नियम बना दिया गया। सुल्तान की इन आज्ञाओं के विरुद्ध जागीरदारों ने आवाज उठायी। कोतवाल फखरूद्दीन के अनुनय–विनय करने पर वृद्ध जागीरदारों के सम्बन्ध में अपनी आज्ञा रह कर दी, इसलिये सुलतान के इस सुधार का अधिक प्रभाव नहीं हुआ। सिपाहियों को भी सैनिक सेवा के बदले में भूमि देने की पुरानी नीति जारी रही। प्रायः सैनिक लोग अपने स्थान पर किराये के सिपाही भेज दिया करते थे जिनके पास अस्त्र–शस्त्रादि भी समुचित नहीं होते थे। यह प्रायः अवश्य बन्द हो गयी।

बलबन ने इमादउलमुल्क को जो अत्यधिक योग्य अफसर था, सेना–मन्त्री के पद पर नियुक्त कर दिया। इमाद ने सैनिकों की भर्ती, वेतन तथा साज–सज्जा के सम्बन्ध में विशेष रुचि से कार्य किया। उसने सैनिक अनुशासन स्थापित किया और अपनी बुद्धिमत्तापूर्ण तथा ईमानदारी की नीति द्वारा सेना को अत्यन्त बलशाली बना दिया।

शान्ति की स्थापना – इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद राज्य में अशान्ति तथा कलह का प्रकोप बढ़ गया था। बरनी के कथनानुसार सभी लोगों के हृदय से राज्य का भय जो सुव्यवस्थित सरकार का आधार तथा राज्य गौरव एवं ऐश्वर्य का साधन है, निकल गया था और देश की बड़ी दुर्दशा हो रही थी। बलबन ने समस्त वषम परिस्थितियों को अपने सुधारों से सुलभ बना दिया। बरनी ने लिखा है कि जब वह सिहासन पर बैठा उसने एक नया तेज प्रदान कर दिया। उसने शासन व्यवस्था स्थापित की और उन संस्थाओं की क्षमता को संवत् स्थापित किया जिनकी शक्ति नष्ट अथवा शिथिल हो गयी थी।

नये दुर्गों का निर्माण तथा पुरानों का जीर्णोद्धार – बलबन के शासन काल में भी विद्रोहों तथा मंगोल आक्रमणों का भय सदा बना रहता था। मंगोल आक्रमण से देश की सुरक्षा के लिये उसने पुराने दुर्गों की मरम्मत करायी तथा कुछ नये दुर्गों का निर्माण कराया। इन दुर्गों में विशाल सेनायें अनुभवी सेनापतियों के नियन्त्रण में रखी गयीं।

सुसंगठित गुप्तचर विभाग – बलबन ने प्रजा को उचित न्याय प्राप्त होने के लिये एक सुसंगठित गुप्तचर विभाग की स्थापना की। गुप्तचरों की इस व्यवस्था से अपराध अवश्य कम होने लगे तथा प्राधिकार प्राप्त लोगों के अत्याचारों से निर्दोष व्यक्तियों की रक्षा हुयी, परन्तु साथ ही इससे समाज में चारित्रिक हीनता भी बहुत कुछ आ गयी है और लोग उन सामाजिक सुविधाओं से बहुत कुछ वंचित रह गये होंगे जो नियमानुसार उनको प्राप्त होने

चाहिये थी और जिनसे किसी प्रकार की क्षति की भी सम्भावना न हो सकती थी। सुल्तान ने सभी प्रान्तों में तथा जिलों में गुप्तचर रखे थे जिनकी राजभक्ति की भी परीक्षा हुआ करती थी।

सीमा प्रबन्ध – बलबन ने एक निश्चित सीमा–नीति का अनुसरण किया जिसकी उस युग में अधिक आवश्यकता थी। सीमा क्षेत्र की समुचित व्यवस्था करके वह मंगोलों के आक्रमण को रोकने के प्रयास में सफल रहा।

बलबन ने मेवातियों का दमन कर दिया जो कि डाकुओं की भांति रात्रि में राजधानी के निकट उपद्रव करते रहते थे। राजधानी की सुरक्षा के लिये बलबन ने सैनिक चौकियां स्थापित करायी, उन पर अफगानों की दृढ़ सेना नियुक्त की।

निष्पक्ष न्याय–व्यवस्था – बलबन महान न्यायकर्ता था। उसने अपने सम्बन्धियों को भी दण्ड देने में कभी संकोच नहीं किया। लोग सुल्तान से आतंकित रहते थे कि अपने नौकरों तथा दासों के प्रति भी अच्छा व्यवहार करते थे। न्याय करने में सुल्तान पूर्ण निष्पक्षता से काम लेता था और अपने सगे–सम्बन्धियों व मित्रों तक का भी कभी पक्षपात न करता था। यदि उसका कोई निकटतम सम्बन्धी या अभिन्न मित्र भी कोई अन्यायपूर्ण कार्य करता तो वह उत्पीड़ित पक्ष को सन्तुष्ट करने में कभी भी शिथिलता न दिखाता था। सुल्तान के अपरिहार्य न्याय विधान का एक ऐसा प्रभाव पड़ा कि कोई अपने अनुचरों तथा दासों तक के साथ दुर्व्यवहार करने का साहस न कर सकता था।

भूमि व्यवस्था – बलबन ने भूमि प्रबन्धन की ओर भी ध्यान दिया। सैनिकों को जागीर देने की प्रथा कुतुबद्दीन ऐबक के समय से चली आ रही थी परन्तु वे सैनिक भूमि पर उचित रूप से ध्यान नहीं देते थे। भूमि की पैदावार भी कम होती जा रही थी। बलबन ने सैनिकों को नगद वेतन देने को ही प्राथमिकता दी परन्तु वह जागीर न देने की व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त न कर सका। उसे अपनी नीति में संशोधन करना पड़ा।

कला तथा साहित्य को संरक्षण – बलबन को कला तथा साहित्य से भी प्रेम था। वह फारसी साहित्य का आश्रयदाता था और कवि अमीर खुसरो को उसकी विशेष कृपा प्राप्त थी। अनेक कवियों एवं साहित्यकारों को बलबन की कृपा प्राप्त थी। बलबन विद्या तथा शिक्षा का पोषक था। उसने मध्य एशिया के बहुत से राजकुमारों तथा विद्वानों को अपने यहां शरण दी।

योग्यतम व्यक्तियों की नियुक्ति – बलबन का विचार था कि अधिक योग्य एवं प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही सरकारी नौकरियों में नियुक्त किया जाये। इस नियुक्ति में वह वंश तथा जन्म का भी ध्यान देता था। वह निम्न वर्ग के लोगों को उत्तरदायी पद देने के पक्ष में न था।

<u>प्रश्न न0 4–</u> अलाउद्दीन खिलजी की आर्थिक नीति अर्थात बाजार नियंत्रण प्रणाली की विवेचना कीजिए।

<u>उत्तर–</u> खिलजी लोग अफगान अथवा पठान थे किन्तु विन्सेन्ट स्मिथ का यह विचार निराधार सिद्ध किया जा चुका है तथा अमान्य है। सर हेग के मत में खिलजी लोग मूलतः तुर्क थे, परन्तु बहुत दिनों से अफगानिस्तान में रहने लगे थे और उन्होंने अफगान रीति–रिवाजों को ग्रहण कर लिया। वे अफगानिस्तान में खल्ज नामक गांव में रहते थे, इसी से उसका नाम खिलजी पड़ा। तवकाते–अकबरी के लेखक ख्वाजा निजामुद्दीन के अनुसार खिलजी लोग चंगेज खां के सम्बन्धी कलीज खां के वंशज थे और उसी से बिगड़ते–बिगड़ते उस वंश का नाम खिलजी पड़ा।। जियाउद्दीन बर्नी ने अपने ग्रन्थ तारीख–ए–फिरोजशाही में खिलजियों को तुर्क जाति का नहीं माना है। डॉ० ईश्वरी प्रसाद के कथनानुसार खिलजी लोग विशुद्ध तुर्क न थे। आधुनिक शोध भी यह दर्शाता है कि खिलजी तुर्क थे।

अलाउद्दीन खिलजी (1296–1316 ई0)– अलाउद्दीन 1296 ई0 में अपने चाचा जलालुद्दीन खिलजी का वध करने और पुत्र रूकुनुद्दीन इब्राहीम को दिल्ली छोड़ने के लिये विवश करने के पश्चात् दिल्ली के सिहासन पर आसीन हुआ। इस अवसर पर उसने अबुल मुजफ्फर सुल्तान अलाउद्दीन–वा–दिन पुत्र था। उसका पिता बलबन की सेना में एक सैनिक पदाधिकारी था। मसूद की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात् अली की देखभाल का उत्तरदायित्व उसके चाचा जलालुद्दीन फिरोज खिलजी ने लिया। अलाउद्दीन की रुचि शिक्षा प्राप्त करने से अधिक सैनिक कार्यों में थी। अतः उसने घुड़सवारी और तलवारबाजी में कुशलत। प्राप्त कर ली। उसकी सैनिक प्रतिभा से जलालुउद्दीन अत्यधिक प्रभावित था। उसने अपनी पुत्री का विवाह अलाउद्दीन से कर दिया। सुल्तान जलालुद्दीन ने उसे 'अमीर एतजुक' के पद पर आसीन कर दिया।

अलाउद्दीन खिलजी ने जलालुद्दीन खिलजी के समय में दो मुख्य सैनिक अभियान किये। जिस समय फिरोज खिलजी राजपूताना में व्यस्त था, उसकी अनुमति से अलाउद्दीन ने मालवा प्रदेश में स्थित भिलसा पर 1293 ई० में आक्रमण कर दिया। यहां के मन्दिरों से अपार सम्पदा अलाउद्दीन को लूट में मिली। सुल्तान ने अलाउद्दीन को आरिज–ए–ममालिक नियुक्त किया तथा उसे अवध की सूबेदारी भी सौंपी गयी। इससे अलाउद्दीन का प्रभाव और अधिक बढ़ गया। अलाउद्दीन का दूसरा सैनिक अभियान 1295 ई० में देवगिरी (दौलताबाद) के राजा रामचन्द्र देव पर हुआ। उसका मुख्य उद्देश्य वहां से भी धन लूटने का था। देवगिरी एक सम्पन्न राज्य था और यादवों की राजधानी थी। अलाउद्दीन ने राजधानी पर आक्रमण कर दिया। रामचन्द्र की स्थिति इस समय दुर्बल थी, अतः उसने हर्जाना देकर सन्धि करना ही उचित समझा।

देवगिरी से प्राप्त धन ने अलाउद्दीन की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ कर दी। उसने अब फिरोज खिलजी का सिहासन पलटने का विचार बना लिया। लाउद्दीन ने बिना सुल्तान की अनुमति लिये ही गुप्त रूप से देवगिरी पर आक्रमण किया था। अलाउद्दीन देवगिरी से प्राप्त धन के साथ कड़ा चला गया, उसने सुल्तान से भेंट नहीं की। अतः सुल्तान स्वयं ही उससे मिलने मानिकपुर गया। वहीं छल से अलाउद्दीन ने सुल्तान फिरोज खिलजी की हत्या करवा दी। 19 जुलाई, 1296 ई० को अलाउद्दीन ने अपने आपको सुल्तान घोषित कर दिया। उसका पहला तथा अधिक आवश्यक कार्य था अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाना और अपने आस–पास परखी हुयी योग्यता तथा स्वामिभक्ति के लोगों को एकत्र करना। वह एक अत्यधिक उद्योगी तथा उत्साही सैनिक था और सामान्य व्यवहार बुद्धि तथा यथार्थवादिता उसमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान थीं।

अलाउद्दीन के प्रशासन सम्बन्धी सुधार– अलाउद्दीन खिलजी ने बलबन के राजस्व सम्बन्धी सिद्धान्त की पुनःस्थापना का संकल्प किया। बलबन की भांति वह भी राजा के प्रताप में विश्वास करता था और उसे पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि सुल्तान की अन्य सभी मनुष्यों से अधिक बुद्धि होती है इसलिये उसकी इच्छा ही कानून होनी चाहिये। वह इस सिद्धान्त को मानता था कि राजा का कोई सम्बन्धी नहीं होता और राज्य के सभी निवासी उसके सेवक या प्रजा होते हैं। वह अमीर व उलेमा को अपना सेवक बना कर रखना चाहता था जिससे अपनी इच्छानुसार वह उनको नियुक्त और पदच्युत कर सके।

सुल्तान – अलाउद्दीन खिलजी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से शासन का सर्वोच्च अधिकारी था। राज्य की समस्त शक्तियां उसी के हाथों में केन्द्रित थीं। वह एक निरंकुश शासक था। वह कार्यकारिणी, न्याय, राजत्व एवं सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी था। राज्य की समस्त नियुक्तियां उसी की इच्छानुसार होती थीं। उसके मन्त्री भी उसके परामर्शदाता न होकर उसके सेवक के समान थे, जिन्हें सुल्तान की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। सुल्तान का सबसे निकट सहयोगी वजीर था। वह दीवान–ए–वजारत (वित्त विभाग) का प्रधान होता था। राजस्व वसूली का निर्वहन करना उसका उत्तरदायित्व था। इसके अतिरिक्त वह अन्य मन्त्रियों एवं विभागों के कार्य का भी सम्पादन करता था। अलाउद्दीन खिलजी ने वजीर का पद अपने विश्वासपात्र सैनिक अधिकारियों को सौंपा। इस पद पर क्रमशः ख्वाजा खातिर, नुसरत खां एवं मलिक काफूर नियुक्त किये गये। अपने कार्यों के निमित्त वजीर सुल्तान के प्रति उत्तरदायी था। सैनिक कार्य, सेना की नियुक्ति, उनके वेतन की व्यवस्था, सेना के साजो–सामान एकत्र करना, सेना का निरीक्षण इत्यादि कार्य का उत्तरदायित्व दीवान–ए–आरिज का था। युद्ध मन्त्री आरिज–ए–ममालिक से सम्बोधित किया जाता था। उसकी सहायता नायब आरिज करते थे। दीवान–ए–इंशा विभाग का प्रधान दबीर–ए–खास था। यह विभाग राजकीय आदेशों और पत्रों का प्रारूप बनवाना, प्रान्तपतियों और स्थानीय अधिकारियों से पत्र–व्यवहार करना और सरकारी आदेशों को सुरक्षित रखना था। इस विभाग का प्रधान अपने कार्य सम्पादन में अनेक दबीरों की सहायता लेता था। दीवान–ए–रसालत विदेश विभाग था जो विदेशी देशों से सम्पर्क रखता था। यह विभाग सम्भवतः सुल्तान के प्रभुत्व में ाा क्योंकि बरनी इस पद पर कार्य करने वाले व्यक्ति के नाम का उल्लेख नहीं करता। सुल्तान अलाउद्दीन ने टोवान–ए–रियासत नये विभाग की भी स्थापना की। यह बाजार एवं व्यापारियों पर अंकुश रखता था। इन मन्त्रियों के अतिरिक्त अनेक कर्मचारी केन्द्रीय सरकार के थे जो विभिन्न विभागों के कार्यों को देखा करते थे।

सैनिक सुधार – एक सुसंगठित सेना अलाउद्दीन की विजय–आकांक्षाओं की पूर्ति एवं उसकी निरंकुशता को बनाये रखने के लिये आवश्यक थी। इस सन्दर्भ में डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने भी लिखा है कि षसैनिक शक्ति पर आश्रित शासन–तन्त्र में सेना का सुसंगठित होना नितान्त आवश्यक था। अलाउद्दीन ने जैसा विस्तृत राज्य स्थापित कर लिया था, वह स्थायी सेना के अभाव में टिक न सकता था। अतः उसने सेना की सुव्यवस्था की ओर ध्यान दिया और शाही सेना में निपुण एवं अनुभवी सेनानायकों को नियुक्त किया। उसने सेना का केन्द्रीयकरण किया और एक स्थायी सेना की व्यवस्था की। फरिश्ता के अनुसार इस सेना में 4,75,000 सुसज्जित और वर्दीधारी घुड़सवार थे। सेना की संख्या के आधार पर (दस हजार, हजार, सौ, दस इत्यादि) विभिन्न टुकड़ियों में बांटकर उन्हें खानों, मलिकों, अमीरों, सिपहसलारों इत्यादि के अन्तर्गत रखा गया। सैनिकों की कुशलता एवं उनके पास घोड़ों के आधार पर नकद वेतन दिया जाता था। एक घोड़ा रखने वाले सवार को श्यकस्पाश और दो घोड़े वाले को श्दोअस्पाश कहा जाता था। प्रत्येक सैनिक का वार्षिक वेतन 234 टंक नियत किया गया और दो घोड़ों वाले सैनिक को 78 टंक अधिक दिये जाने लगे। इस विषय में बरनी का वर्णन स्पष्ट नहीं है परन्तु उसका यही आशय प्रतीत होता है। निरीक्षण के समय छल–कपट के लिये घोड़ों को दागने की प्रथा चलायी गयी और सैनिकों को अपने घोड़ों तथा अस्त्र–शस्त्रों को सदैव व्यवहार के योग्य स्थिति में रखने के लिये सावधान किया गया। अच्छी नस्ल के घोड़े सेना में रखे गये तथा उनके दागने की व्यवस्था की गयी जिससे सैनिक लोग झूठे घोड़े दिखाकर सुल्तान को धोखा न दे सकें। सैनिकों को उच्च कोटि के निर्मित शस्त्र वितरित किये जाते थे। सेना के नियन्त्रण के हेतु सुल्तान ने श्आरीज–ए–ममालिकश नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की।

न्याय व्यवस्था – अलाउद्दीन स्वयं ही सर्वोच्च न्यायाधीश था और दरबार में बैठकर निष्पक्ष न्याय सम्पादित करता था। न्याय के विषय में वह बलबन के समान ही कठोर नीति का पक्षधर था। सुल्तान के बाद न्यायिक व्यवस्था का प्रमुख सद्र–ए–जहां काजी–उल–कुजात था, उसके नीचे नायब काजी या अदल और मुफ्ती होते थे। अमीर–ए–दाद प्रभावयुक्त, किन्तु दोषी व्यक्ति को दरबार में हाजिर करवाते थे। प्रान्तों में भी केन्द्र के अनुरूप ही न्यायिक व्यवस्था रखी गयीय स्थानीय साधारण विषयों (संघर्षों) में मुखिया और पंचायतें संघर्षों का समाधान करती थीं। सहज विषयों (मामलों) की सुनवाई एवं उनका निदान राजकुमार और सैनिक अधिकारी भी कर दिया करते थे। न्यायदान में विलम्ब नहीं होने दिया जाता था। न्यायाधीशों के आचरण पर भी दृष्टि रखी जाती थी। दण्ड विधान अत्यन्त कठोर था। मृत्युदण्ड, अंग–भंग, कारावास, कोड़े मारने की सजा तथा सम्पत्ति के जब्ती की व्यवस्था की गयी थी। कठोर दण्ड द्वारा राज्य में शान्ति व्यवस्था स्थापित की गयी थी।

डाक की व्यवस्था – सुल्तान ने डाक व्यवस्था की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। यह व्यवस्था सेना के लिये भी आवश्यक थी। अनेक डाक–चौकियों की स्थापना कर वहां घुड़सवारों तथा लिपिकों को नियुक्त किया गया। इनके द्वारा सुल्तान को दूरस्थ क्षेत्रों की घटनाओं से शीघ्र अवगत हो जाने की सुविधा हो गयी विद्रोहों तथा युद्ध के अवसरों पर डाक व्यवस्था से पर्याप्त सहायता सुलभ होती थी।

पुलिस तथा गुप्तचर व्यवस्था – सुल्तान अलाउद्दीन ने पुलिस तथा गुप्तचर विभाग की दिशा में भी ध्यान दिया। यह राज्य में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने और विद्रोही प्रवृत्तियों पर नजर रखने के लिये आवश्यक था। पुलिस विभाग का प्रधान कोतवाल था। दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर शान्ति की स्थापना का उत्तरदायित्व उसी पर था। कोतवाल अधिक अधिकार सम्पन्न था। दिल्ली कोतवाल सुल्तान का विश्वासपात्र व्यक्ति होता था। कोतवाल के नियन्त्रण में ही दीवान–ए–रियासत, शहर (दण्डाधिकारी) और मुहतसिब (गैर–इस्लामी बातों को रोकने वाला) कार्य करते थे। अलाउद्दीन ने कुशल गुप्तचर विभाग की भी व्यवस्था की थी। समूचे राज्य में कुशल एवं प्रशिक्षित गुप्तचरों का जाल बिछा हुआ था जो सभी घटनाओं की सूचना सुल्तान को प्रेषित करते थे। इस गुप्तचर विभाग का प्रमुख वारीद–ए–ममालिक था, जो वारीद (सन्देश वाहक) और मुनहियन या मुन्ही (सूचनायें एकत्र करने वाले) के एहयोग से इस विभाग का कार्य देखते थे।

अलाउद्दीन के राजस्व सुधार एवं आर्थिक सुधार–निःसन्देह बिना धन के अलाउद्दीन का कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता था, अतएव राजकोष को व्यवस्थित करना उसका पुनीत कर्तव्य हो गया। वह प्रथम सुल्तान था जिसे वित्तीय व राजस्व सुधारों की ओर ध्यान दिया है और वित्त एवं राजस्व के जटिल विषयों में रुचि ली। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी से पूर्व कुछ सीमा तक बलबन ने केवल कृषि विस्तार की ओर ध्यान दिया वरन् अक्तादारी प्रथा में सुधार लागू कर खालसा क्षेत्र में वृद्धि कर राजकोष में वृद्धि की। अलाउद्दीन ने भूमि व्यवस्था और कर प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। उसके पूर्व खालसा क्षेत्र दीवान–ए–वजारत के अन्तर्गत था। इस क्षेत्र से वजीर द्वारा नियुक्त अधिकारी आमिल, कारकुन इत्यादि राज्य की ओर से भू–राजस्व वसूल किया करते थे। इसके अतिरिक्त खालसा भूमि को छोडकर शेष भूमि प्रान्तीय शासकों के अन्तर्गत होती थी। यह प्रान्तीय शासक (मुफ्ती) भू–राजस्व एकत्र करने के लिये उत्तरदायी होते थे। संग्रह किये गये भू–राजस्व में से वे अपना खर्च सैनिकों पर किया जाने वाला खर्च तथा पदाधिकारियों को दिया जाने वाला वेतन निकाल कर शेष धन राजकोष में जमा करवा दिया करते थे। राजस्व एकत्र करने की पद्धति तथा उसका आंकलन करने का ढंग स्थानीय परम्पराओं पर आधारित था। भू–राजस्व की दर कुकूल उत्पादन का 1є3 भाग हुआ करता था जिसका भुगतान कृषक राज्य के अधिकारियों को कर दिया करता था। वह स्थानीय अधिकारी (चौधरी या मुकद्दम) भू–राजस्व नकद या अन्न के रूप में वसूल किया करता था। तत्पश्चात् वे अपना पारिश्रमिक निकाल कर शेष भू–राजस्व राजकोष में जमा कर दिया करते थे। अलाउद्दीन से पूर्व स्थानीय अधिकारी मनमानी ढंग से राज्य द्वारा निर्धारित भू–राजस्व की दर से कहीं अधिक धन वसूल करके कृषकों का उत्पीड़न करते रहते थे। सुल्तान ने कृषकों के अधिकारों की सुरक्षा करने तथा बिचौलयों द्वारा उनके उत्पीड़न को रोकने के लिये ठोस कदम उठाये। उसने राज्य के कर्मचारियों, अमीरों, विद्वानों, धार्मिक व्यक्तियों को इनाम वक्फ या मिल्क में दी गयी भूमि वापस ले ली।

अलाउद्दीन का दूसरा आक्रमण खूत, चौधरी और मुकदमों पर हुआ जो पैतृक आधार पर लगान अधिकारी थे और सभी हिन्दू थे। सुल्तान को उनसे शिकायत थी कि वे किसानों से अधिक धन वसूल करते थे और उनमें से राज्य को कम से कम देकर अधिक से अधिक अपने पास रखे लेते थे। वे खराज, जजिया, करी और चराई जैसे करों का देना भी टाल देते थे। इन कारणों से वे धनवान थे। अलाउद्दीन ने उनसे लगान वसूल करने का अधिकार छीन लिया और उनके विशेषाधिकार समाप्त कर दिये। इससे उनकी स्थिति दुर्बल हो गयी। बरनी के अनुसार उनकी स्थिति बहुत खराब हो गयी जिसके कारण उनकी पत्नियों को कार्य करने के लिये मुसलमानों के घरों में जाना पड़ता था। अपने इस सुधार से अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को निर्धन बना कर उनकी विद्रोह करने की शक्ति को समाप्त कर दिया। डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार अलाउद्दीन की यह नीति गांव के पैतृक अधिकारियों के प्रति अपनायी गयी थी। बड़े–बड़े हिन्दू राय, राना, रावत आदि राजनीतिक प्रभावपूर्ण व्यक्तियों के प्रति यह नीति नहीं अपनायी गयी थी। अब उनके स्थान पर आमिल (कर एकत्र करने वाले) एवं गुमाश्ता (प्रतिनिधि) लगान वसूलने लगेय लगान वसूली से सम्बद्ध अन्य पदाधिकारी थे मुहस्सिल (खराज वसूलने

वाला), ओहदा दाराने दफातिर (कार्यालय का अध्यक्ष) और नवी सिन्दा (लिपिक)। बड़ी संख्या में हिन्दू कर्मचारियों को भी लगान व्यवस्था से सम्बद्ध किया गया। दीवान–ए–मुस्तखराज के जिम्मे राजस्व व्यवस्था सौंप दी गयी। खिराज (भूमिकर) की मात्रा बढ़ाकर 50ः कर दी गयी।

अलाउद्दीन ने कुछ नये कर भी लगाये, जैसे– आवास–कर एवं चराई कर। राज्य को सिंचाई–कर, सीमा–शुल्क, करही, जजिया (हिन्दुओं पर लगाया जाने वाला कर), जकात (धार्मिक कर, सिर्फ मुसलमानों से वसूल किये जाने वाला), और खम्स (युद्ध में प्राप्त लूट का मालय अलाउद्दीन ने इसका 4⁄5 भाग राज्य कर के रूप में लिया) से भी आय होती थी। दुधारू पशुओं के लिये चारागाह निश्चित कर चराई कर वसूला गया। फरिश्ता के अनुसार चार बैल, दो गायें, दो भैंसें और बारह बकरियां और भेड़े कर से मुक्त थीं। करही सम्भवतः एक गौण कर था। स्त्रियों, बच्चों, विक्षिप्तों और अपंगों के अतिरिक्त सभी गैर–मुसलमानों को जजिया भुगतान करना पड़ता था। जकात मुसलमानों की सम्पत्ति के 40वें भाग के रूप में लिया जाता था। लगान–वसूली में कठोरता दिखाई जाती थी। अलाउद्दीन की राजस्व नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने का श्रेय उसके नायब वजीर शर्फ कायिनी को दिया जाता है। इतिहासकार बरनी ने लगान व्यवस्था की दुर्बलताओं की ओर भी संकेत किया है। किसानों से सीधे लगान वसूलने के कारण राजस्व विभाग के अधिकारियों और कर्मचारियों में भ्रष्टाचार का सहारा लेने वाले कर्मचारियों के विरुद्ध कठोर कदम उठाये गये। राजस्व कर्मचारियों से बकाये लगान की राशि को कठोरतापूर्वक वसूला गया। अलाउद्दीन खिलजी के राजस्व सम्बन्धी सुधार के दो स्पष्ट उद्देश्य थे। वह राज्य की आय में पर्याप्त वृद्धि करना चाहता था जिसके आधार पर एक विशाल और सुसंगठित सेना स्थापित की जा सके और खिलजी साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान किया जा सके। उसका दूसरा उद्देश्य मध्यस्थ भूमिपति वर्ग पर अंकुश लगाकर उसकी शक्ति को दुर्बल करना था जिससे बार–बार होने वाले उपद्रवों एवं विद्रोहों पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके।

राजस्व वृद्धि के लिये अलाउद्दीन ने तीन विशिष्ट उपचार किये। सर्वप्रथम उसने दोआब में प्रचलित भू–राजस्व की दर में वृद्धि की ष्अब कृषकों से 1⁄2 लगान (भूमिकर या खिराज) के रूप में लिया गया जिसका पूर्व में उल्लेख किया गया है। लगान व्यवस्था में भी सुधार लाया गया। भूमि की माप करवाकर उपज के आधार पर लगान निश्चित किया गया। इतिहासकार बरनी के लेखानुसार नाप और प्रति विस्वा के आधार पर लगान निश्चित किया गया। यह मापन की पद्धति या श्मसहतश की विस्तृत जानकारी नहीं देता है। लेकिन अनुमान लगाया है कि जमीन की माप के लिये एकीकृत प्रणाली अपनायी गयी। इस व्यवस्था में किसी को भी छूट नहीं दी गयी। इस प्रकार अलाउद्दीन दिल्ली का प्रथम सुल्तान था जिसने वास्तविक उपज के आधार पर लगान की राशि निश्चित की। इस व्यवस्था के द्वारा राज्य ने कृषकों से सीधा सम्बन्ध स्थापित किया तथा राज्य और कृषकों के मध्य बिचौलियों का प्रभाव समाप्त कर दिया।

बाजार तथा मूल्य–नियन्त्रण – अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बड़ी सेना रखी और उसे नकद वेतन दिया। उस सेना का व्यय बहुत अधिक था। बरनी के अनुसार ष्यदि उतनी बड़ी सेना को साधारण वेतन भी दिया जाता तो राज्य का खजाना पांच या छः वर्ष में ही समाप्त हो जाता। अतः अलाउद्दीन ने व्यय में कमी करने के लिये सैनिकों के वेतन में कमी की। परन्तु उसके सैनिक सुविधापूर्वक रह सकें, इसके लिये उसने वस्तुओं की कीमत निश्चित की और उनकी दरें कम कर दी।ष मूल्य नियन्त्रण का उद्देश्य जनता को भी राहत पहुंचाना था। सुल्तान ने दिल्ली में बाजार सम्बन्धी नियमों को क्रियान्वित कराने हेतु दीवाने–रियासत की स्थापना की जहां कि सभी व्यापारियों तथा दूकानदारों को अपना नाम पंजीकृत करवाना पड़ता था और प्रशासन के साथ समझौता करना पड़ता था कि वे उसके द्वारा निर्धारित मूल्यों पर ही अपना माल बेचेंगे और दिल्ली के बाहर से माल लाकर बाजार को निरन्तर आपूर्ति करेंगे। बाजार की देखभाल का कार्य दीवाने–रियासत को सौंपा गया। यह विभाग सुल्तान के विश्वासपात्र मलिक कबूल उलुगरबानी एक योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति के पास था। उसने सभी वस्तुओं के लिये अलग–अलग बाजारों की व्यवस्था की। उसके अधीन शहना (बाजार का अधीक्षक) और बरीद (गुप्तचर अधिकारी) की नियुक्ति की गयी। सिर्फ दीवाने रियासत में पंजीकृत व्यापारी ही व्यापार कर सकते थे। जिन व्यापारियों के पास अपनी पर्याप्त पूंजी नहीं होती थी उन्हें राज्य की ओर से अग्रिम धन दिया जाता था। उन्हें निश्चित दर पर सामान बेचना पड़ता था और नियम से विचलित होने की किसी को आज्ञा नहीं थी।

अलाउद्दीन ने विभिन्न वस्तुओं के लिये विभिन्न प्रकार के बाजार संगठित किये और उनके लिये आवश्यक अधिनियम बनाये। ये बाजार थे, मंडी (गल्ला बाजार), सराब–ए–अदल, घोड़ों, दासों और मवेशियों का बाजार तथा अन्य वस्तुओं के लिये सामान्य बाजार। अलाउद्दीन द्वारा स्थापित बाजारों में सबसे मुख्य था–मंडी अथवा गल्ला बाजार। इन बाजारों में राज्यों द्वारा स्थापित खाद्यान्न (गल्ला) गोदामों से खाद्यान्न पहुंचाये जाते थे। नगर के प्रत्येक मुहल्ले में एक केन्द्रीय गल्ला मंडी स्थापित की गयी जहां अनाज की खरीद–बिक्री होती थी।

सुल्तान ने खाद्यान्नों के मूल्य निर्धारित करके मूल्यों की अस्थिरता ही नहीं समाप्त की वरन् दिखावटी अभाव समाप्त करने हेतु दो कार्य किये – प्रथम दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेशों से अनाज के रूप में भू–राजस्व लेना तथा उस अनाज को सरकारी गोदामों में जमा करवाना प्रारम्भ किया। इससे खाद्यान्न के मूल्य स्थिर रहे और विषम परिस्थितियों में भी खाद्यान्नों का अभाव सम्मुख न आया। इसके अतिरिक्त पंजीकृत व्यापारियों,

दूकानदारों, फेरीवालों को विवश किया गया कि वे निरन्तर दिल्ली को खाद्यान्न की आपूर्ति करते रहें। दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेशों में भू–राजस्व वसूल करने वाले राज्य के कर्मचारियों को आदेश दिये गये कि वे कठोरतापूर्णन कृषकों से खाद्यान्न वसूल करें और उसे दिल्ली भेजते रहे। यही नहीं दुर्भिक्ष या संकटकाल से निपटने के लिये सुल्तान अलाउद्दीन ने दिल्ली में राशनिंग प्रणाली भी लागू की, उस समय प्रत्येक परिवार को आधा मन प्रतिदिन खाद्यान्न देने की व्यवस्था की गयी। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने खाद्यान्नों के बाजार से सम्बन्धित जो भी नियम बनाये गये उन्हें कठोरतापूर्वक लागू किया गया। जो भी दूकानदार निर्धारित मूल्य से अधिक धन लिया करता था उसे कठोर से कठोर दण्ड दिये जाते थे।

खाद्यान्न (गल्ला) बाजार के पश्चात् अन्य महत्वपूर्ण बाजारों में से कपडों का बाजार, पशु–पक्षियों का बाजार, दास–दासियों का बाजार, घोडों का बाजार इत्यादि थे। सुल्तान जलाउद्दीन खिलजी ने मलिक याकूब को कपड़ा के बाजार का शाहना नियुक्त किया। कपड़ा बाजार सराय अदल नामक स्थान में स्थित था। सुल्तान अलाउद्दीन ने रेशमी तथा सूती वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य सभी किस्म के वस्त्रों के मूल्य निश्चित किये। सूती वस्त्रों की तुलना में रेशमी वस्त्रों के मूल्य अधिक थे। सुल्तान मुल्तानी व्यापारियों को अग्रिम धर देकर उनसे दिल्ली के बाहर से कपड़ा मंगवाता थाय जो रेशमी वस्त्र दिल्ली में सस्ते मूल्यों पर मिलते थे उनके सम्बन्ध में नियम बनाया गया कि उन्हें दिल्ली के बाहर ले जाकर ऊंचे मूल्यों पर न बेचा जाये।

विभिन्न किस्मों के वस्त्रों के मूल्य निर्धारित करते समय सुल्तान अलाउद्दीन ने वस्त्र उत्पादन की लागत तथा व्यापारी के लाभांश को ध्यान में रखा था। कपड़े वे. व्यापारियों को भी दीवाने–रियासत में अपना नाम पंजीकृत करवाना पड़ता था और प्रशासन को आश्वासन देना पड़ता था कि वे नियमित रूप से कपड़ों की आपूर्ति सराय अदल को करते रहेंगे। कोई भी र्व्यक्ति सुल्तान के बिना पूर्व अनुमति लिये हुये तस्वीह, तब्रेजी, कियरबाब, शश्तरी, हरीरी, चीनी मीरम और देवगिरि रेशम, जरी के काम के कपड़े इत्यादि नहीं खरीद सकता था। सुल्तान ने दीवाने–रियासत को कालान्तर में अनुमति–पत्र देने का अधिकार प्रदान कर दिया था। इस प्रकार से प्रशासन ने कपड़ों की चोरबाजारी पर प्रतिबन्ध लगा दिये।

इसी प्रकार से सुल्तान अलाउद्दीन ने घोड़ों, पशुओं और दासों के बाजारों की व्यवस्था करते समय उनके मूल्य निश्चित कर दिये तथा बाजारों के लिये नियम बनाये। इनके अनुसार वस्तु के किस्म के अनुसार उसका मूल्य निर्धारित किया गया, व्यापारियों और पूंजीपतियों का बहिष्कार किया गया, बिचौलियों पर कड़ी निगरानी रखी गयी तथा सुल्तान सभी अधिनियमों के पालन पर स्वयं नियन्त्रण रखता था। सेना में खरीदे जाने वाले घोड़ों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया। इसके लिये घोड़ों के दलालों की सहायता ली गयी। जिन घोड़ो का मूल्य 100–120 टंके था उसे प्रथम श्रेणी में, 80–90 टंके वाले द्वितीय श्रेणी और 60–70 टंके वाले घोड़ों को तृतीय श्रेणी में रखा गया। सेना के लिये अनुपयुक्त खच्चर या टट्ट का मूल्य 10 से 25 टंका के मध्य निर्धारित किया गया। घोड़ों के मूल्यों को निर्धारित करने के पश्चात् सुल्तान अलाउद्दीन ने दलालों व बिचौलियों जिनके कारण मूल्यों में वृद्धि हो जाया करती थी, को कठोर दण्ड दिये। इस वर्ग को शक्तिहीन बना देने के कारण घोड़ों के मूल्य बराबर स्थिर रहे और मूल्यों में वृद्धि न होने पायी।

सुल्तान अलाउद्दीन ने दासों और पशुओं की बिक्री के लिये भी पृथक् पृथक् बाजार स्थापित किये और उनके मूल्य भी निश्चित किये। घरेलू काम करने वाले कुशल दासी का मूल्य 5 से 12 टंका, सुन्दर दासी का मूल्य 20 से 40 टंका तथा अत्यन्त गुणवती व सुन्दर दासी का मूल्य 1,000 से 2,000 टंका निर्धारित किया गया। इसी प्रकार से दासों का मूल्य 20 से 30 टंका निर्धारित किया गया। साधारण दास 7 से 8 टंका में मिल सकता था। सुल्तान अलाउद्दीन ने दासों को उनकी सुन्दरता, गुणों, योग्यता के आधार पर वर्गीकृत किया। उत्तम नस्ल के भारवाहक मवेशी की कीमत 4–5 टंके, दुधारू भैंस 10–12 टंका, दुधारू गाय 3–4 टंका, मोटी बकरी या भेंड़ 10–14 जीतल निर्धारित किया गया। इन बाजारों में भी गुप्तचर रखे गये जो राजकीय अधिनियमों का कड़ाई से पालन करवाते थे। सुल्तान अलाउद्दीन ने मिष्ठान्न, सब्जियों, रोटियों, कंधियों, चप्पलों, जूतों, मोजों, लालों, कटोरों, बर्तनों, पान, सुपाड़ी इत्यादि सभी आवश्यक वस्तुओं की कीमतें भी निर्धारित कर दी थीं ताकि दिल्ली के निवासियों को असुविधा का सामना न करना पड़ सके।

अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था उसके समय में उसके लक्ष्य की पूर्ति में सफल रही। अलाउद्दीन चाहता था कि सभी वस्तुयें निश्चित मूल्य पर बेची जायें और वह इसमें सफल हुआ। बरनी ने लिखा है कि ष्जब तक अलाउद्दीन ने शासन किया तब तक वस्तुओं के मूल्य न बढ़े और न घटे बल्कि सर्वदा निश्चित रहे।ष वस्तुओं के मूल्य को निश्चित रखने में अलाउद्दीन का उद्देश्य था कि वह एक बड़ी सेना रख सके। वह इसमें भी सफल हुआ। उसकी सेना बड़ी ही नहीं बल्कि प्रत्येक युद्ध में सफल भी रही। परन्तु अलाउद्दीन को उसकी सफलता का उचित श्रेय प्रदान करने के पश्चात् यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था न तो जनसाधारण के हित में थी, न राज्य के अन्तिम हितों की पूर्ति में सहायक और न स्थायी। इस व्यवस्था से कृषकों को कोई लाभ न था। जिन कृषकों को अपनी पैदावार का आधा भाग लगान के रूप में देना पड़ता हो, कुछ अन्य कर भी देने पड़ते हों और बाकी को सरकारी व्यापारियों को निश्चित मूल्य पर बेचना पड़ता हो, वे अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं को अपने स्थानीय बाजार के मूल्यों पर खरीदकर सुखी और सम्पन्न कैसे

रह सकते थे? दिल्ली के नागरिक तो अलाउद्दीन के निर्धारित मूल्यों से लाभप्राप्त कर सकते थे परन्तु बाकी नागरिकों को यह सुविधा कैसे मिल सकती थी? व्यापारिक वर्ग इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता था क्योंकि उनका लाभ राज्य की इच्छा पर निर्भर करता था। 1316 ई० में वृद्ध सुल्तान अलाउद्दीन की मृत्यु के साथ ही खिलजियों की राजनीतिक श्रेष्ठता समाप्त हो गयी और तुगलक वंश का उदय हुआ। खिलजी वंश का अन्तिम सुल्तान कुतुबद्दीन ऐबक मुबारक खिलजी था जिसने 1316–1320 ई० तक शासन किया। 4 अप्रैल, 1320 ई० को खुसरो ने उसकी हत्या करवा दी। मुबारकशाह के साथ ही खिलजियों का शासन समाप्त हो गया।

प्रश्न न0 5– तैमूर लंग के आक्रमण की व्याख्या कीजिए।

उत्तर– तैमूर लंग का भारत पर आक्रमण–तैमूर लंग (Taimur Lung), जिसे तैमूर या तिमूर भी कहा जाता है, मध्य एशिया का एक क्रूर और महत्वाकांक्षी आक्रमणकारी था। उसने 14वीं शताब्दी के अंत में भारत पर हमला किया था। उसका आक्रमण भारत के इतिहास में एक भयानक और विनाशकारी घटना के रूप में जाना जाता है। यह आक्रमण 1398 ई. में हुआ था, जब दिल्ली की सत्ता कमजोर हो चुकी थी।

1. तैमूर लंग का परिचय–तैमूर का जन्म 1336 ई. में समरकंद के पास हुआ था। वह एक तुर्की–मंगोल शासक था, जिसने खुद को चंगेज खान का उत्तराधिकारी माना। उसका साम्राज्य पश्चिम एशिया से लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था। उसने कई क्षेत्रों में आतंक और लूटपाट के माध्यम से अपनी सत्ता स्थापित की थी।

2. भारत पर आक्रमण के कारण–तैमूर के भारत पर आक्रमण के कई कारण थे–

धार्मिक कारण: तैमूर एक कट्टर सुन्नी मुस्लिम था। वह भारत के ''काफिरों'' (गैर–मुसलमानों) और भारत में शासन कर रहे ''गैर–सुन्नी'' मुसलमानों को समाप्त करना चाहता था।

लूट की लालसा: भारत की संपन्नता और विशेष रूप से दिल्ली की धन–संपदा ने तैमूर को आकर्षित किया।

राजनीतिक अस्थिरता: उस समय भारत में दिल्ली सल्तनत कमजोर हो चुकी थी और शासक नासिरुद्दीन मोहम्मद तुगलक प्रभावहीन था। यह स्थिति तैमूर के लिए अनुकूल थी।

3. तैमूर का आक्रमण (1398 ई.)–तैमूर ने 1398 ई. में भारत पर आक्रमण किया। वह सिंधु नदी पार कर भारत में घुसा। उसके मार्ग में पड़ने वाले नगरों को उसने लूटा और नष्ट कर दिया। सबसे अधिक विनाश दिल्ली में हुआ।

प्रमुख घटनाएँ–

दिल्ली की लड़ाई– तैमूर ने दिल्ली में तुगलक सुल्तान मोहम्मद शाह को पराजित किया।

नरसंहार और लूट: दिल्ली में तैमूर ने भयंकर नरसंहार करवाया। हजारों निर्दोष लोगों की हत्या की गई और शहर को लूट कर बर्बाद कर दिया गया।

धार्मिक कट्टरता: तैमूर ने विशेष रूप से हिन्दुओं और शियाओं को निशाना बनाया। उसने कई मंदिरों और धार्मिक स्थलों को ध्वस्त कर दिया।

4. तैमूर की वापसी–दिल्ली को लूटने और विनाश करने के बाद तैमूर अधिक समय तक भारत में नहीं रुका। वह मार्च 1399 ई. में अपने विशाल धन–संपत्ति के साथ वापस समरकंद लौट गया। उसने भारत में स्थायी शासन स्थापित करने का प्रयास नहीं किया।

5. तैमूर के आक्रमण का प्रभाव–दिल्ली की विनाशलीलारू दिल्ली में जनजीवन ठप हो गया, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से शहर तबाह हो गया।

सल्तनत की कमजोरी– तुगलक वंश पहले से ही कमजोर था, तैमूर के आक्रमण ने इसे और भी कमजोर कर दिया।

राजनीतिक अस्थिरता– इस आक्रमण के बाद भारत में सत्ता के लिए संघर्ष और अधिक बढ़ गया, जो अंततः लोदी वंश की स्थापना की ओर ले गया।

मुगल साम्राज्य की नींव– तैमूर के वंशज बाबर ने बाद में भारत पर आक्रमण किया और 1526 ई. में मुगल साम्राज्य की नींव रखी।

निष्कर्ष

तैमूर लंग का भारत पर आक्रमण एक विनाशकारी घटना थी, जिसने दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों को पूरी तरह तहस–नहस कर दिया। यह आक्रमण न केवल एक आर्थिक और मानवीय त्रासदी थी, बल्कि इससे भारत की राजनीतिक संरचना भी गंभीर रूप से प्रभावित हुई। हालांकि तैमूर ने भारत में स्थायी शासन नहीं स्थापित किया, लेकिन उसके आक्रमण ने दिल्ली सल्तनत के पतन को और तेज कर दिया तथा भारत के भविष्य में मुगल साम्राज्य की भूमिका के लिए आधार तैयार किया।

प्रश्न न0 6– कुशल भूमि सुधारक के रूप में शेरशाह के उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।

उत्तर– शेरशाह सूर (1486–1540 ई०)–शेरशाह के बचपन का नाम फरीद था। वह बिहार प्रान्त में सहसाराम के जागीरदार हसन का पुत्र था। फरीद का जन्म 1436 ई० में हिसार फिरोजा नामक नगर में हुआ था। यह 1494 ई० में जौनपुर में जमाल कॉ के यहाँ पड़ने चला गया। जौनपुर उन दिनों इस इस्लाम जगत का शिक्षा एवं संस्कृति का केन्द्र था। उसे भारत का शिराज कहा जाता था। फरीद ने वहाँ अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण

अरी फारसी, इतिहास एवं साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। सहसाराम वापस आने पर हसन ने फरीद को सहसाराम की जागीर की व्यवका कारभार सौंप दिया। उसने बड़ी कुशलता से जागीर का प्रवन्ध किया। उसका सिद्धान्तथा शासकको प्रजा के हित का ध्यान रखना चाहिये। सरकारी कर्मचारियों तथा जमीदारों पर कठोर नियंत्रण रखना चाहिये। उसके कथनानुसार न्याय ही समस्त शासन का सोत एवं उन्नति का साधन है। जागीरदार के रूप में फरीद ने करीब 21 वर्ष तक अपना समय बिहार में ही व्यतीत किया। इस समय का सदुपयोग उसने शासन–प्रबन्को व्यवस्थित करने में किया। फलतः उसे पर्याप्तप्राणसनिक शिक्षा एवं अनुभव प्राप्त हुये। इसी अवधि के दौरान उसने कृषकों, जमींदारों और मुकदमों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया किया कृषि एवं भू–राजस्व व्यवस्था की तरफ ध्यान दिया, सेना को उचित ढंग से संगठित किया तथा स्थानीय अधिकारियों के प्रति निश्चित नीति निर्धारित की। जमीदार के रूप में फरीद का सबसे अधिक कार्यककेतों की सुरक्षा करना। जमीन की नाप करवाकर उपज के अनुसार लगान की शशि निश्चित की गई। किसानों को पट्टा देने एवं उनसे कबूलियत लिखवाने की की गई। निश्चित समय पर (वर्ष में दो बार लेने का प्रवन्ध किया गया। राजस्व पदाधिकारियों सैनिकों एवं जमीदारों को स्पष्ट आदेश दिये गये कि वे किसानों को परेशान नहीं करें। फलतः किसान कृषि की अधिक ध्यान देने लगे जिससे आर्थिक व्यवस्था में वांछित सुधार हुआ।

शेर खाँ ने 26 जून 1539 हैं० को चौसा का युद्ध में हुमायूँ को परास्त कर अपनी शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि कर ली। उसने अब शेरशाह की पदवी धारण की अपना नाम था कि कित करवाया। इसके बाद 17 मई 1540 ई० को शेरशाह ने हुमार्य को कन्नौज के युद्ध में पुनः पराजित किया। 10 जून 1540 ई० को उसने विधिन्याभिषेक सम्मान करवाया और स्वशासक बन गया।

भूमि एवं राजस्व व्यवस्था – प्रारम्भिक मुसलमान शासकों के समय में भूमि–व्यवस्था असन्तोष जनक थी। उन्हें प्रजा के हित का कोई ध्यान न था। वह अनुमान लगाकर ही लगान (मालगुजारी) निश्चित करते थे। लगान भी इतनी अधिक ली जाती थी कि कृषकों को सरलतापूर्वक जीवन यापन करना भी दुष्कर था। शेरशाह ने इस ओर अपना ध्यान आकर्षित किया और इन त्रुटियों को यथा सम्भव दूर करने का प्रयास किया। शेरशाह द्वारा की गई लगान सम्बन्धी व्यवस्था सल्तनत काल की व्यवस्था से कहीं अच्छी थी और यही उसकी इतनी ख्याति का कारण है। बिहार में अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध करते हुये लगान व्यवस्था का उसे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ था।

शेरशाह ने भू–राजस्व व्यवस्था एवं कृषि में सुधार के लिये अनेक उपचार किये। उसने भू–राजस्व व्यवस्था को लागू करते समय यह ध्यान में रखा कि प्रस्तावित व्यवस्था से न तो राज्य को ही हानि हो और न कृषकों का अनावश्यक शोषण हो, शेरशाह का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था को क्रियान्वित करना था जिससे राज्य और कृषक दोनों ही लाभान्वित हो सकें। इस उद्देश्य से उसने भूमि व्यवस्था में अनेक सुधार किये। सर्वप्रथम शेरशाह ने अहमद खाँ को भूमि का सर्वेक्षण कराने का आदेश दिया। लगान की राशि निश्चित करने के उद्देश्य से राज्य की समस्त भूमि की माप (पैमाइश) करवाई। डॉ० कालिका रंजन कानूनगो के अनुसार उसने श्गज सिकंदरीश के द्वारा साम्राज्य के अन्तर्गत समस्त भूमि का माप बीघों में करवाया, परन्तु मुल्तान, मालवा, राजस्थान एवं पश्चिमी पंजाब के अशान्त क्षेत्र भूमि मापन की परिधि से बाहर रहे। प्रत्येक बीघा का क्षेत्रफल 3600 वर्ग गज था। सभी कृषि योग्य भूमि की उपज के आधार पर क्रमशः उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणी में विभक्त किया गया। तीनों प्रकार की भूमि में प्रति बीघा उपज के आधार पर उस भूमि की औसत पैदावार निश्चित की गई। उपज का एक तिहाई भाग (1/3) लगान निश्चित किया गया। दरों की एक नई प्रणाली राय (फसल दरें) निकाली गई जिसके अनुसार अलग–अलग किस्मों पर राज्य के भाग की दर अलग–अलग निश्चित की गई। विभिन्न क्षेत्रों के बाजार भाव के अनुसार दर की कीमत निश्चित की गई। इस भाँति, शेरशाह ने बीघेवार, जिन्सवार भूमि कर निश्चित की। डॉ० आर० पी० त्रिपाठी इस प्रणाली को शेरशाह का विशेष योगदान मानते हैं तथा सम्भवतः वह प्रथम शासक था जिसने इसे पहली बार लागू किया। कृषकों को लगान नकद अथवा अनाज के रूप में देने की छूट प्रदान की गई तथापि सरकार अपनी सुविधा और लाभ के लिये नकद लगान ही लेना चाहती थी। प्रोफेसर नुरुल हसन के लेखानुसार ष्फरीद की राजस्व व्यवस्था का वास्तविक महत्व यह है कि उसने भू–राजस्व का निर्धारण वास्तविक उपज अथवा प्रति फसल के भू–क्षेत्र के आधार निश्चित करने का आदेश दिया। इस प्रकार उसके भू–राजस्व निर्धारण का आधार उत्पादन था जिसका भुकतान नकद रूप में होता था। कृषकों को वर्ष में दो बार लगान का भुगतान करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त कृषकों को जरीबाना (भूमि की नाप के निमित्त) और महासिलाना (लगान कर्मचारियों के वेतन के रूप में) भी देना होता था। इसकी दर 2–1/2 प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक निश्चित की गई थी। इसके साथ ही कृषकों को भू–राजस्व का ढ़ाई–प्रतिशत अतिरिक्त अनाज के रूप में देना पड़ता था जिसका उपयोग आकस्मिक विपदाओं के समय सहायतार्थ किया जाता था। जकात, खम्स, विदेशी माल पर चुंगी आदि राज्य की आय के अन्य साधन थे।

शेरशाह ने भूमि पैमाइश एवं लगान की जो व्यवस्था निश्चित की वह सम्पूर्ण साम्राज्य में सामान्य रूप से लागू नहीं की जा सकी। साम्राज्य के अधिकांश भागों में यह व्यवस्था स्थापित की गई परन्तु मुल्तान, मालवा और राजपूताना में व्यावहारिक कठिनाईयों के कारण पुरानी लगान व्यवस्था को ही बना रहने दिया गया। वस्तुतः

साम्राज्य के विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न प्रकार से लगान की राशि निश्चित की जाती थी। शेरशाह के समय में लगान निश्चित करने की तीन प्रमुख प्रणालियाँ थीं– गल्ला–बक्शी (बटाई), नश्क, मुकतई या कनकूत तथा नकद, जब्ती अथवा जमाई। गल्ला–बक्शी अथवा बटाई तीन प्रकार की थी–खेत–बटाई, लंक–बटाई एवं रास–बटाई। खेत बटाई व्यवस्था के अधीन खेत बोने के बाद अथवा खड़ी फसल का ही विभाजन कृषक और सरकार में हो जाता था। लंक–बटाई में अनाज को डंठलों से अलग किये बिना ही बाँट लिया जाता था। रास–बटाई में अनाज को भूसे से अलग कर तब विभाजन किया जाता था। नश्क अथवा कनकूत व्यवस्था के अन्तर्गत खेत में खड़ी फसल को ही देखकर उपज का अनुमान लगा लिया जाता था तथा उसी के आधार पर लगान की राशि निश्चित की जाती थी। यह व्यवस्था न तो सरकार के लिये ही लाभप्रद थी और न ही कृषक के लिये। अनुमान पर पैदावार नहीं होने पर दोनों को घाटा हो सकता था। राज्य और कृषक के लिये सब से सुविधाजनक व्यवस्था नकदी, जमाई अथवा जब्ती थी। इस व्यवस्था के अनुसार, कृषक और सरकार के मध्य तीन वर्ष या उससे अधिक अवधि के लिये प्रति बीघा प्रतिवर्ष की दर से लगान की राशि निश्चित कर दी जाती थी। कृषक राज्य को निश्चित राशि ही देते थे, अतिरिक्त लाभ वे अपने पास रख लेते थे, परन्तु फसल पूरी नहीं होने पर कृषकों को इस व्यवस्था से क्षति उठानी पड़ती थी।

राज्य की ओर से प्रत्येक कृषक को एक 'पट्टा' या कबूलियत (इकरारनामा) दिया जाता था। कृषक उसे स्वीकार करता था और इस तरह कबूलियत पर हस्ताक्षर करता था। पट्टा एवं कबूलियत एक प्रकार से राज्य एवं कृषक के मध्य एक समझौता था। कृषक तथा सम्राट् से अब प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

शेरशाह ने कृषकों के सुरक्षा के भी उपाय किये। लगान वसूल करने वाले अधिकारियों (मुकद्दम, आमिल) को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे कृषकों को परेशान न करें। निश्चित राशि समय पर देने पर कृषकों को तंग नही किया जाता था। शेरशाह का स्पष्ट आदेश था कि राजस्व कर्मचारी लगान निश्चित करते समय तो उदारता प्रदर्शित करें, परन्तु उनकी वसूली कठोरतापूर्वक सम्पन्न करें। सैनिकों को भी आदेश था कि वे मार्ग के पड़ने वाले फसलों को क्षति न पहुँचाएँ। यदि किसी कृषक की फसल सैनिक अभियान से क्षति पहुँचती है तो पड़ने वाले मुआवजा दिया जाये। इसके अतिरिक्त दुर्भिक्ष अथवा अन्य प्राकृतिक प्रकोपों से फसल के नष्ट होने पर राज्य की ओर से सहायता की व्यवस्था की गई। शेरशाह की भू–राजस्व व्यवस्था की अनेक इतिहासकारों अलोचना की है। शेरशाह की व्यवस्था में अनेक त्रुटियाँ थीं। इस व्यवस्था का सबसे दोषपूर्ण पहलू यह था कि उत्तम कोटि की भूमि के स्वामी को सबसे कम और निम्न श्रेणी की भूमि के स्वामी को सबसे अधिक लगान भुगतान करना पड़ता था। इससे राज्य और कृषक दोनों को क्षति होती थी। लगान के अतिरिक्त कृषकों पर अन्य करों का भार भी डाल दिया गया था, जिसका कोई औचित्य नहीं था। सम्पूर्ण साम्राज्य में लगान–व्यवस्था की एकरूपता और लगान की राशि निश्चित नहीं होने से राज्य और कृषक दोनों को परेशानी होती थी।

मुद्रा–व्यवस्था – राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से शेरशाह ने प्रचलित मुद्रा–प्रणाली में भी आवश्यक परिवर्तन किया। उसने सुल्तान बनते ही प्राचीन सिक्कों का प्रचलन बन्द करवा दिया और विभिन्न धातुओं के निश्चित अनुपात के नये सिक्के ढलवाये। उसने शुद्ध चाँदी के रुपये और ताँबे के दाम ढलवाए। चाँदी का रुपया 180 ग्रेन का होता था। इसमें शुद्ध चाँदी की मात्रा 173 ग्रेन रखी गई। इस पर प्रायः अरबी अक्षरों के अतिरिक्त नागरी अक्षरों में भी सुल्तान का नाम उत्कीर्ण रहता था। उसने कुछ सिक्कों पर सुल्तान के अतिरिक्त इस्लाम के प्रथम चार खलीफाओं का नाम भी उत्कीर्ण था।

जनहित के कार्य – शेरशाह ने अनेक जनहित के कार्य संपादित किये। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम सड़कों एवं सरायों का निर्माण करवाया गया। उसके द्वारा निर्मित सड़कों में चार विशेष उल्लेखनीय हैं। पहली सड़क लाहौर से लेकर सोनार गाँव (बंगाल) तक जाती थी, जो सबसे लम्बी सड़क थी तथा श्सड़के आजमश कहलाती थी। दूसरी सड़क आगरा से बुरहानपुर तक जाती थी। तीसरी सड़क आगरा से जोधपुर एवं चित्तौड़ तक तथा चौथी सड़क मुल्तान से लाहौर तक जाती थी। इन सड़कों के किनारे प्रत्येक चार मील की दूरी पर यात्रियों को ठहरने के लिये उसने सराय की व्यवस्था करवाई जिनकी संख्या कुल एक हजार सात सौ बताई जाती है। प्रत्येक सराय में हिन्दुओं और मुसलमानों को रुकने (विश्राम) करने के लिये मकान बनवाये। प्रत्येक सराय में पानी से भरे घड़े रखवाये। सुल्तान का आदेश था कि इन सरायों में शासन की ओर से भोजन दिया जाय। उसने सराय के निकट एक ग्राम बसाया तथा प्रत्येक सराय में कुयें सहित एक मस्जिद का निर्माण करवाया। आवागमन के साधनों में सुधार एवं सरायों की स्थापना से व्यापारियों को अनेक सुविधाएँ हुई।

शेरशाह ने प्रजा के कल्याण के लिये अनेक मकतब एवं मदरसों की भी स्थापना की। हिन्दुओं को अपनी शैक्षणिक व्यवस्था का प्रबन्ध करने का अधिकार दिया गया। उनके द्वारा स्थापित शैक्षणिक संस्थानों को भी राजकीय सहायता प्रदान की गई। राज्य की ओर से अरबी और फारसी की शिक्षा की व्यवस्था की गई। प्रत्येक मस्जिद में मकतब खोले गये। मदरसों की स्थापना की गई। गरीब विद्यार्थियों को प्रोत्साहन देने के लिये छात्रवृत्ति प्रदान की गई। शेरशाह द्वारा साहित्यकारों एवं विद्वान को प्रश्रय, सम्मान एवं आर्थिक सहायता प्रदान की गई। राज्य के असहाय एवं निर्धन व्यक्तियों को सहायता देने के उद्देश्य से शेरशाह ने एक दान–विभाग को

स्थापना की। निर्धनों के अतिरिक्त वैसे व्यक्तियों एवं संस्थाओं को भी इस विभाग से सहायता प्रदान की जाती थी, जिन्हें राजकीय सहायता की आवश्यकता थी।

धार्मिक नीति – शेरशाह अपने व्यक्तिगत जीवन में कट्टर सुन्नी मुसलमान था। वास्तव में वह इस देश में इस्लाम की शान व महत्ता का प्रबल समर्थक था। शेरशाह ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया। डॉ० कानूनगो लिखते हैं कि ष्शेरशाह ने हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया। इसका दृ ष्टिकोण हिन्दुओं को घृणा उत्पन्न करने वाली पीड़ा पहुँचाने के बजाय सम्मानपूर्ण सुरक्षा प्रदान करने की थी।ष उसने हिन्दुओं को योग्यतानुसार पद प्रदान किये और हिन्दुओं का एक अच्छा तोपखाना स्थापित किया। इस भाँति उसने सेना का राष्ट्रीयकरण भी किया। परन्तु अनेक विद्वानों का विचार है कि शेरशाह एक कट्टर सुन्नी मुसलमान होने की वजह से उसने हिन्दुओं से अनुदार व्यवहार किया। उन्हें जजिया देना पड़ता था तथा शेरशाह ने अनेक हिन्दू मन्दिरों का विध्वंश करा दिया। राजपूत राज्यों पर उसने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर ही आक्रमण किया। अतः वह एक धर्मान्ध शासक था। शेरशाह के विषय में ऐसी धारणा श्रेयस्कर नहीं प्रतीत होती है। यह सत्य है कि अन्य मध्यकालीन मुसलमान शासकों की भाँति शेरशाह भी इस्लाम धर्म के नियमों का अपने व्यक्तिगत जीवन में सुदृढ़ता से पालन करता था, मुसलमानों की राज्य में विशेष स्थिति भी थी, परन्तु शेरशाह ने व्यवहार में सभी के साथ समानता की नीति का अनुसरण किया।

प्रश्न न0 7– अकबर की राजपूत नीति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उत्तर– राजपूत नीति – अकबर साम्राज्यवादी के साथ–साथ कूटनीतिज्ञ भी था। राजपूत जैसी सबसे वीर जाति से निकट सम्बन्ध स्थापित करके उसने अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया। अकबर मुगल साम्राज्य को सुदृढ़ता प्रदान करने की इच्छा रखता था जिसके लिये यह आवश्यक था कि वह भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता का सहयोग सुलभ करे। अकबर ने यह देख लिया था कि उसके पूर्ववर्ती शासकों ने राजपूतों के साथ सहयोग एवं मैत्रीपूर्ण नीति का अनुकरण नहीं किया जिसके कारण उन्हें विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। हिन्दुओं में राजपूत जाति के लोग साहसी एवं कुशल योद्धा थे। अतः राजपूतों की सेवायें प्राप्त –होने से सैनिक अभाव की पूर्ति हो जाती तथा विदेशी सैनिकों पर अकबर की निर्भरता भी कम हो जाती। इसके साथ ही अकबर यह भली–भाँति समझता था कि भारत में मुगल साम्राज्य के विस्तार के लिये राजपूतों के प्रतिरोध को समाप्त करना भी अतीव आवश्यक है। राजपूतों के प्रतिरोध के रहते हुये वह मुगल साम्राज्य का विस्तार करने तथा उसे स्थायित्व देने में सफल नहीं हो सकता था। दूरदर्शी होने के कारण अकबर राजपूतों को अपने निकट लाने का प्रयास किया। राजपूतों के प्रति अकबर का व्यवहार किसी अविचारशील भावना का परिणाम नहीं था और न राजपूतों की वीरता, स्वदेशभक्ति और उदारता के प्रति सम्मान का ही परिणाम था और यह नीति स्वलाभ, योग्यता की स्वीकृति तथा न्याय–नीति पर अधारित थी।

अकबर ने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों से ही यह अनुभव किया कि मुस्लिम अमीर वर्ग के लोग उसके प्रति पूर्ण निष्ठा का संपादन नहीं करते। वे मुख्यतः अपनी स्वार्थ सिद्धि से प्रेरित रहते हैं जिसके कारण अकबर को अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। इस कटु अनुभव के कारण अकबर ने राजपूतों का सहयोग प्राप्त कर विरोधी मुस्लिम अमीर वर्ग के विरुद्ध एक पृथक राजपूत अमीर वर्ग का गठन किया। इस भाँति अकबर ने राजपूत अमीर वर्ग का गठन कर मुस्लिम अमीर वर्ग की शक्ति को नियन्त्रित एवं संतुलित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त अकबर की उदार मनोवृत्ति भी राजपूतों के प्रति सहिष्णुनीति अपनाने में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई। अकबर सर्वप्रथम मुस्लिम शासक था जिसने राजपूतों को अपने पक्ष में लाने का प्रयास किया। इस उद्देश्य से उसने उनके साथ उदारतापूर्ण एवं सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार प्रदर्शित किया।

अकबर ने उन्हें उच्च प्रशासनिक पदों पर ही नियुक्त नहीं किया वरन् उन्हें सेना में भी उच्च मनसब प्रदान किये जहाँ उन्होंने मुगल साम्राज्य के विस्तार में अपनी स्वामिभक्ति का परिचय दिया। मानसिंह को उसने अधिक सम्मान दिया। राजा भगवान दास को भी उच्च मनसब प्रदान किया गया। मानसिंह अकबर के सबसे बड़े सेनापतियों में से एक थे। उसने (अकबर) अनेक राजपूतों को प्रान्तपति नियुक्त किया और कुछ को सर्वोच्च मनसब भी दिया। बीरबल और टोडरमल जैसे प्रतिभावान राजपूत उसके दरबार में उच्च पदों पर आसीन थे। 1581 ई० में राजा टोडरमल को दीवान–ए–अशरफ बनाया गया था। रणथम्भौर के राय सुर्जन हाड़ा के साथ भी अकबर ने उदारता का व्यवहार किया। अकबर ने अपनी राजपूत नीति के अन्तर्गत राजाओं को अपनी अधीनता स्वीकार कराकर उन्हें उनके राज्य वापस कर दिये तथा उनसे करद सम्बन्ध स्थापित किये। अब मुगल बादशाह को बिना प्रशासनिक व्यय के राजपूत करद राज्यों से राजस्व एवं सैनिक सहायता की प्राप्ति होने लगी।

यह यह उल्लेखनीय है कि अकबर ने राजपूतों को वैवाहिक सम्बन्धों को स्थापित करने के लिये विवश नहीं किया। यह राजपूत राजाओं की स्वेच्छा पर निर्भर था। अकबर ने विवाह के पश्चात् अपनी राजपूत पत्नियों को धर्म परिवर्तन के लिये विवश नहीं किया अपितु उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता दी। अकबर ने धार्मिक उदारता की नीति अपनायी और उसने सभी धर्मों के लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। इससे भी राजपूत अकबर के अधिक समीप आ गये।

<u>प्रश्न न0 8</u>– अकबर की धार्मिक नीति अर्थात् दीने–ए– इलाही का समलोचनात्क परीक्षण कीजिए।

<u>उत्तर</u>– अकबर की धार्मिक नीति – अकबर ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, अनेक सामाजिक सुधार किये थे वहाँ उसकी धार्मिक नीति भी उदार थी। लेनपूल ने भी लिखा है कि वह निश्चय ही बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति का मनुष्य था और–प्रायः सभी प्रकार की पूजा–विधियों में अच्छाई की खोज कर लेता था।

अकबर ने विभिन्न धर्म के आचार्यों से भी सम्बन्ध स्थापित किया। जैन धर्म के हरि विजय सूरी, विजय सेन सूरी, भानुचन्द्र उपाध्याय आदि से अकबर का सम्पर्क था। अकबर का सम्पर्क सिक्ख गुरु अमरदास, गुरु राप्तदास व गुरु अर्जुन देव से था। अकबर ने ईसाई पादरियों से सम्पर्क किया और उसने सभी धर्मों की सुन्दर बातों को सीखा। अकबर धार्मिक विषयों पर अधिक चिन्तन करता था। ब्रह प्रारम्भ से ही धर्म के प्रति धर्मान्ध न होकर जिज्ञासु था। अपनी धर्मिक व जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण ही उसने फतेहपुर सीकरी में इवादत खाना की स्थापना कराई थी। अकबर का राजपूतों से घनिष्ट सम्पर्क था। राजपूतों को उसने अपनी सभा तथा सेना दोनों में स्थान दे रखा था। वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने के कारण धार्मिक दृष्टि से वह और भी उदार हो गया था।

बादशाह अकबर की सद्भावना हिन्दओं के प्रति बनी रही। अकबर ने हिन्दओं के साथ उदारता की नीति अपनायी। हिन्दू रानियों का अकबर के धार्मिक विचारों पर विशेष प्रभाव पड़ा। हिन्दुओं के सम्पर्क में आने के कारण वह हिन्दू रीति–रिवाजों को भी मानने लगा, सम्राट् ने रविवार के दिन पशुबध पर रोक लगा दिया तथा प्रत्येक शुक्रवार तथा रविवार को वह स्वयं ही मांस का सेवन नहीं करता थाम स्मिथ महोदय गा अकबर की धार्मिक सहिष्णता के विषय में लिखा है कि ष्वह सभी धर्मों के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लेता था कि विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के व्यक्ति उसे अपने ही धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी बताने लगते थे, जैसे पारसी, हिन्दू जैनी उसे जैन धर्म का अनुयायी और इसाई अपने धर्म का मतावलम्बी बताते थे। अकबर की धार्मिक नीति के पीछे राजनीतिक उद्देश्य भी था। वह समस्त भारत पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। उसकी समाजवादी नीति बिना हिन्दुओं के सहयोग से पूर्ण नहीं हो सकती थी। अतः उसने यह आवश्यक समझा कि इसके लिये राजपूतों का सहयोग आवश्यक है। अतः उसने हिन्दुओं के प्रति उदारनीति को अपनाया।

अकबर ने अनेक धर्मों के विषय में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसने अनुभव किया कि सभी धर्मों में कुछ न कुछ गुण विद्यमान हैं तथा सभी का लक्ष्य ईश्वर तक पहुँचना है। अबुलफजल लिखता है कि अकबर को यह विश्वास होने लगा था कि ष्सभी धर्मों के समझदार एवं स्वतन्त्र विचारक होते हैं। जब सत्य सभी धर्मों में है तो यह समझना भूल है कि सच्चाई केवल इस्लाम धर्म तक ही सीमित है। अतः अकबर ने धर्म के क्षेत्र में श्सुलेहकुलश की नीति का अनुसरण कर अपनी धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता का परिचय दिया। इतना ही नहीं उसने विभिन्न धर्मावलम्बियों के पारस्परिक मतभेदों को दूर करने तथा भारत को एक राष्ट्र का रूप देने के उद्देश्य से 'दीने इलाही' की स्थापना की।

दीने इलाही (तौहीदे इलाही) – दीने–दलाही की स्थापना अकबर ने 1581 ई० में की। इसके अन्तर्गत अकबर ने सभी धर्मों के मूल सिद्धान्तों को सन्निविष्ट कर इसे सर्वमान्य बनाने की चेष्टा की। अन्य शब्दों में यह एक सामाजिक–धार्मिक भ्रातृ–सम्प्रदाय था, जिसका संगठन विभिन्न जातियों को एक दूसरे के अधिक से अधिक निकट लाने के विचार से किया गया था। उसकी रचना सर्वजनीन सहिष्णुता (सुलहेकुल) के सिद्धान्त पर की गई थी और स्वयं सम्राट् ने सभी धर्मों में से अच्छी बाते संगृहीत करके इसमें रखी थी। यह नया सम्प्रदाय ईश्वर की एकता में विश्वास रखता था। हिन्दू, जैन और पारसी धर्मों के कुछ प्रमुख सिद्धान्त भी इसमें सम्मिलित किये गये थे। दीने इलाही की सदस्यता का द्वार सभी धर्म के लोगों के लिये खुला हुआ था। शिष्यों की दीक्षा के लिये रविवार का दिन निश्चित था जिस दिन नव आगंतुक हाथ में पगड़ी लेकर बादशाह के चरणों में अपना शीश रख देता था, तब बादशाह उसे उठाकर अपने हाथों से पगड़ी उसके सिर पर रखता था तथा गुरु के रूप में उसे गुरुमंत्र देता था। अकबर उसे एक प्रतीक चिन्ह भी प्रदान करता था जिसे शिष्य अपनी पगड़ी में लगाता था। इसके सदस्य जब एक दूसरे से मिलते थे तो एक श्अल्हा हू अकबरश (ईश्वर महान है) कहता तथा दूसरा उसके उत्तर में श्जल्ले जलाल हूश (उसके गौरव में वृद्धि हो) कहता था। यह दोनों वाक्य ईश्वर की महानता एवं गौरव को सम्बोधित करते हैं।

दीने इलाही धर्म के विषय में विद्वानों में अधिक मतभेद है। स्मिथ तथा बलाकमैन के अनुसार **"यह एक नया धर्म था जो इस्लाम के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता था।"** आधुनिक विद्वानों का तर्क है कि इसे धर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती है और उनका कहना है कि इस्लाम के अन्तर्गत एक सम्प्रदाय था। प्रो० श्री राम शर्मा लिखते हैं कि इसे धर्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि इसका कोई ग्रन्थ न था, कोई पुजारी न था न कोई रीति–रिवाज था न कोई व्यावहारिक धार्मिक विश्वास ही था। यह धर्म की अपेक्षा एक आज्ञा थी। **डॉ० माखन लाल राय चौधरी के लेखानुसार, "दीने–इलाही या दीने–इस्लाम एक नया धर्म न होकर एक आज्ञा मात्र था। यह सूफी विचार धाराओं से ओत प्रोत कुरान के सिद्धान्त पर आधारित था।"** दीने इलाही की स्थापना की तिथि भी भ्रांतिपूर्ण सी है। स्मिथ, वारटोली तथा बदायूँनी के अनुसार 1582 ई० में इसकी स्थापना की गई। मानसरेट के अनुसार इसकी स्थापना 1538 ई० में की गई जो अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होती है।

दीने–इलाही के सदस्य यद्यपि दीने–इलाही धर्म का प्रचलन अकबर ने किया परन्तु उसने किसी को इस धर्म को मानने के लिये विवश नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस धर्म के अनुयायी बहुत कम थे। अकबर के दरबारियों में ही कुछ इस धर्म के सदस्य थे। अबुल फजल का मत है कि इस धर्म के मुख्य अनुयायी 18 थे। बीरबल ही एक ऐसा हिन्दू था जिसने इस धर्म को अपनाया था। सदस्यों की संख्या कम होने का कारण यह था कि मुसलमानों ने इस धर्म को इस्लाम विरोधी और हिन्दुओं ने उसे इस्लाम का परिवर्तित रूप समझा।

दीने इलाही के अन्तर्गत दस नियमों का उल्लेख मोहसिन फानी ने किया है जो निम्नवत् हैं– (i) उदारता तथा दानशीलता, (ii) सांसारिक इच्छा का परित्याग, (iii) दुष्टों को क्षमा करना तथा क्रोध का विनम्रता से तिरस्कार (iv) सांसारिक बन्धनों से मुक्ति की इच्छा एवं परलोक के लिये पुण्य अर्जित करना, (v) उच्च कर्मों की अभिलाषा, (vi) अपने कर्मों की लालसा, (vii) भ्रातृत्व का व्यवहार, (viii) मधुर भाषी होना, (ix) जीवों से पूर्ण विरक्ति तथा ईश्वर से लगाव, (x) ईश्वर से प्रेम एवं ईश्वर की एकात्मकता के प्रति समर्पण।

इसके अतिरिक्त दीने इलाही के अन्तर्गत इस्लाम के एकेश्वरवाद को विशेष स्थान दिया गया। इस धर्म के अनुयायियों को मांस न खाने तथा सब की भलाई करने का व्रत लेना पड़ता था सम्भवतः यह हिन्दुओं, जैनियों तथा बौद्धों को प्रसन्न करने के लिये किया गया था। इसके धर्मानुयायियों को सम्राट् के समक्ष सिजदा (साष्टांग) प्रणाम करना पड़ता था जो सम्राट (बादशाह) के प्रति श्रद्धा एवं आदर का सूचक था। इसके मानने वाले सूर्य तथा अग्नि की उपासना करते थे जो सम्भवतः पारसियों एवं हिन्दुओं को आकर्षित करने के निमित्त किया गया था। इसके अनुयायियों को मछुओं, कसाइयों व शिकारियों के संग भोजन करने की अनुमति न थी। इसके सदस्यों को मृत्यु के बाद श्राद्ध भोज अपने जीवन काल में ही देना पड़ता था। प्रत्येक अनुयायी को अपने वर्षगाँठ के दिन प्रीतिभोज देना होता था। रविवार के दिन को विशेष महत्व दिया जाता था। अल्पायु, बाँझ एवं गर्भवती महिलाओं से सहवास करना निषेध था।

दीने–दलाही के सदस्यों की चार श्रेणियाँ थीं– प्रथम श्रेणी में वे लोग आते थे जो राजा के लिये अपनी सम्पत्ति देने को सदा तत्पर रहते थे। द्वितीय श्रेणी में वे लोग आते थे जो सम्राट (बादशाह) के लिये सम्पत्ति व जीवन का उत्सर्ग करने को तैयार रहते थे। तीसरी श्रेणी में वे लोग आते थे जो राजा के लिये सम्पत्ति, जीबन एवं प्रतिष्ठा समर्पित करने को तत्पर रहते थे। चतुर्थ श्रेणी में वे लोग आते थे जो जीवन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा व धर्म समर्पित करने को तैयार रहते थे।

दीने–इलाही के परिणाम के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसके प्रचार से प्रजा में धार्मिक सहिष्णुता की भावना उत्पन्न हुई, धर्म के नाम पर किये गये अत्याचारों का अन्त हुआ। इस धर्म के प्रचार से राष्ट्रीयता की भावना उद्भूत हुई। दीने–इलाही के प्रचार से हिन्दू तथा मुसलमानों के समाज की बहुत सी कुरीतियों का अन्त हो गया। दीने–इलाही में हिन्दू धर्म के बहुत से सिद्धान्त सम्मिलित थे अतः अकबर को हिन्दू–मुस्लिम एकता स्थापित करने में सफलता मिली। इस धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार होने के लिये प्रजा में संकीर्णता का अन्त हो गया। प्रजा के विचारों में व्यापकता आ गई। दीने इलाही के प्रचार से धार्मिक सिद्धान्तों पर वाद–विवाद प्रारम्भ हुये। बहुत से धार्मिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हो गया। परन्तु इन समस्त परिणामों के होते हुये भी दीने–इलाही धर्म का पतन हो गया।

वास्तव में यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो अकबर की धार्मिक नीति राजनैतिक परिस्थितियों की दास थी। डॉ० इश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि ष्मुगल सम्राट अकबर ने इस धर्म का प्रचार एक धर्म प्रचारक की भावना से यथा धर्मानुयायियों की संख्या बढ़ाने के उद्देश्य से नहीं किया था। वह तो वास्तव में विभिन्न धर्मों के नवीन रूप से मेल–मिलाप का सूचक व मिश्रण ही था। इतिहासकार स्मिथ और वूल्जले हेग दोनों विद्वानों ने ही नये धर्म की स्थापना करने के लिये अकबर की भर्त्सना की है। स्मिथ ने तो यहाँ तक कह डाला है कि दीने–इलाही अकबर की बुद्धिमता का नहीं, वरन् उसकी मूर्खता का सूचक है। परन्तु यह आलोचना उचित और न्यायसंगत नहीं है। दीने इलाही की स्थापना में अकबर का महान राजनीतिक उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा वह हिन्दू और मुसलमान धर्मों को मिलाकर मुगल साम्राज्य में राजनीतिक एकता स्थापित कर सके। डॉ० आर० पी० त्रिपाठी ने अपने एक लेख में लिखा है कि दीने इलाही अकबर की धार्मिक नीति को प्रभावित न कर सका। अकबर ने ''सुलहकुल' की नीति का अनुसरण किया किन्तु उसका प्रयास असफल रहा।

<u>प्रश्न न0 9–</u> शाहजहाँ के साम्राज्य विस्तार की नीति का वर्णन कीजिए।

<u>उत्तर–</u> शाहजहाँ (1627–1658 ई0)– शिहाबुद्दीन मोहम्मद शाहजहाँ का जन्म सलीम की दूसरी पत्नी रानी मानमती से लाहौर में हुआ था। बाहशाह अकबर अपने पौत्र के जन्म पर बहुत सुखी तथा आनन्दित हुआ। उसने अपने पौत्र का नाम खुर्रम अर्थात् आनन्ददायक रखा। उसकी शिक्षा–दीक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया गया। उसका प्रथम शिक्षक मुल्ला कासिम बेग तबरीजी था। शीघ्र ही खुर्रम फारसी भाषा में प्रवीण हो गया किन्तु तुर्की भाषा के प्रति वह उदासीन रहा।

खुर्रम को 1607 ई0 में उसे 8,000 जात और 5,000 सवार का पद दिया गया। 1612 ई0 में अर्जुमन्दावानू बेगम से उसका विवाह हुआ। खुसरो के विद्रोह के पश्चात् खुर्रम को सिंहासन का उत्त्राधिकारी समझा जाने

लगा। मेवाड़, कागड़ा और दक्षिण के अभियानों में जो सफलता उसने प्राप्त की उसकी योग्यता स्पष्ट हुई। वह नूरजहाँ के गूट का सदस्य रहा और 1622 ई0 तक वह निरन्तर राज्य में सम्मान और पद प्राप्त करता रहा। उसक मनसब में उसके मनसब की विशेष वृद्धि की गई तथा उसका मनसब तीस हजार जात तथा बीस हजार सवार तक पहुँच गया। 4 फरवरी 1628 ई0 को वह सिंहासन पर आसीन हुआ। उसके नाम का खुतबा पढ़ा गया तथा उसने 'अबुल मुजफ्फर शिहाबुद्दीन मोहम्मद साहबे किरानेसानी' की उच्चतम उपाधि ग्रहण की। शाहजहाँ ने दावरबख्श सहित सभी राजकुमारों तथा उनके समर्थकों की नृशसतापूर्वक हत्या करवा दी जिन्होने उसके सिंहासन हस्तगत करने में बाधायें उत्पन्न की थी किन्तु उसने नूरजहाँ के साथ उदारता प्रदर्शित की।

जुझारसिंह बुन्देला का विद्रोह (1628–1635)– शाहजहाँ के सिंहासनारूढ़ होने के कुछ ही समय बाद बुन्देलों ने विद्रोह किया। जहाँगीर के शासनकाल में बुन्देलों को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया था। 1627 ई0 में वीरसिंह की मृत्यु हो जाने से उसकी सम्पप्ति का स्वामी उसका पुत्र जुझारसिंह हुआ। वह शाहजहाँ के बिनाा आज्ञा के आगरा छोड़कर अपनी रियासत ओरछा चला गया और अपनी सेना एकत्रित करने लगा। जुझारसिंह के इस कार्य से शाहजहाँ को बहुत क्रोध आया।

सम्राट ने अविलम्ब उसके दमन की तैयारी की। सम्भवतया, शाहजहाँ की दृष्टि जूझारसिह द्वारा एकत्रित सम्पत्ति पर लगी हुई थी। 1628 में जुझारसिंह पर आक्रमण किया गया। यह शाहजहाँ के समय का प्रथम सैनिक आक्रमण था। शाहजहाँ किसी भी स्थिति में इस युद्ध को खोना नहीं चाहता था। इस कारण महावत खाँ को ग्वालियर से, खानजहाँ को मालवा से, अब्दुला खाँ फीरोजजंग को कालपी से और सैयद मुजफ्फर जंग को बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने के आदेश दिये गये। जुझारसिह ने शीघ्र अपनी दुर्बल स्थिति को समझ लिया और 1629 के आरम्भ में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। जुझारसिंह ने शाहजहाँ से दक्षिण भारत के युद्ध में नियुक्ति प्राप्त कर पाँच वर्ष तक दक्षिण के युद्धों में महत्वपूर्ण भाग लिया। 1634 ई0 में वह अपनी राजधानी ओरछा आ गया। 1635 में उसने गोड़वाना पर आक्रमण किया उसकी राजधानी चौरागढ़ को विजित कर लिया ओर राजा प्रेम नारायण को मार दिया। प्रेम नारायण के पुत्र ने जुझारसिंह के विरूद्ध शाहजहाँ से शिकायत की। बादशाह ने जीते हुये दुर्ग को शाही अधिकारियों को प्रदान करने तथा लूट के माल से दस लाख रूपये शाही कोष में जमा करने की जुझारसिंह को आज्ञा दी। उसने बादशाह की इस आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया जिससे युद्ध अनिवार्य हो गया। बादशाह ने तुरन्त औरंगजेब के सेनापतित्व में एक विशाल सेना जुझारसिंह के विरूद्ध भेजी। शाही सेना के आने की सूचना पाकर जुझारसिंह इतना भयभीत हो गया कि वह अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ दुर्ग को छोड़कर भाग गया। शाही सेना ने उसके दुर्ग पर अधिकार कर लिया। शाही सेना ने जुझारसिंह का पीछा किया परन्तु वह बहुत दिनों तक इधर–उधर भागता रहा। अन्त में गोंड के जगलों में शरण ली परन्तु गोंडों ने उसे पकड़ कर उसका वध कर दिया। इसप्रकार बुन्देलखण्ड के सबसे अधिक धन सम्पन्न तथा ऐश्वर्यशाली राजपूत राज्य का अन्त हो गया।

खानजहाँ लोदी का विद्रोह (1628–31) – पीरखाँ उर्फ खानजहाँ लोदी एक योग्य और सम्मानित अफगान सरदार था। जहाँगीर के अन्तिम दिनों में वह दक्षिण की सूबेदारी के महत्वपूर्ण पद पर था। शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर वह उदासीन रहा और शाहजहाँ के सहायता माँगने पर उसने उसे कोई सहायता नहीं दी। उसी अवसर पर उसने दक्षिण के राज्यों में समझौता करने का प्रयत्न किया और तीन लाख रुपया लेकर बालाघाट अहमदनगर को सौंप दिया। सम्भवतया अपनी अफगान प्रवृत्ति के अनुकूल वह जहाँगीर की मृत्यु के अवसर की अव्यवस्थित स्थिति का लाभ उठाकर दक्षिण में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने के लिये इच्छुक हो गया था। शाहजहाँ ने महावतखाँ को श्खानखानाश का पद दे दिया था। इससे भी वह असन्तुष्ट था क्योंकि जहाँगीर के समय में यह पद उसे दिया गया था। आगरा में शाहजहाँ के बादशाह घोषित होने पर उसने शाहजहाँ को बादशाह स्वीकार कर लिया। शाहजहाँ ने उसे बालाघाट को पुनः प्राप्त करने के आदेश दिये किन्तु वह बालाघाट को विजित करने में असफल रहा। शाहजहाँ ने दक्षिण की सूबेदारी महावतखाँ को दे दी और मालवा खानजहाँ को दिया। इस प्रकार, स्थिति ऐसी हो रही थी जिसमें खानजहाँ के सम्बन्ध शाहजहाँ से ठीक नहीं रहे।

बुन्देला विद्रोह के शान्त हो जाने पर (1629) खानजहाँ को दरबार में उपस्थित होने के आदेश दे दिये गये। शाहजहाँ के आश्वासन के बाद भी वह जीवन से आशंकित होकर अक्टूबर 1629 में वह बिना बादशाह शाहजहाँ की अनुमति के दक्षिण की ओर भाग गया। खानजहाँ अहमदनगर पहुँच गया। मुर्तर्जा निजामशाह ने उसका स्वागत किया, उसे श्वीरश की जागीर दी और मुगलों के आधिपत्य में चली गयी अहमदनगर की भूमि को वापस लेने का उत्तरदायित्व सौंपा। खानजहाँ के दक्षिण में पहुँच जाने से दक्षिण की समस्या कठिन हो गयी। अहमदनगर ने मुगलों से कुछ भू–प्रदेश जीत लिये। दक्षिण की स्थिति ऐसी हो गयी कि स्वयं शाहजहाँ को 1629 में दक्षिण जाना पड़ा। सर्वप्रथम शाहजहाँ ने खानजहाँ को दबाने की योजना बनाकर तीन तरफ से उस पर आक्रमण किया। खानजहाँ को स्थान–स्थान पर भागना पड़ा। वह भागकर दौलताबाद की ओर गया और बीजापुर से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह सफल न हो सका। मुगलों के दबाव के कारण निजामशाह भी तटस्थ हो गया और खानजहाँ के पास दक्षिण को छोड़कर भागने के अतिरिक्त कोई मार्ग

न रहा। उत्तर–पश्चिम में उसे अफगानों से सहायता मिलने की आशा थी। खानजहाँ नर्वदा नदी पार कर लिया और मालवा होकर उत्तर की ओर जाने का प्रयत्न किया। मार्ग में जुझारसिंह के पुत्र विक्रमजीत ने उस पर आक्रमण कर दिया और खानजहाँ के अधिकांश साथियों का वध कर दिया। किन्तु खानजहाँ बच निकला। अब मुजफ्फरखाँ सैयद ने उसका पीछा किया। कांलिजर के किलेदार ने उसके हाथी छीन लिये और अन्त में बाँदा जिले में सिंहोदा नामक स्थान पर खानजहां ने अन्तिम युद्ध किया और माधोसिंह के द्वारा मारा गया। इस प्रकार 1631 में खानजहाँ का विद्रोह समाप्त हुआ।

साम्राज्य विस्तार– (दक्षिण भारत) अकबर और जहाँगीर के समय में भी दक्षिण विजित करने के प्रयास किये गये थे। वह मुगलों की साम्राज्यवादी नीति का एक भाग था।

शाहजहाँ की दक्षिण नीति के उद्देश्य शाहजहाँ की दक्षिण नीति के निम्नलिखित उद्देश्य थे– (i) शाहजहाँ साम्राज्यवादी विचारधारा का व्यक्ति था। उसने अपना साम्राज्य विस्तार करने के उद्देश्य से दक्षिण पर विजय प्राप्त करने की योजना बनाई । (ii) शाहजहाँ कट्टर सुन्नी था। अतएव उसे दक्षिण के शिया राज्यों से पुणा थी अतरू वह इन्हें समाप्त करना चाहता था। (iii) दक्षिण में मुगल राज्य के विद्रोही शरण ग्रहण करते थे। शाहजहाँ ने स्वयं भी जब अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था तो दक्षिण में ही शरण ली थी। शाहजहाँ के शासनकाल में जुझारसिंह तथा खानजहाँ लोदी ने भी शरण ली थी। अतः शाहजहाँ दक्षिण के राज्यों को समाप्त करना चाहता था। (iv) 1630 ई० से 1632 ई० तक दक्षिण भारत तथा गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा। असंख्य व्यक्ति भूख से मर गये। वहाँ की आर्थिक स्थिति अत्यधिक असन्तोषप्रद हो गई। अतः दक्षिण के राज्यों ने मुगल साम्राज्य को कर देना बन्द कर दिया। फलतः शाहजहाँ ने दक्षिण विजय करने की योजना बनाई। (v) दक्षिण के राज्यों में परस्पर संघर्ष रहता था। शाहजहाँ ने इस पारस्परिक मनोमालिन्यता का विशेष लाभ उठाया। वह भली भांति जानता था कि दक्षिण के तीनों राज्य अहमदनगर, बीजापूर तथा गोलकुण्डा उसका सामना नहीं करेंगे और वह सरलता से इन राज्यों को समाप्त कर देगा। (vi) दक्षिण के राज्य मरहठों को धन देकर प्रोत्साहित करते थे। मरहठे मुगल साम्राज्य के शत्रु थे। शाहजहाँ के लिये यह पूर्णतः असहनीय था कि शत्रुओं को कोई सहायता प्रदान करे।

1621 ई० में शाहजहाँ ने शाही सेना का संचालन करने के लिये अबुल हसन तथा आजम खाँ जैसे योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति कर दिया। प्रधानमंत्री आसफखाँ की भी नियुक्ति दक्षिण में ने स्वयं बुरहानपुर में जाकर अपना शिविर (पडाव) डाल दिया। कर दी गई। बादशाह

अहमदनगर पर आक्रमण – मुगल सेनाओं ने सर्वप्रथम अहमदनगर पर आक्रमण किया। विद्रोही खानेजहाँ घबडा कर अहमदनगर भाग गया था और वहाँ के शासक के साथ गठबन्धन कर लिया था। अतः खानेजहाँ को बन्दी बनाना मुगल सेना का प्रथम कर्तव्य था। परन्तु खानेजहाँ वहाँ से पंजाब भाग गया। फिर भी अहमदनगर की सेनाओं से युद्ध चलता रहा। इन दिनों अहमदनगर की स्थिति अधिक असन्तोषप्रद थी। वहाँ का शासक मुर्तजा खाँ अयोग्य एवं निर्बल व्यक्ति था। उसके राज्य में दलबन्दियाँ बहत थीं। चूंकि मुर्तजा खाँ ने जादोराय नामक एक मराठा सरदार का वध करा दिया था जो बहुत प्रभावशाली जागीरदार था, इस कारण मराठा लोग उसके विरोधी हो गये और जगदेव, शाहजी, भोला, मालोजी जैसे प्रभावशाली मरहठे मुगलों से जा मिले। मुर्तजाखाँ के बहुत से मुसलमान पदाधिकारी भी अप्रसन्न होकर अहमदनगर से चले गये थे और मुगल सेना में नौकरी कर ली थी। दर्भाग्य से इन्हीं दिनों दक्षिण में दर्भिक्ष पड़ गया जिससे भोजन तथा चारे की कमी अबल ने अहमदनगर की सेना को पराजित कर दिया और लूट में बहुत सा धन प्राप्त किया। आजम खाँ भी धरवर को जीत लिया और अहमदनगर की सेना को पीछे ढकेल दिया। वह दौलताबाद का घेरा डालने वाला कर रहा था, अतः आजम खाँ ने परेन्दा के दर्ग पर आक्रमण कर दिया था, किन्तु असफल रहा और अपनी छावनी को वापस लौट गया।

मुगल सेनायें निरंतर अग्रसर हो रही थीं और सफलता प्राप्त कर रही थीं। इसी समय अहमदाबाद में एक बड़ी क्रांति हुई। अबीसीनियनों की सहायता प्राप्त करने के लिये मलिक अम्बर के पुत्र फतेहखाँ को जेल से मुक्त करके प्रधानमंत्री बना दिया गया। परन्तु इसके परिणाम अच्छे न हुये। मुकर्रब खाँ जो मुगलों का घोर विरोधी था अब मुगलों से जा मिला। मुगलों ने उसका हार्दिक स्वागत किया। उसे रुस्तमखाँ की उपाधि दी गयी। फतेहखाँ की भी स्वामिभक्ति संदिग्ध ही रही। वह भी मुगलों से जा मिला। उसने मुर्तजा खाँ को विष दिलवाकर समाप्त कर दिया और उसके दसवर्षीय पुत्र को सिंहासन पर आसीन कर दिया और स्वयं उसका संरक्षक बन गया। शाहजहाँ इतने से सन्तुष्ट न हुआ। अतः फतेहखाँ ने उसके पास बहुत सा धन तथा हाथी उपहार स्वरूप भेजे और उसके नाम का खुतबा पढ़वाया तथा उसी के नाम से सिक्के चलवाये। इससे शाहजहाँ को पूरा सन्तोष हो गया। उसका हृदय दक्षिण के युद्ध में नहीं लग रहा था क्योंकि 17 जनवरी, 1631 को उसकी प्रिय पत्नी मुमताज महल की मृत्यु हो गयी थी। इस कारण अपने अधिकारियों को दक्षिण का उत्तरदायित्व सौंपकर शाहजहाँ स्वयं उत्तर भारत (1632) में चला गया।

शाहजहाँ और फतेहखाँ का यह समझौता अधिक समय तक न चल सका। फतेहखाँ का स्वभाव अपने पिता मलिक अम्बर से पूर्णतः भिन्न था। वह बहुत ही कुटिल और अविश्वसनीय था। चूंकि शाहजहाँ ने उन मरहठों को अपनी ओर मिला लिया था जो फतेहखाँ के शत्रु थे, अतः वह शाहजहाँ से अप्रसन्न था। अब उसने शाहजहाँ

का साथ छोड़ कर बीजापुर के सुलतान से गठवन्धन कर लिया। इस समय महावत खाँ दक्षिण का गवर्नर था। फतेहखाँ के इस विश्वासघात से महावत खाँ को बहुत क्रोध आया और 1 मार्च 1633 ई० को उसने अहमदनगर पर आक्रमण कर दिया। अम्बरकोट, महाकोट, दौलताबाद आदि के दुर्गों पर महावत खाँ ने अधिकार कर लिया। विवश होकर फतेहखाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया। सितम्बर 1633 ई० में महावत खाँ ने फतेहखाँ तथा अहमदनगर के अन्तिम सुल्तान हुसेनशाह को आगरा भेज दिया। शाहजहाँ ने हुसेनशाह को बन्दी बनाकर ग्वालियर के दुर्ग में भेज दिया और अहमदनगर मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया।

बीजापुर से संघर्ष– अगले कुछ वर्षों तक शाहजहाँ का ध्यान दक्षिण के दुर्भिक्ष और मुमताज महल को मृत्यु तथा अन्य घटनाओं में उलझा रहा। इस मध्य दक्षिण में पुनः असन्तोष भड़क उठा। दक्षिण के सूबेदार महावतखाँ को बीजापुर राज्य और अहमदनगर के सरदारों के एक गुट ने परेशान करना आरम्भ किया। मुगलों और बीजापुर राज्य में अहमदनगर राज्य के विभाजन के लिये प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गई। शाहजी भोसले ने मुगलों की सेवा छोड़कर बीजापुर राज्य में नौकरी कर ली। इससे बीजापुर राज्य की स्थिति सुदृढ़ हो गई। बीजापुर ने परेड़ा (परेन्दा) पर अधिकार कर लिया और दौलताबाद पर 1633 ई० में आक्रमण कर दिया। रदौल खाँ और मुरारी पंडित के अधीन एक विशाल सेना दौलताबाद का घेरा डालने के लिये भेजी गई। शाहजी भी उनकी सहायता कर रहा था। शाहजी और बीजापुरी सेना ने फतहखाँ को (जो मुगलों की सेना में था) प्रलोभन दिया। अतः उसने मुगलों का साथ छोड़कर शाहजी से संधि कर ली। क्रुद्ध होकर महावत खाँ ने दौलताबाद का घेरा डाल दिया। फतहखाँ ने पुनः मुगलों से क्षमा मांग कर आत्मसमर्पण कर दिया और दुर्ग मुगलों को सौंप दिया। फतहखाँ को धन और नौकरी दी गई। निजामशाह को बन्दी बना कर ग्वालियर भेज दिया गया। इस प्रकार फतहखाँ के विश्वासघात के कारण अहमदनगर राज्य और निजामशाही वंश का अन्त 1633 ई० में हुआ।

शाहजी ने निजामशाही को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। अहमदनगर के अवसान के बाद भी मुगलों की समस्याएँ समाप्त न हुई। निजामशाही और आदिलशाही सैनिकों और सरदारों ने साहस न छोड़ा। मुगलों से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा का उन लोगों ने अथक प्रयास किया। उनमें सबसे अधिक सक्रिय शाहजी भोंसले थे। मलिक अम्बर के ही समान शाहजी ने निजामशाही वंश के एक राजकुमार को खोजकर उसे अहमदनगर का सुल्तान घोषित कर दिया तथा सभी सैनिकों एवं सरदारों को उसकी सहायता करने का आह्वान किया। बीजापुर के सुल्तान ने इस कार्य के निमित्त शाहजी को सैनिक सहायता उपलब्ध करायी। शाहजी ने अब मुगलों को त्रस्त करना प्रारम्भ किया। उसने अहमदनगर के अनेक भागों को अधिकृत कर लिया। अतएव शाहजहाँ को स्वयं 1635 ई० में दक्षिण आना पड़ा। शाहजहाँ ने शाहजी के अनेक समर्थकों को भयभीत कर अथवा प्रलोभन देकर अपने पक्ष में कर लिया और शाहजी द्वारा प्रभुत्व स्थापित किये गये अनेक क्षेत्रों को अपने आधिपत्य में कर लिया। अहमदनगर पर मुगलसत्ता पुनः स्थापित की गई। शाहजी अपनी सुरक्षा हेतु इधर–उधर भ्रमण करता रहा।

शाहजहाँ ने यह निश्चय कर लिया कि बीजापुर पर स्वामित्व स्थापित किये बिना दक्षिण में पूर्णतः शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं हो सकती है। अहमदनगर पर नियंत्रण स्थापित करने के उपरान्त मुगल सेना को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश जारी किया गया। साथ ही बीजापुर को एक दूत भेजकर आदिलशाह को प्रलोभन दिया गया कि पुरानी संधि को पुनः लागू कर मुगल और बीजापुर के सुल्तान अहमदनगर साम्राज्य का परस्पर बँटवारा कर लें। बीजापुर का सुल्तान इस मध्य मुगल सैनिकों द्वारा किया गया नरसंहार और विनाश से आतंकित हो उठा। मुगल–विरोधी सरदारों को अपदस्थ कर दिया गया और आदिलशाह ने शाहजहाँ से एक नई संधि कर ली। इसके अनुसार, बीजापुर ने मुगल स्वामित्व स्वीकार कर लिया तथा 20 लाख रुपये क्षति (हर्जाने) के रूप में भुगतान करना स्वीकार कर लिया। यह भी निश्चित हुआ कि सुल्तान शाहजी के दमन में मुगलों को सहायता देगा तथा यदि शाहजी बीजापुर की सेवा में रहेगा तो उसे मुगलसीमा से दूर दक्षिण में रखा जायेगा। आदिलशाह ने गोलकुण्डा के विषय में भी हस्तक्षेप न करने का बचन दिया। यहीं इति. नहीं, सुल्तान इस बात के लिये भी तत्पर हो गया कि भविष्य में बीजापुर और गोलकुण्डा के मध्य उदभूत होने वाले समस्त विवादों का निदान शाहजहाँ की मध्यस्थता द्वारा संपादित होगा। बदले में शाहजहाँ ने ब्रीजापुर को अहमदनगर रियासत का एक भाग जिसकी वार्षिक आय 20 लाख हूण थी, दिया।

गोलकुण्डा– शाहजहाँ अब गोलकुण्डा की ओर आकृष्ट हुआ। गोलकुण्डा के साथ शर्तें निश्चित करना अधिक कठिन था क्योंकि वहाँ का सुल्तान अहमदनगर तथा चीजापुर की अपेक्षा विनम्र था। शाहजहाँ ने बीजापुर के साथ ही गोलकण्डा के सुल्तान कुतुबशाह के साथ भी एक सन्धि की। उसने शाही राजदूत को अपने दरबार में भव्य स्वागत किया तथा शाहजहाँ की प्रभुसत्ता स्वीकार की। उसने शाहजहाँ के नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्के जारी किये। उसने शाहजहाँ के प्रति स्वामिभक्त रहने का आश्वासन दिया। गोलकुण्डा को इन सब के बदले चार लाख वार्षिक ऋण के कर से जो वह बीजापुर को देता था, मुक्त कर दिया गया। मुगलों से सुरक्षा प्राप्त करने के बदले में गोलकुण्डा के सुल्तान ने दो लाख वार्षिक ण शाही राजकोष को देना स्वीकार किया। 1636 ई० में इन दो संधियों के परिणामस्वरूप शाहजहाँ ने दक्षिण के राज्यों पर मुगल स्वामित्व को प्रभावशाली ढंग से स्थापित कर दिया।

<u>प्रश्न न0 10– मराठों के उत्थान एवं शिवाजी की उपलब्धियों एवं कार्यों की विवेचना कीजिए?</u>

<u>उत्तर–</u> उत्तरकालीन मुगल बादशाहों की शक्ति बहुत दुर्बल और सीमित हो गई थी तथा अठारहवीं सदी में मराठे भारत की प्रथम शक्ति बन गये थे। जी० एस० सरदेशाई के अनुसार 'मराठा' शब्द की उत्पत्ति राठा (Ratthas) शब्द से हुई प्रतीत होती है। महाराष्ट्र में इनकी शक्ति का उदय हुआ। दक्षिण–पश्चिम भारत का वह भाग जो पश्चिम में अरब सागर से लेकर उत्तर में सतपुड़ा तक फैला हुआ है और जिसमें आधुनिक बम्बई का राज्य, कोकण, खानदेश, बरार, मध्य–भारत का कुछ भाग और हैदराबाद राज्य का प्रायः 1/2 भाग सम्मिलित है, मराठवाड़ा कहा जाता था। भारत के इसी भाग को महाराष्ट्र पुकारा गया है, वहाँ के निवासियों की मुख्य भाषा मराठी है। यहीं पर मराठा शक्ति का उदय हुआ। यही वह शक्ति थी जिसके आधार पर मराठा नेताओं ने भारत में 'हिन्दू–पादशाही' के निर्माण का स्वप्न देखा और दिल्ली के साम्राज्य को अपने हाथों में लेकर भारत की विभिन्न शक्तियों को एक शक्ति की अधीनता में लाने का प्रयत्न किया तथा यह वह शक्ति थी जिसके बल पर मराठे बड़े से बड़े संकट को सहन कर सके। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता स्वामी रामदास ने महाराष्ट्र में हिन्दू–धर्म तथा ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति की भावना का प्रचार किया। आधुनिक इतिहासकारों का अभिमत है कि स्वामी रामदास ने ही शिवाजी को हिन्दू पादशाही स्थापित करने के लिये प्रेरणा दी थी।

मराठा शक्ति के उदय या उत्कर्ष के कारण – यह सत्य है कि भारतवर्ष में मराठा शक्ति के अभ्युदय और विकास में अधिकांश श्रेय शिवाजी को है परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि भारतीय इतिहास के रंगमंच पर जिस समय शिवाजी का प्रादुर्भाव हुआ उसकी भूमिका पहले ही तैयार हो चुकी थी। मराठा शक्ति के उदय के विषय में मुख्य कारण निम्नलिखित हैं–

महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति – महाराष्ट्र प्रदेश विन्ध्य तथा सतपुड़ा पर्वतमाला से घिरा हुआ एक दुर्गम प्रदेश था। यह पहाड़ियों और नदियों से घिरा होने के कारण सुरक्षित है और वर्ष भर लगातार परिश्रम करने के उपरान्त भी कोई शत्रु सरलता से उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। सैनिक दृष्टि से यह प्रदेश अद्वितीय है।

मुसलमानों में विरोध की भूमिका – मुसलमानों में धर्मान्धता थी तथा वे हिन्दू धर्म का विरोध कर इसे नष्ट करने पर दृढ़ हो गये थे। उत्तरी भारत में वे हिन्दुओं पर छा गये तथा हिन्दू अपनी दुर्बलता के कारण, वह सब कुछ सहन करते गये। किन्तु दक्षिण की स्थिति दूसरी थी यहाँ के निवासियों ने इस प्रारम्भिक अभियान और अत्याचारों का सामना किया। कापालिक, जैन आदि धार्मिक सम्प्रदाय इस्लाम के विरोध में डट गये। मुसलमानों की हिन्दू विरोधी नीति तथा अत्याचारों ने मराठों में प्रतिशोध की भावना जाग्रत कर दी और वे दक्षिण में संगठित होकर शिवाजी के नेतृत्व में 'स्वराज्य' की स्थापना में जुट गये।

दक्षिण में मुसलमानी राज्यों में हिन्दुओं का प्रभाव – दक्षिण में कई छोटे–छोटे राजवंश थे। मुगल सम्राट उन पर अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयास करते रहे किन्तु उन्हें आंशिक सफलता ही मिली। दिल्ली सल्तनत के दुर्बल होते ही इन राज्यों में हिन्दुओं के प्रभुत्व में वृद्धि होने लगी। इसके अतिरिक्त दक्षिण की मुसलमानी रियासतों में हिन्दुओं को नौकरियाँ मिलती रहीं, इसलिये दक्षिण में हिन्दू शक्ति का पतन नहीं हो सका। दक्षिण के सुल्तानों की सेना में हिन्दुओं को उच्च स्थान प्राप्त थे जिससे उन्हें सैनिक दृष्टि से संगठित होने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इस स्थिति ने मराठा–शक्ति के उदय का मार्ग प्रशस्त किया।

स्थानीय संस्थायें – महाराष्ट्र की अनन्त काल से चली आ रही ग्राम–संस्थाओं ने भी मराठों के उत्थान में सहयोग दिया। महाराष्ट्र में प्रत्येक गाँव में पंचायते थीं जो कि गाँवों के छोटे–छोटे विषयों का फैसला करती थीं।

दक्षिण की राजनीतिक स्थिति – मराठों को जहाँ प्रकृति का संबल मिला था वहीं दक्षिण की राजनीति से भी उनको अधिक सहायता मिली थी। अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा उस समय दक्षिण को महत्वपूर्ण शक्तियाँ थीं। मगलों के निरन्तर आक्रमण तथा औरंगजेब की नीति के कारण ये तीनों दुर्बल हो 468 चुके थे। इस अव्यवस्था एवं स्थिति का चतुर मराठा जाति ने पूर्ण लाभ उठाया।

औरंगजेब की हिन्दू–दक्षिण की मुसलमान रियासतों के प्रति नीति – दिल्ली के मुगल शासकों को विशेषकर औरंगजेब को नीति हिन्दू–विरोधी ही नहीं थी, वरन् दक्षिण की मुसलमान रियासतों की विरोधी भी थी। औरंगजेब इन रियासतों को पददलित करने के रहा था। अहमदनगर की शक्ति को नष्ट कर वह बीजापुर और गोलकुण्डा को विजित करने के लिये अग्रसर हुआ। इसके फलस्वरूप इन रियासतों की स्थिति दर्बल होती गई तथा पतन के कगार पर पहुंच गई। मराठों ने इस स्थिति का लाभ उठाया और अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया।

धार्मिक आन्दोलन – मराठों के उत्थान में महाराष्ट्र के साधु–सन्तों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई भी। मुसलमानों के दक्षिण में प्रवेश करते ही महाराष्ट्र में हलचल मच गई तथा सन्तों ने जन–जागरण कार्य का उत्तरदायित्व लिया। उन्होंने महाराष्ट्र के उत्थान के लिये आध्यात्मिक पृष्ठभूमि तैयार की। इसी समय अकबर के नेतृत्व में मानभाव आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसने धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी। मानभाव के मंच से स्वतन्त्र विचारों को प्रोत्साहन दिया गया।

इस आन्दोलन द्वारा अन्धविश्वास, जाति–पाति व ऊँच–नीच की भावना तथा अस्पृश्यता का स्वतंत्र रूप से विरोध किया गया। इस आन्दोलन में नाई, दर्जी, कुम्हार, माली आदि सभी वर्ग सम्मिलित था। इसमें स्त्रियों को भी धर्म प्रचार के लिये सम्मिलित किया गया। पन्द्रहवीं सोलहवीं सदी में धार्मिक आन्दोलनों द्वारा समाज सुधार की परम्परा चलती रही।

सामाजिक तथा आर्थिक समानता– मराठा समाज में 16वीं सदी में जाति–पाति और ऊँच–नीच की भावना अधिक नहीं थी जितना कालान्तर में हो गई। तब स्त्रियाँ भी सामाजिक जीवन में भाग लेती थीं। इस प्रकार की सामाजिक भावनाओं में मराठों को एकता के सूत्र में बांध दिया और उनमें यह ऊँच–नीच की भावना नहीं रही जैसी शेष भारत के अन्य भागों में पाई जाती है। मराठों में आर्थिक विषमता या भेदभाव भी नहीं था। अधिक लोग अमीर नहीं थे। शोषण करने वाले वर्ग के अभाव में मराठों ने आर्थिक समानता भोगी।

मराठों की चरित्रगत विशेषतायें– महाराष्ट्र में वर्षा की कमी और जीवन–निर्वाह की कठिनाइयों ने मराठों को कठोर परिश्रमी और आत्मविश्वासी बना दिया अन्यथा उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना महाता। कोई भी मराठा घमंडी नहीं होता और जब वह संघर्ष करता है तब वह उसके परिणाम के विषय में विड़दार विमर्श कर लेता है। अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिये वह किसी भी साधन को प्रयुक्त करने में अधिक सोचता नहीं। मराठा सैनिक एक भयंकर शत्रु है जो धैर्य, चतुराई और युद्ध कौशल से संघर्ष करता है और समय पड़ने पर वह साहस और चतुरता का परिचय देता है।

साहित्य और भाषा – मराठी भाषा तथा साहित्य ने भी महाराष्ट्र के लोगों को एक सूत्र में बाँधने में महत्वपूर्ण भूमिका अभिनीत की। सन्तों के भक्ति गीत तथा नीतिवचन मराठी भाषा–भाषियों के प्रत्येक घर में लोकप्रिय हुये। श्रीधर की पोथी का पाठ घर–घर होने लगा। गोधाजी गायक ने समूचे महाराष्ट्र में गाँव–गाँव में भ्रमण कर जनता को वीर गाथायें सुना–सुना कर मंत्र–मुग्ध किया। इन सब से लोग एक दूसरे के सन्निकट आ सके। समस्त मराठे इस भाषा के प्रभाव से एकता के सूत्र में बंध गये और इनमें अपनी विशिष्टिता का बोध दृढ़ता से घर कर गया।

शासकीय तथा सैनिक अनुभव – शिवाजी के प्रादुर्भाव के पहले ही मराठा लोग शासन और युद्ध विद्या में शिक्षा पा चुके थे। बेनीप्रसाद का मत है कि ष्मुगलों के दक्षिण अभियान का प्रमुख महत्व यह है कि आक्रमण से मराठों को युद्ध–शिक्षा प्राप्त करने का और राजनीतिक प्रभाव जमाने का अचूक अवसर प्राप्त हुआ।

शासकीय एवं युद्ध शिक्षा मराठों को दक्षिण के मुसलमान राज्यों से मिली। मराठे इन राज्यों के राज्यकर–विभाग में सेवारत थे और कुछ मुसलमान शासकों के मन्त्री थे। मुदार राव, मदन पण्डित और राज–राय परिवार के कितने ही सदस्य यदा–कदा गोलकुण्डा की रियासत के दीवान और मन्त्री रहे।

शिवाजी ऐसे योग्य नेता की प्राप्ति – सोलहवीं शताब्दी तक मराठों के राज्य निर्माण तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावनाएँ उत्पन्न हो चुकी थीं। इसी समय गुरु रामदास के शिष्य भोसला वंश के शिवाजी ने मराठों का नेतृत्व किया। शिवाजी वीर तथा साहसी थे। उनका व्यक्तित्व महान था और उनके व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव मराठों पर पड़ा और उन्होंने अपनी छत्र छाया में मराठों को संगठित किया। इन उपरोक्त उद्धृत कारणों से मराठों का उत्कर्ष हुआ।

शिवाजी (1627–1680 ई०) राजनीतिक व सैनिक उपलब्धियाँ – शिवजी का जन्म 20 अप्रैल, 1627 ई० पूना के उत्तर में स्थित जुन्नार नगर के समीप शिवनेर के पहाड़ी किले में हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि उनका जन्म 9 मार्च, 1630 ई० को हुआ था। माना जाता है इनके पिता शाहजी भोसले का सम्बन्ध चित्तौड़ के सिसोदिया वंश से था और माता जीजाबाई का देवगिरि के यादव (या जाधव) वंश से। इस प्रकार शिवाजी की धमनियों में दो राजवंशों का रक्त प्रभावित हो रहा था।। शाहजी भोसले पहले अहमदनगर के राजदरबार में एक उच्च पद पर था किन्तु मुगलों द्वारा अहमदनगर को विजित कर लेने पर उसने बीजापुर राज्य में नौकरी कर ली। वे अपने जागीर से प्रायः अनुपस्थित रहते थे, अतः शिवाजी को शिक्षा का भार उनकी माता जीजाबाई पर पड़ा। शाहजी भोसले ने अपनी पूना की जागीर का भार दादा कोणदेव नामक एक ब्राह्मण को सौंप दिया और शिवाजी की माता जीजाबाई को दादा के संरक्षण में रख दिया। शाहजी भोंसला स्वयं अपनी दूसरी स्त्री तुकाबाई के साथ अपनी नई जागीर में रहते थे। इस प्रकार शिवाजी के शिक्षा का भार दादा कोणदेव तथा जीजाबाई पर पड़ा।

कुछ महान भारतीय शासकों की भाँति शिवाजी निरक्षर थे। उनकी माता ने रामायण, महाभारत, गीता आदि धार्मिक पुस्तकों को सुना सुनाकर उनमें वीरता, परिश्रमशीलता आदि की भावनाएँ भरी थीं। दादाजी कोणदेव ने उन्हें घुड़सवारी, शस्त्र–विद्या, आखेट और शासन प्रबन्ध की दीक्षा दी थी। शिवाजी सभी विद्याओं में कुशल हो गये थे। इसके अतिरिक्त स्वामी रामदास तथा तुकाराम ने भी शिवाजी को राजनीतिशास्त्र की शिक्षा दी। शिवाजी ने अपने पहाड़ी प्रदेशों का भ्रमण किया और महाराष्ट्र की अवनति दशा को स्वयं अपनी आंखों से देखा। उन्होंने महाराष्ट्र को स्वतन्त्र कराने का दृढ़ संकल्प किया।

शिवाजी के लक्ष्य एवं उद्देश्य के विषय में विद्वानों में मतभेद सा है। कुछ विद्वानों का मत है कि शिवाजी महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करना चाहते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि वह पड़ोसी राज्यों की सहायता करना चाहते थें। कुछ विद्वानों की धरणा है कि शिवाजी का लक्ष्य सम्पूर्ण भारत में हिन्दू पादशाही स्थापित करना था। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये वे दिल्लो दरबार गये थे जिससे वहाँ का ज्ञान प्राप्त हो सके। सभी विद्वान इस निष्कर्ष पर आते हैं कि शिवाजी भारत में हिन्दू पादशाही स्थापित करना चाहते थे।

शिवाजी का उत्कर्ष एवं विजय – शिवाजी मुगलों तथा बीजापुर के सुल्तान के विरुद्ध था अतः उसने सिंहगढ़ के दुर्ग पर 1644 ई० में अपना अधिकार कर लिया और रामगढ़ के दुर्ग का निर्माण करके अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली। इसके उपरान्त शिवाजी ने 1646 ई० में बीजापुर के तोरण नामक पहाड़ी दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इस दुर्ग में उसे 2 लाख हून का खजाना मिला। उसने इस धन का सदुपयोग कर अपनी सेना बढ़ायी। 1648 ई० में शिवाजी ने एक षड्यन्त्र के द्वारा श्अजेयश, श्पुरन्दरश दुर्ग को नीलोजी नीलकण्ठ से छीन लिया। 1656 ई० में उसने जावली को विजित किया और रायगढ़ नाम का दुर्ग बनवाया। जावली राज्य मराठा सरदार चन्द्रराव मोरे के आधिपत्य में था और सतारा जिले की उत्तर–पश्चिमी सीमा के अन्तिम कोने पर स्थित था। चन्द्रराव ने शिवाजी के विरुद्ध उस प्रदेश के बीजापुरी गवर्नर के साथ साँठ–गाँठ कर दक्षिण तथा दक्षिण–पश्चिम में शिवाजी के विस्तार को रोक दिया था। अतः शिवाजी ने उससे मुक्ति प्राप्त करने और जावली पर अधिकार करने के लिये एक षड्यन्त्र रचा। उसने घातकों द्वारा चन्द्रराव का वध करा दिया और उसकी हत्या के बाद 25 जनवरी, 1656 ई० को जावली पर आक्रमण कर दुर्ग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस जावली के अधिकार में आ जाने से अन्य विजयों के लिये शिवाजी का हौसला बढ़ गया। जावली की विजय शिवाजी के जीवन में एक उल्लेखनीय घटना थी, क्योंकि इस विजय के बाद, उसके राज्य के दक्षिण–पश्चिम में विस्तार के लिये द्वार खुल गये। दूसरे, इस विजय से इसकी सैनिक शक्ति बहुत बढ़ गई, क्योंकि सेना के कई हजार पैदल मावले सिपाही उसकी सेना में भरती हो गये। जावली की विजय से शिवाजी मावल प्रदेश का स्वामी बन गया।

कोंकण विजय – जब औरंगजेब उत्तरी भारत में गृह युद्ध के कारण कोंकण की ओर विशेष ध्यान न दे पा रहा था, शिवाजी ने इस अवसर का लाभ उठाया और अगस्त 1657 ई० में जंजीरा के सिद्दियों पर आक्रमण किया पर उसको सफलता न मिल पाई। अन्त में कोंकण पर आक्रमण करके उत्तरी कोंकण के कत्याड़ तथा भिवान्डी भू–भाग पर अधिकार कर लिया। इसके बाद दक्षिण कोंकण पर अधिकार करके वहाँ अपना नियमित शासन स्थापित किया।

बीजापुर के अफजल खाँ का वध– शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति से बीजापुर के सुल्तान अधिक भयभीत थे। इस समय बीजापुर का सुल्तान महम्मद आदिलशाह अल्प वयस्क था। राज्य का सारा काम राजमाता बडी साहिबा तथा नये प्रधान मन्त्री ख्वासखा के हाथ में था। शिवाजी की गतिविधियों से ये लोग । अतः शिवाजी से निपटने के लिये सितम्बर 1659 में एक योग्यतम पठान सेनानायक अब्दुल भटारी को, जो अफजल खाँ की उपाधि से विभूषित था, शिवाजी के विरुद्ध भेजा। उसने परेशान एवं भयभीत हो गये थे। शिवाजी के मावली देशमुखों, अफसरों, और सेना को फुसलाने का प्रयत्न किया। कुछ देशमुख उससे जा भी मिले। अफजल सितम्बर 1659 ई० में बीजापुर से चलकर पण्ढरपुरा आया और बिठोवा मन्दिर की मूर्ति को नष्ट किया। वहाँ से वह वर्ड के लिये प्रस्थान किया। वहाँ उसने शिवाजी का पक्ष लेने के कारण बालाजी नायक निम्बालकर से दो लाख का जमाना वसूल किया। उसने मावल देश में घुसकर शिवाजी पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया था, किन्तु शिवाजी अपना डेरा जावली के जंगली जिले में डाले हये था, अतरू अफजल खाँ ने शिवाजी पर सीधा हमला करने की नीति को छोडकर उसको जाल में फसाने का प्रयत्न किया और उसने प्रतापगढ़ जाकर डेरा डाला। उसने कृष्णाजी भास्कर को भेजकर शिवाजी से आने की प्रार्थना की। उसने प्रतिज्ञा की कि वह शिवाजी द्वारा अधिकृत कोंकण प्रदेश और दुर्ग को उसे दे देगा।

शिवाजी को कृष्णजी भास्कर से अफजलखाँ के कपटपूर्ण विचार की गन्ध मिल गई थी। उन्होंने शर्त के साथ मिलने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। शिवाजी पर्ण तैयारी के साथ अफजल से मिलने गया। निर्धारित स्थान पर उसने अपनी शक्तिशाली सैनिक टकडी को छिपा दिया। अपने वस्त्रों के नीचे शिवाजी ने कवच पहन लिया और सिर पर पगडी के नीचे लोहे की टोपी धारण कर ली। इसके अतिरिक्त संकटकाल के भेट हई। शिवाजी ने पंडाल में पहुँच कर अफजल खाँ को सलाम किया जब अफजल ने गले मिलने के लिये शिवाजी को आलिंगनबद्ध कर लिया और उनका गला दबाने की चेष्टा करने लगा, शिवाजी ने फौरन सम्भल कर बघनखें से अफजल का पेट फाड़ डाला और फिर उसे अफजल की बगल से भी घुसेड़ दिया। सैयद कदा ने शिवाजी का सामना किया और अपनी तलवार से उसने शिवाजी की एक ही वार से पगड़ी काट दी। तभी जीव महाला शिवाजी के सहयोगी ने तलवार का वार करके सैयद का दाहिना हाथ काट दिया और उसे मार डाला। शंभूजी कावजी शिवाजी का दूसरा सहयोगी ने अफजल का शिर काट कर विजय के साथ उसे शिवाजी के सामने पेश किया जिसे शिवाजी ने ऊपर पहाड़ी चोटी पर गाड़ दिया।

शिवाजी का मुगलों से संघर्ष – औरंगजेब ने अपने मामा शाइस्ताखाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। शाइस्ता खाँ बीजापुर को अपनी ओर मिलाकर शिवाजी पर निरन्तर आक्रमण करने लगा। उसने कई मराठा–दुर्गों पर अधिकार कर लिया और महाराष्ट्र को नष्ट सा कर दिया। 19 मई, 1660 ई० को वह पूना पहुँच गया और उसने शिवाजी के लाल महल को अपना निवास स्थान बना लिया। शिवाजी अपने दुर्गों के हाथ से निकल जाने के कारण अधिक चिन्तित थे। उनके पास इतनी शक्ति न थी कि वे बीजापुर तथा मुगलों की सम्मिलित शक्ति का सामना करते। अतः उन्होंने एक अन्य योजना के अनुसार 15 अप्रैल 1663 ई० में रमजान के दिनों में रात्रि में भेष बदलकर महल पर 200 सैनिकों के साथ आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में शिवाजी को अधिक सफलता मिली परन्तु शाइस्ता खाँ अपने हाथ का अंगूठा कटाकर भाग निकला। मुगल सैनिक मराठों का पीछा न कर सके और वे भाग गये। इससे शिवाजी की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और शाइस्ता खाँ का अधिक अपमान हुआ। औरंगजेब ने रुष्ट होकर उसे दण्ड देने के लिये बंगाल भेज दिया।

सूरत की प्रथम लूट – (1664 ई०) इस निर्भीक साहस के कार्य के बाद शिवाजी ने सबसे अधिक समृद्ध बन्दरगाह सूरत पर प्रबल आक्रमण कर इसे ही लूटने का विचार किया। वहाँ के मुगल गवर्नर ने शिवाजी से सन्धि करनी चाही पर शिवाजी तैयार न हुये और उन्होंने सूरत नगर को खूब लूटा। इस आक्रमण में लगभग दस करोड़ रुपये की सम्पत्ति मरहठों के हाथ आई।

जयसिंह और शिवाजी का संघर्ष व पुरन्दर की संधि – (1665 ई०) औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ की असफलता और सूरत की लूट से अधिक दुःखी होकर शिवाजी को कुचलने के लिये राजा जयसिंह को नियुक्त किया। जयसिंह ने सर्वप्रथम दक्षिण की समस्त शक्तियों को अपना मित्र बनाया फिर सासवाड़ के दक्षिण–पश्चिम में स्थित पुरन्दर के दोहरे दुर्ग (किले) पर विजय की योजना बनाई। पहले उसने पुरन्दर विजय के द्वार बज्रगढ़ पर विजय प्राप्त की। इसके उपरान्त पुरन्दर का घेरा डाला। इसी मध्य मरहठा–नगरों को भी लूटा। पुरन्दर के घेरे में मुगलों को विशेष क्षति तथा कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। दो माह के घेरे और लड़ाई के बाद जयसिंह ने दुर्ग के पाँच बुर्ज और एक बाड़ा छीन लिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि पुरन्दर का मुख्य दुर्ग भी न बच सकेगा। राजपूत सेनापति ने अपनी सारी सेना को मुख्य मार्ग पर ही लगा दिया। यहाँ मराठा आक्रमण का वीर सेनापति मुरारबाजी प्रभु वीरगति को प्राप्त हो गया। उसकी मृत्यु से शिवाजी अत्यधिक दुःखी हुये और अन्त में उन्होंने राजा जयसिंह से 15 जून 1665 ई० को पुरन्दर की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार–

(i) स्वतन्त्र मराठा सर्दार शिवाजी ने अपने 23 दुर्ग, कोडाना, लौहगढ़, तिकोना, पुरन्दर आदि मुगलों को दे दिये। उससे लगे हुये प्रदेश भी मुगलों को दिये गये जिसकी वार्षिक आय 4 लाख हुन थी।

(ii) रायगढ़ के साथ–साथ शिवाजी के 12 दुर्ग और उससे लगी हुई भूमि जिसकी वार्षिक आय 1 लाख हुन थी, शिवाजी के ही अधिकार में रहे।

(iii) इस सन्धि के अनुसार एक शर्त थी कि शिवाजी स्वयं मुगल दरबार में उपस्थित नहीं होंगे वरन उसका पुत्र शम्भू जी पंच हजारी मनसबदार के रूप में मुगल दरबार में रहेगा।

(iv) इस सन्धि के अनुसार यह भी निश्चित हुआ कि यदि शिवाजी को ऊपरी तथा निचले कोकण का भाग प्राप्त हो जायेगा तो वह सम्राट को 13 किश्तों में 40 लाख रुपया देंगे। शिवाजी यहाँ पर जयसिंह की चत्राई के समक्ष पराजित हो गये। शिवाजी को अधिक भू–भाग मुगलों को देना पड़ा। इस भाँति पुरन्दर की संधि पूर्णतया जयसिंह की कूटनीतिक चाल थी।

शिवाजी की आगरा यात्रा– जयसिंह शिवाजी तथा औरंगजेब से एक बार भेंट अवश्य करना चाहता था। शिवाजी भी एक बार आगरा जाकर मुगल राजनीति का अध्ययन करना चाहते थे। अतः 1666 ई० में शिवाजी को पूर्ण आश्वासन देकर जयसिंह ने मुगल दरबार में जाने के लिये तैयार कर लिया। शिवाजी मई, 1666 ई० को अपने पुत्र शम्भा जी के साथ आगरा गये। मुगल दरबार में औरंगजेब के व्यवहार तथा तृतीय श्रेणी के मनसबदारों में स्थान देखकर वे क्रोधित हो उठे और अलग हट गये। औरंगजेब ने उन्हें बन्दी बना लिया। परन्तु शिवाजी मिठाई की टोकरी में बैठकर बन्दीगृह से बाहर निकल भागे। औरंगजेब उन्हें पकड़वाने का प्रयत्न करता रहा पर सफल न हो सका। अब जयसिंह के स्थान पर जसवन्त सिंह दक्षिण का सूबेदार नियुक्त हुआ और उसकी सहायता से शिवाजी को राजा की उपाधि प्राप्त हो गयी।

शिवाजी का मुगलों से पुनः संघर्ष– आगरा से वापस आने के बाद तीन वर्षों तक शिवाजी अपने शासन को संगठित करते रहे। इधर सम्राट् दक्षिण की अन्य शक्तियों को दबाने में व्यस्त रहा। 1669 ई० में औरंगजेब ने पुनः दक्षिण के सूबेदार को शिवाजी को ध्वस्त करने का आदेश दिया। शिवाजी ने अपने खोये हुये दुगों को पुनः प्राप्त करना आरम्भ कर दिया और कल्याण, भिवांडी, पुरन्दर, सिंहगढ़ पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। शिवाजी को शासन व्यवस्था के लिये धन की अतीव आवश्यकता थी अतरू 1670 ई० में उन्होंने सूरत को दूसरी बार लूटा तथा वहाँ से असंख्य धनराशि प्राप्त की। अब शिवाजी ने समुद्र तट पर भी विजय प्राप्त कर लिया था और उनका राज्य अधिक विस्तृत हो गया था। अब वे मुगल क्षेत्रों से चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल करते थे। बीजापुर तथा गोलकुण्डा से वे कर प्राप्त करते थे। 1674 ई० में रायगढ़ के दुर्ग में बड़े समारोह तथा हिन्दू

शास्त्र–विधि के अनुसार शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ। इस अवसर पर बड़े–बड़े पदाधिकारी उपस्थित थे। शिवाजी के राजा स्वीकार किये जाने पर हिन्दुओं में नई उत्तेजना आ गई।

मुगल सेना पर आक्रमण – राज्याभिषेक में अधिक धन खर्च होने से शिवाजी का राजकोष रिक्त हो गया था। अतः उन्होंने बीजापुर, गोलकुण्डा तथा मुगलों के कुछ प्रान्तों को लूटा किन्तु अधिक धन न मिलने पर उन्होंने दक्षिण में बहादुर खाँ के अधीन मुगल सेना पर आक्रमण किया और एक लाख रुपया और दो सौ घोड़े लूट में प्राप्त किये।

जंजीरा के सिद्दियों से युद्ध – जंजीरा बम्बई से 5 मील दक्षिण में स्थित एक पहाड़ी स्थान है। 1669 ई० में शिवाजी ने जंजीरा पर आक्रमण किया परन्तु सफलता न प्राप्त कर सके।

कर्नाटक विजय – शिवाजी को धन की विशेष आवश्यकता थी। उन्होंने दक्षिण के राज्यों की दुर्बलता का विशेष लाभ उठाया और गोलकुण्डा के सुल्तान की सहायता से बीजापुर के अधीन राज्य कर्नाटक पर आक्रमण कर दिया। इसी समय शिवाजी ने अपने व्याकोची के साथ भी संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। अन्त में दोनों भाइयों में सन्धि हो गई।

शिवाजी के अन्तिम दिन सुख से व्यतीत नहीं हुये। उनका पुत्र शम्भाजी मुगलों से जा मिला। मुगलों ने शिवाजी के विरुद्ध युद्ध जारी कर दिया। शिवाजी में अब अधिक शक्ति शेष न थी। 23 मार्च, 1680 ई० में ज्वर से पीड़ित हुये और उसके कुछ दिनों बाद ही 4 अप्रैल, 1680 ई० को उनका निधन हो गया।

प्रश्न न0 11– मुगलकाल की स्थापत्यकला एंव चित्रकला की विवेचना कीजिए।

उत्तर– भवन निर्माण कला के क्षेत्र में हिन्दू मुस्लिम कला के संगम के फलतः अनेक विशाल एवं भव्य–भवनों का निर्माण हुआ। मुगल काल में यह कला उत्तरोत्तर विकसित होती गई। मुगल काल के भवनों में हिन्दू–मुस्लिम मिश्रित कला का प्रभाव और अधिक स्पष्ट हो गया था। औरंगजेब अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण कलाओं के प्रति उदासीन था अन्यथा समस्त मुगल सम्राट् स्थापत्य कला से लगाव रखते स्वावर के होकर अकबर तक भारतीय शैली पर ईरानी प्रभाव पड़ा फलतः एक नवीन राष्ट्रीय शैली का जन्म हुआ। ईरानी व भारतीय कला के सम्मिश्रण के बाद भी भारतीय प्रभाव की प्रधानता बनी रही। हैवेल का मत है कि श्मुगल कलाश विदेशी एवं देशी शैलियों का सम्मिश्रण प्रस्तुत करती है। आरम्भ में इसमें लाल पत्थर का प्रयोग किया गया तथा इमारतों को विशाल एवं दृढ़ बनाने पर बल दिया गया लेकिन बाद में इमारतों में सफेद संगमरमर के प्रयोग को सम्मिलित किया गया तथा उन्हें नक्काशी, सोना–चाँदी के प्रयोग और रंगीन बेल–बूटों, आदि के द्वारा अत्यधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया। यह सभी कुछ मिलाकर मुगल स्थापत्य कला श्रेष्ठ बनी और उस समय में भव्य भवनों का निर्माण हुआ।

प्रथम मुगल बादशाह बाबर भवन–निर्माण करवाने का शौकीन था। बाबर राजा मानसिंह और राजा विक्रमजीत द्वारा बनवायी गई ग्वालियर की इमारतों से अधिक प्रभावित हुआ था। यद्यपि कला का पारखी होने के कारण वह उनके दोषों को भी समझ सका था। बाबर की कलाप्रियता का परिचय उसकी आत्मकथा श्तुजूक–ए–बाबरीश से मिला है, वह लिखता है कि ष्मैंने आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर तथा कौल आदि स्थानों पर भवन निर्माण में 1491 संगतराशी को लगाया था।ष उसके इस कथन से प्रतीत होता है कि उसने इन स्थानों पर सार्वजनिक भवनों का निर्माण न करवाकर कुएं, स्नानागार, तालाब तथा फव्वारों का निर्माण करवाया था जो सुदृढ़ता के अभाव के कारण नष्ट हो गये। उसके समय की तीन मस्जिदें प्राप्त होती हैं। उसके द्वारा बनवाई गई एक मस्जिद पानीपत में काबुली बाग में है और दूसरी रुहेलखण्ड के सम्भल में। ये दोनों मस्जिदें 1529 में तैयार की गई थीं। उसके समय की तीसरी मस्जिद अयोध्या में है। परन्तु इन तीनों में से कोई कला के श्रेष्ठ नमूना नहीं स्वीकार की जा सकती है। हुमायूँ भी बाबर की ही भाँति कला प्रेमी था किन्तु दुर्भाग्यवश उसका सम्पूर्ण जीवन कष्टों में व्यतीत हुआ। फिर भी हुमायूँ को उसे जो समय मिला उसमें उसने कुछ भवनों का निर्माण करवाया था। दिल्ली में उसने श्दीन पनाहश नामक एक भवन का निर्माण करवाया था। इसका निर्माण बड़ी शीघ्रता में किया गया था जिसके कारण इसमें कलात्मक सौन्दर्य तथा सुदृढ़ता का अभाव रहा। इसके अतिरिक्त उसने आगरा तथा फतेहाबाद (हिसार) में दो मस्जिदों का निर्माण करवाया था।

अकबर का शासन काल प्रत्येक क्षेत्र में सम्मिश्रण तथा समन्वय का काल था। भारत में वह एक मिश्रित संस्कृति के स्वप्न को साकार करने की आकांक्षा रखता था। इसके निमित्त उसने संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन प्रयोगों को जन्म दिया। इसीलिये उसके द्वारा निर्मित भवनों में ईरानी तथा भारतीय स्थापत्य कला के तत्व स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। अकबर ने देशीय तथा विदेशी शैलियों के मध्य बड़ा सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया। उसने अपनी उदारता एवं सहिष्णुता को स्थापत्य कला के माध्यम से भवनों में समाहित करने की चेष्टा की थी। अकबर का समकालीन इतिहासकार अबुल फजल लिखता है कि ''बादशाह सुन्दर भवनों की योजना बनाता है और अपने मस्तिष्क एवं हृदय के विचारों को पत्थर और गारे का रूप प्रदान करता है।''

अकबर ने अपने भवनों में अधिकतर लाल पत्थरों का ही प्रयोग किया है। इसका कारण लाल पत्थरों का अधिकता से पाया जाना था। इसके अतिरिक्त उसने कुछ भवनों में संगमरमर का भी प्रयोग किया है। अकबर के शासन में 'हुमायूँ का मकबरा' 1564 और 1570 ई० के बीच हुमायूँ की एक रानी हाजी बेगम के द्वारा दिल्ली में

बनवाया गया। यह इमारत चार–बाग पद्धति पर बनाई गई है। अतः यह मुगल शैली की प्रथम सुन्दर कृति मानी जा सकती है। इसे ईरानी संकल्पना की भारतीय व्याख्या माना गया है। हुमायूँ के मकबरे के ऊपरी भाग को सुसज्जित करने के लिये सुदृढ़, सुडौल तथा सुन्दर गुम्बद का निर्माण किया गया। अकबर के समय में आगरा, लाहौर और इलाहाबाद के किले बनवाये गये, आगरा का किला अकबरी शैली का सर्वप्रथम उदाहरण है। इसका निर्माण कार्य अकबर के दरबार के प्रधान कारीगर कासिम खाँ की देखरेख में हुआ था। इसका निर्माण कार्य 1565 ई० में प्रारम्भ हुआ और लगभग पन्द्रह वर्षों में पूर्ण हुआ। यह किला यमुना नदी के दायें किनारे पर लगभग डेढ़मील के घेरे में स्थित है। किले के अन्दर अकबर ने लाल पत्थरों से पाँच सौ से अधिक भवनों का निर्माण करवाया था। इस किले में जहाँगीरी महल स्थित है जिसका निर्माण अकबर ने अपने पुत्र तथा उत्तराधिकारी शाहजादा सलीम के रहने के लिये करवाया था। इसका निर्माण भी लाल पत्थरों से किया गया है। इस महल की शैली अधिकतर हिन्दू स्थापत्य कला की ओर झुकी हुई है। आगरा के किले के अन्दर जहाँगीरी महल के निकट ही अकबरी महल का निर्माण हुआ था किन्तु अब यह ध्वंसात्मक अवस्था में है। लाहौर के किले का निर्माण भी अकबर ने आगरा के किले के निर्माण के समय करवाया था। लाहौर के किले की योजना आगरा के किले से उच्च है। इसके निर्माण में भी लाल पत्थरों का प्रयोग किया गया है। लाहौर के किले में भी अनेक महलों का निर्माण करवाया गया था। इनमें शिल्पकारी का बड़ा सुन्दर कार्य किया गया था। अकबर ने 1583 ई० में इलाहाबाद के किले का निर्माण करवाया था जो गंगा और यमुना दो नदियों के संगम पर स्थित है। इसका बहुत सा भाग नष्ट हो गया है और केवल कुछ भवन शेष हैं। किले के अन्दर शेष भवनों में 'जनाना महल' नामक एक सुन्दर मण्डप अभी सुरक्षित अवस्था में है। अकबर ने अपने साम्राज्य की सीमाओं की सुरक्षा के लिये अजमेर (1570 ई०) तथा अटक (1581) में किलों की स्थापना की थी। अटक का किला ध्वंसावशेष अवस्था में है।

फतेहपुर सीकरी – आगरा से कुछ दूरी पर यह गाँव स्थित था। यहीं प्रसिद्ध सूफी शेख सलीम चिश्ती रहा करते थे जिनके दर्शन के लिये अकबर प्रायः सीकरी जाया करता था। शेख सलीम ने अकबर से प्रसन्न होकर सन्तान प्राप्ति का आशीर्वाद दिया जिसके फलस्वरूप अकबर के पुत्र का जन्म हुआ जिसका नाम शेख सलीम चिश्ती के नाम पर शाहजादा सलीम रखा गया। सीकरी अकबर के लिये एक सौभाग्यपूर्ण स्थान सिद्ध हुआ और इसके प्रति उसका लगाव भी बढ़ गया। उसने इस गाँव (सीकरी) को नगर का रूप प्रदान करने का निश्चय किया। अकबर ने इस नगर को अपनी राजधानी बना ली। उसके आदेशानुसार इस नवीन नगर में महलों, मस्जिदों, खानकाहों (मठों), स्नानागारों तथा अन्य भवनों का निर्माण किया गया। यहाँ की इमारतों में दीवान–ए–आम, दीवाने–खास, पंच महल, तुर्की सुल्ताना का महल, खास–पहल, जोधाबाई महल, मरियम महल, बीरबल महल, हीरन–महल, जामी मस्जिद, हाथी–पोल, बुलन्द दरवाजा और शेख सलीम चिश्ती का मकबरा है। इनके अतिरिक्त, वहाँ और भी सैकड़ों इमारते हैं। ये सभी सुन्दर हैं और सम्भवतया, एक ही स्थान पर इतनी सुन्दर इमारतों का किसी अन्य स्थानों पर पाया जाना सम्भव नहीं है। पाँच मंजिलों के पंचमहल में जितने भी स्तम्भ हैं ये सभी विविध रूपों के हैं। प्रत्येक स्तम्भ की सजावट एक दूसरे से भिन्न है, और उनमें प्रायः कलश, घष्टियाँ, विभिन्न फूल और पत्तों को बनाया गया है। तुर्की सुल्ताना का महल इतना सुन्दर है कि पर्सी ब्राउन ने उसे स्थापत्य कला का मोती कहा है। जोधाबाई का महल यह संकेत देता है कि रहने के लिये मुगल परिवार के सदस्य किसी भाँति की व्यवस्था को पसन्द करते थे। अकबर की पत्नी मरियम के महल पर फारसी कला का प्रभाव है। उसके स्तम्भ और दीवारें बन्दर, हाथी, चीता आदि जैसे जानवरों और विभिन्न रंगों के पत्थरों में मानव–आकृतियों से सजाई गई थीं। जामी मस्जिद भारत में बनी हुई मस्जिदों में एक श्रेष्ठ स्थान रखती है। इस मस्जिद पर लिखा है कि यह पवित्र स्थल (मक्का) की अनुकृति (कनचसपबंजम) है। भूमि से 175 फीट ऊँचा और पहले चबूतरे से 134 फीट ऊँचा बुलन्द दरवाजा स्वयं एक विशाल और सुन्दर इमारत माना जा सकता है। इस पर सुन्दर मेहराबों का निर्माण हुआ है तथा उनको सुसज्जित करने के लिये उन पर कलश की योजना है। शेख सलीम चिश्ती की कब्र पर सीपियों से बने हुये स्तम्भ सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। इसमें कोष्ठकों का भी कुशलतापूर्वक प्रयोग किया गया है।

अकबर के पश्चात् उसका पुत्र जहाँगीर सिंहासन पर आसीन हुआ। उसके लिये अकबर की भवन निर्माण योजना को उसी गति से कार्यान्वित करना एक कठिन कार्य था। अतः जहाँगीर ने स्थापत्य कला की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त जहाँगीर की रुचि भी स्थापत्य कला की अपेक्षा चित्रकारी तथा बाग–बगीचों के प्रति अधिक थी। किन्तु फिर भी जहाँगीर ने जिन भवनों का निर्माण करवाया उनमें अकबर के काल की स्थापत्य कला का उत्कृष्ट स्वरूप झलकता है। जहाँगीर के समय में बनी हुई सबसे पहली इमारत आगरा के निकट सिकन्दरा में अकबर का मकबरा है। इसकी योजना अकबर ने बनायी थी, परन्तु जहाँगीर ने इसमें थोड़ा परिवर्तन किया और उसे पूर्ण किया। अकबर ने इसका नाम वहिश्ताबाद रखा था। इस मकबरे में पाँच मंजिले हैं। अकबर की कब्र संगमरमर की बनी हुई है। कब्र के चारों ओर ईश्वर के 99 नाम अरबी में खुदे हुये हैं। इसके अतिरिक्त इस मकबरे को सुन्दर जालियों के द्वारा सुसज्जित करने का प्रयास किया गया है।

इसकी छतें भी सुदृढ़ तथा सुन्दर पच्चीकारी से युक्त हैं। जहाँगीर के समय की दूसरी इमारत लाहौर में बना उसका स्वयं का मकबरा है। किन्तु वह प्रभावशाली नहीं है। जहाँगीर के समय की बनी हुई महत्वपूर्ण इमारत आगरा का एत्मातुद्दौला का मकबरा है। इसे नूरजहाँ ने अपने पिता एत्मातुद्दौला की कन्न पर बनत्राया था। मकबरे का मुख्य भाग पूर्णतया सफेद संगमरमर का बना हुआ है और इस ढंग की बनी हुई यह पहली मुगल इमारत है। इसमें अधिकतम पच्चीकारी की गई है है और संगमरमर के अतिरिक्त अन्य मूल्यवान पत्थरों का प्रयोग किया गया है। इसमें सुन्दर मेहराबों का निर्माण किया गया है। जहाँगीर के काल की अन्य इमारतों में लाहौर में स्थित मोती मस्जिद तथा अनारकली का मकबरा है जिसका निर्माण जहाँगीर ने करवाया था।

शाहजहाँ के समय में मुगल–स्थापत्य कला अपनी श्रेष्ठता पर पहुँच गई। सफेद संगमरमर और अन्य बहुमूल्य पत्थरों का प्रयोग, अधिकतम पच्चीकारी, कोमती रंगों का प्रयोग, आदि इस समय की कला की विशेषता बन गये। शाहजहाँ को स्थापत्य कला में रुचि थी। उसने न केवल नवीन भवनों का निर्माण कराया बल्कि आगरा और लाहौर के दुर्ग में अकबर द्वारा बनवाई गई कई इमारतों को तुड़वाकर नवीन इमारते संगमरमर से बनवाई। आगरा के दुर्ग में दीवान–ए–आम, दीवान–ए–खास, मच्छी भवन, शीश महल, खास महल, अंगूरीबाग, झरोखा दर्शन का स्थान, शाहवुर्ज, मोती–मस्जिद, नगीना मस्जिद, आदि आगरा में ही जामा मस्जिद, दिल्ली की जामा मस्जिद तथा लाल किला और उसमें बनी हुई इमारतें जैसे दीवान–ए–आम, दीवान–ए–खास, मोती महल, हीरामहल, रंगमहल, नहर–ए–बहिश्त आदि और लाहौर के दुर्ग में दीवान–ए–आम, शाह–वुर्ज, शीश महल, नौलखा महल और ख्वावगाह, आदि शाहजहाँ के समय की प्रमुख इमारते हैं। इनके अतिरिक्त काबुल, कश्मीर, अजमेर, कन्धार, अहमदाबाद आदि विभिन्न स्थानों में भी शाहजहाँ ने अनेक मस्जिद–मकबरे आदि बनवाये थे। परन्तु शाहजहाँ का सबसे श्रेष्ठ भवन आगरा में मुमताज महल की स्मृति में बनवाया गया विश्व विख्यात ताजमहल है जिसे 22 वर्षों में बनवाया गया।

शाहजहाँ के द्वारा निर्मित आगरा के दुर्ग में सभी भवन (इमारतें) अधिक सुन्दर हैं परन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान मोती–मस्जिद का है। इसका निर्माण (1645 ई०–1653 ई०) शाहजहाँ ने तीन लाख रुपये के व्यय से करवाया था, जो सादगी से संयुक्त, कला की पूर्णता का श्रेष्ठ उदाहरण है। दूध की तरह सफेद संगमरमर से बनी हुई यह मस्जिद अपने नाम श्मोतीश की भाँति ही है। आगरा की जामा मस्जिद शाहजहाँ की बड़ी पुत्री जहाँआरा के द्वारा बनवाई गई।

दिल्ली के लाल किले की इमारतें, उनमें जल और फव्वारों का प्रबन्ध, आदि इतना सुन्दर था कि एक जगह लिखा हुआ है–''यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो वह यही है, यही है'' स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु आगरा का ताजमहल का स्थान इन सभी भवनों (इमारतों) में श्रेष्ठ है। एक विस्तृत बगीचे के उत्तरी भाग में सफेद संगमरमर की बनी हुई यह इमारत संसार की श्रेष्ठतम इमारतों में स्थान रखती है। इसके कारीगरों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ इसे अभारतीय तथा कुछ भारतीय कलाकारों की कृति मानते हैं। फादर मेनरिक के अनुसार उसकी योजना वेनिस निवासी जेरोनियों वेरोनियो नामक कलाकार ने बनाई थी। स्मिथ ने भी इस मत का समर्थन करते हुये इसे एक यूरोपीय कृति बताई है। किन्तु पर्सी ब्राउन इस मत का खण्डन करते हुये लिखता है कि ''यह मुगल भवन कला का विधिवत् विकसित रूप है जो परम्परा के अनुसार है तथा बाह्य प्रभाव से पूर्णतः मुक्त है।'' यह प्रमाणित हो चुका है कि इस इसका मुख्य कलाकार उस्ताद अहमद लाहौरी था जिसे शाहजहाँ ने श्नादिर–उल–असरश की उपाधि से विभूषित कर सम्मानित किया था।

बादशाह औरंगजेब को न तो चित्रकला या साहित्य, संगीत आदि में रुचि थी और न ही वास्तुकला मे उसने केवल बहुत थोड़ी सी ही इमारतें बनवाई, पर इनमें से कोई भी उसके पिता, पितामह की सुन्दर इमारतो के समकक्ष नहीं है। शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् हिन्दू–मुस्लिम स्थापत्य कला पतनोन्मुखी हो गयी। मुगल साम्राज्य का पतन तो इसका कारण था ही, पर इसके साथ ही औरंगजेब की ध्धर्मान्धता और संकुचित दृष्टिकोण के कारण और घटनाओं की स्वाभाविक गति से भी स्थापत्य कला का पतन हो चला था। दिल्ली की मोती मस्जिद से औरंगजेब का नाम सम्बन्धित है। यह लाल किले के अन्दर सफेद संगमरमर की मस्जिद है। किन्तु यह मस्जिद शाहजहाँ की मोती मस्जिद के आकार की नहीं है। यद्यपि औरंगजेब ने इसका निर्माण अपने पिता की ही भाँति संगगरमर से करवाया था। इस मस्जिद का निर्माण 1659 ई० में पूरा हुआ। औरंगजेब् ने अपनी प्रिय पत्नी राबिया–उद–दौरानी के मकबरे का निर्माण 1678 ई० में करवाया था। इसकी स्थापत्य कला शैली सुप्रसिद्ध ताजमहल पर आधारित है। किन्तु ताजमहल की तुलना में यह मकबरा कम सुन्दर है मकबरे में कब्र के चारों ओर संगमरमर के अठ पहले पर्दों तथा उसमें कुशल शिल्पकारी उसकी सुन्दरता मे वृद्धि करते हैं।

औरंगजेब के समय में जो कुछ थोड़ी–सी उल्लेखनीय मस्जिदें बनाई गई उनमें लाहौरी की बादशाही मस्जिद अपनी रचना और विशालता के कारण सर्वप्रमुख मानी जाती है। यह औरंगजेब के तोपखाने के दरोगा फिदाई खाँ की देखरेख में बनी थी, और बहुत ही शानदार इमारत है। किन्तु इतनी विशाल होने पर भी यह आगरा और दिल्ली की जामी मस्जिद की तुलना में हीन है। औरंगजेब के आदेश पर एक दूसरी मस्जिद बनारस में बनायी गयी थी। यह सुप्रसिद्ध विश्वनाथ मन्दिर की जगह पर बनी थी, और इसकी मीनारें नगर में बहुत ऊँची थीं। परन्तु यह भी इस काल की कला की अस्थिर प्रकृति को स्पष्ट करती हैय और यह प्रदर्शित करती है

कि सत्रहवीं सदी के अन्त तक वह अपने पूर्व स्तर से कितनी नीचे गिर गयी थीं। एक ऐसी ही ऊँची मस्जिद मथुरा में वीर सिंह देव बुन्देला केशव देव के मन्दिर के स्थान पर बनायी गयी थी। यह लाल पत्थर की बहुत ही विशाल बनी हुई है।

मुगल चित्रकला का विकास – दिल्ली सल्तनत के शासकों ने चित्रकला को संरक्षण नहीं प्रदान किया था। इसका प्रमुख कारण सुल्तानों की चित्रकला की ओर से उदासीनता थी। यद्यपि कुछ स्थापत्य कला कृतियों पर बने चित्र मिलते हैं इनके अतिरिक्त चित्रकला के विकास का कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। मध्यकालीन भारत में चित्रकला का वास्तविक विकास मुगलों के शासन में तीव्रता से अग्रसर हुआ। कला पारखियों ने भारतीय चित्रकला का तकनीकी अथवा चित्रकारी के तरीके के आधार पर उसका वर्गीकरण किया है। हिन्दू शैली को राजपूत और मुस्लिम शैली को मुगल शैली का नाम दिया गया है। विभिन्न शैलियों को श्कलमश के नाम से जाना जाता है। राजपूत चित्रकारी के दो मुख्य प्रतिभाजन हैं–जयपुर कलम और काँगड़ा (काँगणा) कलम। मुगल चित्रकारी कई कलमों में विभक्त हैं जैसे दिल्ली, लखनऊ, पटना, कश्मीरी, दखिनी, ईरानी कलम। ईरानी और भारतीय प्रभावों का सुन्दर सामंजस्य अकबर के शासनकाल में हुआ। जहाँगीर के शासनकाल में भारतीय शैली ने विदेशी तत्वों को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया जिससे एक राष्ट्रीय शैली उभर कर सामने आई। अकबर के समय से यह मुगल चित्रकला कहलाने लगी थी। शाहजहाँ के शासनकाल में इसका ह्रास दृष्टिगोचर होने लगता है। औरंगजेब के समय में इसका पतन हो जाता है।

मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर व हुमायूँ का कोई खास योगदान इनके विकास में नहीं था किन्तु उनकी अभिरुचियाँ चित्रकला के प्रति थी। इस बात का चित्रकला के भावी विकास में काफी प्रभाव पड़ा। बाबर ने अपनी आत्मकथा 'तुजुक–ए–बाबरी'' में बेहजाद की चित्रकारी की बड़ी प्रशंसा की है, किन्तु साथ ही साथ उसकी आलोचना भी की है। बेहजाद के अतिरिक्त बाबर ने शाह मुजफ्फर की भी प्रशंसा की है। बाबर की यह इच्छा थी वह भी बेहजाद जैसे चित्रकारों को अपने राज्य में आमंत्रित करे तथा चित्र कला को विकसित करे। किन्तु इस क्षेत्र में कोई विशेष कार्य न कर सका। हुमायूँ अपना कुछ समय सांस्कृतिक गतिविधियों में देता था। ईरान से आते समय वह वहाँ के दो प्रसिद्ध चित्रकारों ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर–सैय्यद अली को अपने साथ भारत लेता आया। किन्तु हिन्दुस्तान की पुनर्विजय के बाद वह अधिक समय तक जीवित न रहा। अतः वह चित्रकला के विकास के लिये केवल मार्ग ही प्रशस्त कर सका। ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर सैय्यद अली के निरीक्षण में प्रसिद्ध ईरानी ग्रन्थ दास्तान–ए–अमीर हमजा, का चित्रण प्रारम्भ हुआ। यह चित्र चित्रपट श्रेणी में आते हैं। इनमें हिरात शैली का प्रभाव है किन्तु इनमें एक निजत्व है और भारतीय कलाकारों का हाथ है। वेशभूषा और पहनावा भारतीय है। प्राकृतिक चित्रण में भारतीय फल–फूल आदि दिखाई देते हैं और भारतीय देवी–देवताओं की छवियाँ भी मिलती हैं। इन्हीं दोनों ईरानी चित्रकारों ने अकबर के समय चित्रकला के विकास में एक नया अध्याय प्रारम्भ किया। अकबर के शासनकाल में कला के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हुई। उसने योग्य एवं कुशल शिल्पकारों तथा चित्रकारों को संरक्षण एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। यद्यपि इस्लाम में चित्रकला का निषेध है किन्तु फिर भी अकबर ने चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया। अकबर के दरबार में अनेक कुशल चित्रकार थे। अबुल फजल ने अपनी प्रसिद्ध रचना आईने अकबरी में चित्रकारों के नाम इस प्रकार दिये हैं–मीर सैयद अली, ख्वाजा अब्दुल समद, फर्रुख कलम, मिस्कीन, दसवन्त, बसावन, केशवलाल, महेश, माधव, जगन्नाथ, खेमकरन, मुकुन्द, तारा, हरिवंश राम इत्यादि।

अकबर ने अनेक ग्रन्थों को चित्रित करवाया था। इनमें सर्वप्रथम दास्ताने अमीर हमजा है। अकबर ने 'रज्मनामा' (महाभारत), रामायण, 'बाकयात बाबरी', 'अकबर नामा' 'अनवारे–सुहेली', 'तारीखे रशीदी', 'खम्सा निजामी', 'बहरिस्ताने–जामी' आदि ग्रन्थों को चित्रित करवाया। इस प्रकार अकबर ने मुगल चित्रकला–शैली को भारत में स्थापित कर दिया।

जहाँगीर चित्रकला–शैली का प्रेमी और पारखी दोनों ही था। उसके समय में मुगल चित्रकला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई। जहाँगीर के समय में चित्रकला की उन्नति का एक कारण कलाकारों को संरक्षण प्रदान करना था तो दूसरा कारण उसकी कला के प्रति रुचि और उसका अच्छा ज्ञाता होना था। जहाँगीर के शासनकाल (1605–1927 ई०) को मुगल चित्रकला का स्वर्ण युग कहा जाता है। जहाँगीर 'तुजुक–ए–जहाँगीरी' में लिखता है कि मेरी चित्रकला के प्रति रुचि तथा पहचानने की निपुणता इस सीमा तक पहुँच गई थी कि जब किसी मृत तथा आज के चित्रकारों का कोई भी चित्र बिना उसका नाम बताये मेरे सामने आता है तो मै तत्क्षण बता देता हूँ कि यह चित्र अमुक व्यक्ति का है वह यह भी बता सकता था कि चित्र के विभिन्न भाग यदि अलग–अलग व्यक्ति के द्वारा बनाये गये हैं तो कौन सा भाग किस चित्रकार ने बनाया है। जहाँगीर के काल मैं चित्रकला में अधिक प्रगति हुई। विषय और विधि दोनों में नवीनता व सजीवता आई। अब ऐतिहासिक पाण्डुलिपियों के चित्रांकन के स्थान पर प्रकृति चित्रण को अधिक महत्व दिया जाने लगा। पशु–पक्षियों और पेड़–पौधों के जीवन्त चित्र बनाये गये। इन चित्रों के चारों ओर बेल–बूटेदार हाशिये बनाए गए, जिससे चित्रों को अद्भुत सौन्दर्य मिल सके। इस प्रयास में कभी–कभी हाशिये ही इतने सुन्दर बन गये कि मूल पृष्ठ भूमि में चला गया और ऐसा लगने लगा है कि चित्रकार का ध्येय हाशिया बनाना ही था।

जहाँगीर के शासनकाल की चित्रकला की एक मुख्य विशिष्टता यह रही कि अब व्यक्ति चित्र बहुत बड़ी संख्या में बनाये जाने लगे। हरम की बेगमों के चित्र तक बनाये गये। जहाँगीर ने भी अकबर की भाँति हिन्दू चित्रकारों को प्रश्रय प्रदान किया। उस समय के निपुण चित्रकारों में अबुल हसन, नादिर–उज्जमा, साजीवाहन, फरुखवेग, उस्ताद मन्सूर, विशनदास, मनोहर, गोवर्धन, दौलत, मोहम्मद नादिर, उस्ताद मुराद इत्यादि प्रमुख थे। अबुल हसन उस समय का श्रेष्ठतम चित्रकार माना जाता था। अपनी आत्मकथा में स्वयं जहाँगीर ने उसकी प्रशंसा की है।

शाहजहाँ के शासनकाल से ही मुगल चित्रकला का ह्रास दिखाई देता है। जहाँगीर की ''मृत्यु के साथ ही मुगल चित्रकला का प्राण भी निकल गया।'' पर्सी ब्राउन महोदय का यह विचार सत्य ही है। डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना के लेखानुसार शाहजहाँ की रुचि स्थापत्यकला के विकास की ओर अधिक थी किन्तु फिर भी चित्रकला के क्षेत्र में अपने पिता की परम्पराओं को जारी रखा। शाहजहाँ के व्यक्तिगत प्रोत्साहन के अभाव में अब न केवल चित्रकारों की संख्या में कमी हो गई बल्कि चित्रों की भावुकता सजीवता एवं नैसर्गिकता समाप्त हो गई। अब चित्रों में कृत्रिमता नक्काशीपन एवं जड़ता आने लगी। भड़कीले और स्वर्ण रंगों का प्रयोग अधिक होने लगा जिससे आलंकारिक जड़ता उत्पन्न हुई। शाहजहाँ के समय के चित्रों में व्यक्ति चित्र ही खास तौर पर बनाये गये। इन चित्रों की भाव–व्यजंना शून्य है। वे स्थिर मुद्राओं को प्रकट करते हैं। जहाँगीर कालीन चित्रों की विशेषता ही सजीवता थी जो अब जाती रही। शाही संरक्षण समाप्त हो जाने से बहुत से कलाकारों को सामन्तों या अन्य राजा की सेवा में चले जाना पड़ा। उन्हें अपने जीविकोपार्जन हेतु बाजारों में चित्र गृह स्थापित करने पड़े। ऐसी स्थिति में स्तर में गिरावट आ जाना स्वाभाविक ही था। शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह चित्रकला का उदार संरक्षक था। शाहजहाँ के काल में प्रमुख चित्रकार मीर हाशिम, अनूप, चिन्तामणि थे।

औरंगजेब के शासनकाल (1658–1707 ई०) में चित्रकला का पतन निश्चित हो गया और उसकी मृत्यु के बाद तो कुछ शेष न रहा। क्या संगीत, क्या वास्तुकला और क्या चित्रकला इन सब के प्रति न तो उसमें अभिरुचि थी और न ही समय या संसाधन। बीजापुर के आसार महल के चित्रों को उसने कुरूप कर नष्ट कर दिया, सिकन्दरा में अकबरी मकबरे की दीवारों पर की गई चित्रकारी पर सफेदी पुतवा दी। चित्रकारों को संरक्षण देने वाले अमीर अब उन्हें बहुत कम वेतन देने लगे थे। इसके फलस्वरूप चित्रों की किस्म और उनकी श्रेष्ठता की ओर कम ध्यान दिया जाने लगा। फर्रुखसियर के शासन काल (1713–19 ई०) में चित्रकला को नवीन प्रोत्साहन मिला। चित्रकारों ने बड़ी संख्या में चित्र बनाये। पर ये चित्र अकबर, शाहजहाँ और जहाँगीर के काल के चित्रों से निम्न कोटि के थे। इनमें रंगों की सफाई नहीं थी और (इनके) दोषों को छिपाने के लिये बिन्दु रूप से खुदाई के काम का अधिकता से प्रयोग किया जाने लगा था। मुहम्मदशाह ने भी चित्र कला को प्रोत्साहन दिया, किन्तु कोई पहले जैसी कला को न पा सका। अठारहवीं सदी के मध्य भाग से चित्रों की रेखा कृतियों, उनके रंगों, दृश्यों के चुनाव, सौन्दर्य, अनुभूति और अनुपात सभी में आम कमियाँ आ गयीं।

B.A.LL.B. 2nd Sem. Paper-II Sociology-II

प्रश्न 1– जनसंख्या को परिभाषित कीजिए तथा जनसंख्या के कार्य एवं महत्व की व्याख्या कीजिए।

उत्तर– समाजशास्त्र में, ''जनसंख्या'' शब्द सामाजिक संरचनाओं और गतिशीलता को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आइए जानें कि इसका क्या अर्थ है, इसका महत्व क्या है और इसका अध्ययन कैसे किया जाता है।

परिभाषा और महत्व–जनसंख्या किसी विशिष्ट क्षेत्र, जैसे कि शहर, देश या दुनिया में रहने वाले व्यक्तियों का पूरा समूह है। इस समूह को आयु, लिंग, आय, शिक्षा और अन्य जैसी विभिन्न विशेषताओं के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। जनसंख्या की गतिशीलता को समझने से समाजशास्त्रियों, नीति निर्माताओं और शोधकर्ताओं को संसाधनों, सेवाओं और नियोजन के बारे में सूचित निर्णय लेने में मदद मिलती है।

जनसंख्या का आकार और घनत्व–

जनसंख्या का आकार–जनसंख्या का आकार किसी विशिष्ट क्षेत्र में व्यक्तियों की संख्या को दर्शाता है। भोजन, पानी, आवास और स्वास्थ्य सेवा जैसे संसाधनों की मांग को समझने के लिए यह महत्वपूर्ण है। बड़ी आबादी इन संसाधनों की उच्च मांग का संकेत दे सकती है, जबकि छोटी आबादी कम दबाव का संकेत दे सकती है।

जनसंख्या घनत्व–जनसंख्या घनत्व प्रति इकाई क्षेत्र में रहने वाले लोगों की संख्या को मापता है, जैसे कि प्रति वर्ग किलोमीटर या मील। उच्च जनसंख्या घनत्व से भीड़भाड़ हो सकती है, जबकि कम घनत्व प्रति व्यक्ति अधिक उपलब्ध स्थान का संकेत दे सकता है। दोनों परिदृश्यों में महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय प्रभाव हैं।

जनसंख्या वृद्धि–जनसंख्या वृद्धि का मतलब समय के साथ लोगों की संख्या में होने वाले बदलाव से है। यह बदलाव जन्म, मृत्यु और प्रवास के कारण हो सकता है।

जन्म दर–जन्म दर एक वर्ष में प्रति 1,000 लोगों पर जीवित जन्मों की संख्या है। उच्च जन्म दर से जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो सकती है, खासकर अगर मृत्यु दर कम हो।

मृत्यु दर–मृत्यु दर एक वर्ष में प्रति 1,000 लोगों पर होने वाली मौतों की संख्या है। स्वास्थ्य सेवा, स्वच्छता और पोषण में प्रगति के परिणामस्वरूप अक्सर मृत्यु दर कम होती है, जिससे जनसंख्या वृद्धि में योगदान मिलता है।

प्रवास–प्रवास में आप्रवास (किसी क्षेत्र में जाना) और उत्प्रवास (किसी क्षेत्र से बाहर जाना) दोनों शामिल हैं। प्रवास जनसंख्या के आकार और संरचना को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए, उच्च आप्रवास दर वाले क्षेत्रों में जनसंख्या वृद्धि और सांस्कृतिक विविधता में वृद्धि हो सकती है।

जनसंख्या संरचना–जनसंख्या संरचना से तात्पर्य आयु, लिंग और जातीयता जैसी विशेषताओं के आधार पर जनसंख्या की संरचना से है।

आयु संरचना–जनसंख्या की आयु संरचना बच्चों, कामकाजी उम्र के वयस्कों और बुजुर्गों जैसे समूहों में विभाजित है। यह संरचना सामाजिक सेवाओं, श्रम बाजारों और आर्थिक नीतियों को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, वृद्ध होती आबादी को अधिक स्वास्थ्य सेवाओं और पेंशन की आवश्यकता हो सकती है।

लिंग संरचना–जनसंख्या की लिंग संरचना पुरुषों और महिलाओं के अनुपात की जांच करती है। यह अनुपात सामाजिक गतिशीलता, पारिवारिक संरचना और रोजगार पैटर्न को प्रभावित कर सकता है।

जातीय और सांस्कृतिक संरचना–किसी आबादी के भीतर विभिन्न जातीय और सांस्कृतिक समूह उसकी समृद्धि और जटिलता में योगदान करते हैं। सामाजिक सामंजस्य को बढ़ावा देने और संभावित संघर्षों को संबोधित करने के लिए इस विविधता को समझना महत्वपूर्ण है।

जनसांख्यिकीय संक्रमण–जनसांख्यिकीय संक्रमण मॉडल समय के साथ जन्म और मृत्यु दर में होने वाले परिवर्तनों का वर्णन करता है, आमतौर पर चार चरणों में–

पूर्व–औद्योगिक अवस्था – उच्च जन्म और मृत्यु दर, जिसके परिणामस्वरूप धीमी जनसंख्या वृद्धि होती है। संक्रमणकालीन अवस्था रू बेहतर स्वास्थ्य देखभाल और जीवन स्थितियों के कारण मृत्यु दर में कमी आती है, जबकि जन्म दर उच्च बनी रहती है, जिससे जनसंख्या में तीव्र वृद्धि होती है।

औद्योगिक अवस्था – जैसे–जैसे समाज अधिक औद्योगिक होता जाता है, जन्म दर में गिरावट आने लगती है, जिससे जनसंख्या वृद्धि धीमी हो जाती है।

उत्तर–औद्योगिक चरण – जन्म और मृत्यु दर दोनों कम होती हैं, जिससे जनसंख्या का आकार स्थिर रहता है।

जनसंख्या परिवर्तन के प्रभाव–

आर्थिक प्रभाव—जनसंख्या परिवर्तन अर्थव्यवस्था को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित कर सकते हैं। बढ़ती जनसंख्या श्रम शक्ति और उपभोक्ता मांग को बढ़ाकर आर्थिक विकास को बढ़ावा दे सकती है। इसके विपरीत, बढ़ती उम्र की आबादी स्वास्थ्य सेवा और पेंशन लागत के कारण सार्वजनिक संसाधनों पर दबाव डाल सकती है।

सामाजिक प्रभाव—जनसंख्या परिवर्तन सामाजिक संरचनाओं और रिश्तों को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, शहरी क्षेत्रों में उच्च जनसंख्या वृद्धि से स्कूलों में भीड़भाड़, आवास की कमी और सार्वजनिक सेवाओं की बढ़ती मांग हो सकती है।

पर्यावरणीय प्रभाव—जनसंख्या वृद्धि प्राकृतिक संसाधनों की बढ़ती खपत और अधिक अपशिष्ट उत्पादन के माध्यम से पर्यावरण को प्रभावित करती है। जनसंख्या वृद्धि और पर्यावरण संरक्षण के बीच संतुलन बनाने के लिए संधारणीय अभ्यास आवश्यक हैं।

जनसंख्या नीतियाँ—सरकारें जनसंख्या वृद्धि और उसके प्रभावों को प्रबंधित करने के लिए जनसंख्या नीतियाँ लागू करती हैं। इन नीतियों में परिवार नियोजन कार्यक्रम, आव्रजन नियम और वृद्ध आबादी का समर्थन करने की पहल शामिल हो सकती हैं। प्रभावी नीतियों का उद्देश्य जनसंख्या के आकार को उपलब्ध संसाधनों के साथ संतुलित करना और सभी नागरिकों की भलाई सुनिश्चित करना है।

<u>प्रश्न 2—</u> व्यक्ति और समाज के मध्य अन्तर्सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

<u>उत्तर—</u> व्यक्ति और समाज के बीच अंतरसंबंध—व्यक्ति और समाज दो ऐसी अवधारणाएँ हैं जो एक—दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह हैं, जिनका अस्तित्व एक—दूसरे के बिना अधूरा है। समाजशास्त्र में, व्यक्ति और समाज के बीच के जटिल और बहुआयामी अंतरसंबंधों का अध्ययन एक महत्वपूर्ण विषय है।

व्यक्ति पर समाज का प्रभाव—समाज व्यक्ति के जीवन के हर पहलू को गहराई से प्रभावित करता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक, व्यक्ति सामाजिक संरचनाओं, मानदंडों, मूल्यों और संस्थाओं के जाल में बंधा रहता है। निम्नलिखित कुछ प्रमुख तरीके हैं जिनसे समाज व्यक्ति को प्रभावित करता है—

सामाजिकरण (Socialization)— समाज समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक मानदंडों, मूल्यों, विश्वासों और व्यवहारों को सिखाता है। परिवार, स्कूल, सहकर्मी समूह और मीडिया जैसे विभिन्न सामाजिक अभिकरण व्यक्ति को समाज में रहने और बातचीत करने के तरीके सिखाते हैं। समाजीकरण के बिना, व्यक्ति सामाजिक रूप से सक्षम प्राणी के रूप में विकसित नहीं हो पाएगा।

पहचान का निर्माण (Identity Formation)— व्यक्ति की पहचान काफी हद तक सामाजिक संदर्भों और दूसरों के साथ उसकी अंतःक्रियाओं से आकार लेती है। जाति, वर्ग, लिंग, धर्म और राष्ट्रीयता जैसी सामाजिक श्रेणियां व्यक्ति की आत्म—धारणा और सामाजिक स्थिति को प्रभावित करती हैं। समाज व्यक्ति को ष्हमष और ष्वेष की भावना विकसित करने में मदद करता है, जिससे उसकी सामाजिक पहचान बनती है।

व्यवहार का निर्धारण (Shaping Behavior)— समाज सामाजिक मानदंडों और अपेक्षाओं के माध्यम से व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित और निर्देशित करता है। पुरस्कार और दंड की व्यवस्था यह सुनिश्चित करती है कि व्यक्ति सामाजिक रूप से स्वीकार्य तरीके से व्यवहार करे। सामाजिक दबाव और अनुरूपता की इच्छा भी व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है।

अवसरों का निर्धारण (Determining Opportunities)— समाज व्यक्ति के लिए उपलब्ध अवसरों को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है। शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य सेवा और राजनीतिक भागीदारी जैसे क्षेत्रों में अवसर सामाजिक पृष्ठभूमि, वर्ग, जाति और लिंग जैसे कारकों से जुड़े होते हैं। सामाजिक असमानताएं व्यक्ति के जीवन पथ और संभावनाओं को सीमित कर सकती हैं।

भाषा और विचार का विकास (Development of Language and Thought)— भाषा सामाजिक अंतःक्रिया का एक उत्पाद है और यह व्यक्ति की सोचने और दुनिया को समझने की क्षमता को आकार देती है। समाज व्यक्ति को भाषा प्रदान करता है, जिसके माध्यम से वह विचारों को व्यक्त करता है, ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरों के साथ संवाद करता है।

समाज पर व्यक्ति का प्रभाव—हालांकि समाज व्यक्ति को गहराई से प्रभावित करता है, लेकिन व्यक्ति भी समाज को आकार देने और बदलने में सक्रिय भूमिका निभाता है। व्यक्ति समाज के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता मात्र नहीं हैं, बल्कि वे सक्रिय एजेंट हैं जो सामाजिक प्रक्रियाओं में योगदान करते हैं। निम्नलिखित कुछ प्रमुख तरीके हैं जिनसे व्यक्ति समाज को प्रभावित करता है—

सामाजिक परिवर्तन (Social Change)– व्यक्ति सामाजिक आंदोलनों, विरोध प्रदर्शनों और नवाचारों के माध्यम से सामाजिक मानदंडों, मूल्यों और संरचनाओं को चुनौती दे सकते हैं और उनमें बदलाव ला सकते हैं। महान विचारक, वैज्ञानिक, कलाकार और कार्यकर्ता अपने विचारों और कार्यों से समाज को नई दिशा दे सकते हैं।

संस्कृति का निर्माण और रखरखाव (Creation and Maintenance of Culture)– व्यक्ति अपनी दैनिक अंतःक्रियाओं, कलात्मक अभिव्यक्तियों और परंपराओं के माध्यम से संस्कृति का निर्माण और रखरखाव करते हैं। नई प्रथाएं, फैशन और तकनीकी नवाचार संस्कृति का हिस्सा बन जाते हैं और समाज को समृद्ध करते हैं।

सामाजिक संस्थाओं का संचालन (Operation of Social Institutions)– व्यक्ति विभिन्न सामाजिक संस्थाओं (जैसे कि परिवार, शिक्षा प्रणाली, सरकार और अर्थव्यवस्था) के सदस्य के रूप में कार्य करते हैं और उनके कामकाज में योगदान करते हैं। उनकी भूमिकाएं और जिम्मेदारियां इन संस्थाओं की प्रभावशीलता और स्थिरता को प्रभावित करती हैं।

सामाजिक अंतःक्रिया और संबंध (Social Interaction and Relationships)– व्यक्ति एक–दूसरे के साथ बातचीत करते हैं और सामाजिक संबंध बनाते हैं, जो सामाजिक ताने–बाने का निर्माण करते हैं। ये अंतःक्रियाएं और संबंध सामाजिक मानदंडों को सुदृढ़ कर सकते हैं या उन्हें चुनौती दे सकते हैं।

नवाचार और रचनात्मकता (Innovation and Creativity)– व्यक्ति नए विचारों, तकनीकों और समाधानों को जन्म देकर समाज में नवाचार और रचनात्मकता लाते हैं। वैज्ञानिक खोजें, कलात्मक रचनाएं और तकनीकी प्रगति समाज को आगे बढ़ाती हैं।

अंतरनिर्भरता और द्वंद्वात्मक संबंध–व्यक्ति और समाज के बीच का संबंध एकतरफा नहीं है, बल्कि यह एक अंतरनिर्भर और द्वंद्वात्मक संबंध है। इसका मतलब है कि वे एक–दूसरे पर लगातार प्रभाव डालते हैं और एक–दूसरे से प्रभावित होते हैं। समाज व्यक्तियों के कार्यों और विचारों से बनता है, जबकि व्यक्ति समाज के ढांचे और संस्कृति के भीतर विकसित होते हैं।

द्वंद्वात्मकता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति और समाज के बीच कभी–कभी तनाव और विरोधाभास भी उत्पन्न हो सकते हैं। व्यक्ति सामाजिक मानदंडों और अपेक्षाओं का विरोध कर सकते हैं, और समाज व्यक्तियों की स्वतंत्रता और स्वायत्तता को सीमित कर सकता है। सामाजिक परिवर्तन अक्सर इस द्वंद्वात्मकता का परिणाम होता है।

निष्कर्ष–संक्षेप में, व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं और एक जटिल और गतिशील संबंध साझा करते हैं। समाज व्यक्ति को आकार देता है, उसे सामाजिक प्राणी बनाता है और उसके जीवन के अवसरों को प्रभावित करता है। वहीं, व्यक्ति अपनी क्रियाओं, विचारों और नवाचारों के माध्यम से समाज को बदलता है, संस्कृति का निर्माण करता है और सामाजिक संस्थाओं के कामकाज में योगदान देता है। इस अंतरनिर्भरता और द्वंद्वात्मक संबंध को समझना समाजशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह हमें सामाजिक जीवन की जटिलताओं और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को बेहतर ढंग से समझने में मदद करता है। व्यक्ति और समाज के बीच का यह अटूट बंधन ही मानव अस्तित्व और सामाजिक विकास का आधार है।

प्रश्न 3– धर्म को परिभाषित कीजिए तथा धर्म की उत्पत्ति के सिद्वान्त की व्याख्या कीजिए इसकी विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर– धर्म मनुष्य के जीवन का एक अनिवार्य तत्व है। धर्म की विशेषताओं, आदर्शो और जीवन को संगठित करने से सम्बन्धित उसके कार्यों को देखते हुये यह स्वीकार कर लेना पड़ता है कि धर्म एक ऐसा अमूर्त तत्व है, जो मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं से भी बढ़कर महत्वपूर्ण है। मार्क्स धर्म को मानव के लिये अफीम मानते है। मैक्स वेबर का मानना है कि धर्म हमारे आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है डेविस के शब्दों में ''मानव समाज में धर्म इतना सार्वभौमिक, स्थायी एवं व्यापक है कि धर्म को स्पष्ट रूप से समझे बिना हम समाज को नहीं समझ करते है''।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि धर्म केवल सभ्य समाज के साथ ही जुड़ा है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। धर्म जनजातियों में भी किसी न किसी रूप से पाया जाता है। वास्तविकता यह है कि सभ्य समाज के धर्म की पृष्ठभूमि जनजातीय समाज से ही निर्मित हुयी है और सभ्य जीवन का धर्म जनजातीय धर्म का ही संशोधित एवं परिवर्तित रूप है। हमें यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक मानव संस्कृति में धर्म का अपना विशेष स्थान है जिसे आज तक कोई दूसरी संस्था स्थानापन्न नहीं कर सकी।

धर्म का अर्थ एवं परिभाषा–धर्म किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज में पाया जाता है। धर्म आलौकिक शक्तियों में विश्वास एवं उनकी उपासना पर आधारित है। धर्म का सम्बन्ध हमारी मानसिक प्रवृत्ति से होता है जिसका प्रादुर्भाव हमारे विचारों और संस्कारों द्वारा होता है। 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ धारणा करना है

अर्थात जिसके द्वारा ब्रहमाण्ड धारण किया जाता है। अधिकतर धर्म को किसी अतिमानवीय शक्ति से प्रति विश्वास, किसी पवित्र वस्तु के प्रति विश्वास या किसी आध्यात्मिक शक्ति के प्रति विश्वास के रूप मे देखा जाता है। यह एक प्रकार से विश्वासो, प्रतीकों, मूल्यों एवं क्रियाओं की संस्थागत प्रणाली है जो मनुष्यों के समूहों को जीवन के परम लक्ष्यों या प्रश्नों का समाधान प्रदान करती है।

विभिन्न विचारकों ने धर्म की भिन्न–भिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की है। कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्न प्रकार है–

1. टॉयलर के अनुसार– ''धर्म आध्यत्मिक शक्ति पर विश्वास है।''

2. मैलिनोव्सकी के अनुसार– ''धर्म क्रिया की एक विधि है साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी। धर्म एक समाजशास्त्रीय तथ्य होने के साथ ही एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।''

3. मजूमदार एवं मदन के अनुसार– ''धर्म किसी अलौकिक और अतीन्द्रिय शक्ति के भय का एक मानवीय प्रत्युत्तर है। यह व्यवहार की अभिव्यक्ति अथवा परिस्थितियों से किये गये अनुकूलन का वह रूप है जो अलौकिक शक्ति की धारणा से प्रभावित होता है।''

4. जॉनसन क अनुसार–''धर्म कम या अधिक रूप में उच्च अलौकिक व्यवस्था में प्राणियों, शक्तियों, स्थानों एवं अन्य तत्वों के सम्बन्ध में विश्वासों एवं व्यवहारो की एक स्थिर प्रणाली है।''

वास्तविकता यह है कि धर्म जैसी जटिल व्यवस्था को किसी एक परिभाषा द्वारा ही समझना बहुत कठिन है। इस दृष्टि से धर्म और धार्मिक व्यवस्था से सम्बद्ध कुछ प्रमुख विशेषताओं के आधार पर हम इसकी प्रकृति को सफलतापूर्वक स्पष्ट कर सकते है।

1. धर्म ईश्वर या ईश्वरों के सम्बन्ध में विश्वासों व व्यवहारों की प्रणाली है।
2. उच्च अलौकिक प्राणियों से अभिप्राय ईश्वर अथवा देवताओं से है।
3. अलौकिक शक्तियों से तात्पर्य पवित्र भावनाओं से है।
4. स्थानाओं का अर्थ स्वर्ग, नरक आदि से है।
5. अन्य तत्वों से तात्पर्य आत्मा से है।
6. उच्च अलौकिक से तात्पर्य है– जिसकी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जांच न की जा सके।

इस प्रकार, धर्म को किसी न किसी रूप में अति मानवीय शक्ति पर विश्वास के रूप में ही स्पष्ट किया गया है। इसके विपरीत, डॉ0 राधाकृष्णन द्वारा धर्म की दी हुयी परिभाषित, धर्म को सीधे–सीधे सामाजिक रूप देती है।

उन्हीं के शब्दों में ''जिन सिद्धान्तों के अनुसार हम अपना दैनिक व्यतीत करते है, जिसके द्वारा हमारे सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है, वही धर्म है। वह जीवन का सत्य और हमारी प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है।''

धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त– विभिन्न मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने धर्म की उत्पत्ति के प्रश्न को लेकर भिन्न–भिन्न विचार प्रस्तुत किये जिनमें पूर्णतया काल्पनिक विश्वासों से लेकर सामाजिक विचारधारायें तक सम्मलित है। धर्म की उत्पत्ति एक अति प्राचीन घटना है जिसको आदिम समाज की घटनाओं से सम्बन्धित करके ही समझा जा सकता है। निम्नांकित विवेचन में मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा रहा है।

(1) आत्मवाद का सिद्धान्त–एडवर्ड टायलर ने सर्वप्रथम इस मत का प्रतिपादन किया कि धर्म की उत्पत्ति का मूल स्त्रोत पूवजों की आत्माओं में विश्वास करना है। स्पेन्सर ने भी किसी संशोधन के इस सिद्धान्त का समर्थन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक प्रकार का पता आत्मवादी विश्वासों तथा क्रियाओं द्वारा लगाया जाता है तथा इसमें तीन बातों–आत्म का विचार, आत्म की पूजा एवं प्रेतात्मा में परिवर्तन तथा पूजा का धर्म में परिवर्तन पर बल दिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का सर्वप्रथम विचार मनुष्य में दोहरे जीवन की कल्पना के कारण आया। एक वह जीवन जब व्यक्ति जाग रहा होता है तथा दूसरा वह जिसमें वह सो रहा होता है। शरीर आत्मा तथा स्वतन्त्र आत्मा की धारणाओं से पितरो की पूजा शुरू हुयी जिसने आगे चलकर धर्म का रूप धारणा कर लिया।

(2) प्रकृतिवाद का सिद्धान्त– प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादक मैक्समूलर है। प्रकृतिवाद की विचाराधारा सभी प्राकृतिक पदार्थों में एक जीवित सत्ता की धारणा से ही सम्बन्धित है। मैक्समूलर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति प्राकृतिक शक्तियों के भय के कारण हुयी। आंधी, तूफान, भूकम्प, बिजली का चमकना, सूर्य, चांद, सितारे इत्यादि को देखकर आदिम मानव के मस्तिष्क में भय उत्पन्न हो गया। इसलिये उसके मन में प्रकृति के प्रति श्रद्धा–भक्ति के भाव उत्पन्न हुए तथा उसने प्रकृति की पूजा करनी शुरू कर दी जिससे धर्म की उत्पत्ति हुयी।

(3) जीवशक्तिवाद या पराशक्तिवाद का सिद्धान्त– धर्म का मौलिक–स्त्रोत जनजातियों में यह विश्वास होना था कि प्रत्येक वस्तु में जीवन और चेतना है। इस आधार पर प्रीयस ने जनजातीय धर्म को चेतनावादी दृष्टिकोण के द्वारा स्पष्ट किया जबकि मैक्समूलर ने इसे प्रकृतिवाद का नाम दिया। प्रीयस का विचार था कि आदिववासी प्रत्येक पदार्थ में 'जीवन' अथवा 'चेतना' का अनुभव करते थे। इसी विश्वास के कारण आदिवासियों ने इस चेतन शक्ति की पूजा करना आरम्भ कर दी और बाद में इसी विश्वास के आधार पर धर्म का विकास हुआ।

मैरिट ने इस जीवित सत्तावाद के आधार पर ही धर्म के एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे आपने जीवशक्तिवाद या पराशक्तिवाद या मानावाद कहा है। धर्म के इस स्वरूप की समझने के लिये माना की प्रकृति को समझना आवश्यक होगा। माना कि इस अतीन्द्रिय और अलौकिक शक्ति है जिसका कोई भौतिक स्वरूप नहीं होता। मैरिट ने यह निष्कर्ष दिया की माना कि इस अतीन्द्रिय और अलौकिक शक्ति में विश्वास करने के कारण ही जनजातियों ने इसकी पूजा–आराधना करना आरम्भ कर दी। यही पूजा धर्म का मौलिक रूप था।

(4) सामाजिक सिद्धान्त अथवा टोटमवाद का सिद्धान्त– दुर्खीम ने अपनी पुस्तक श्The Elementary forms of Religious Life" में धर्म की उत्पत्ति को सामूहिक प्रतिनिधान अथवा सामाजिक आधार पर प्रस्तुत किया है। दुर्खीम ने टोटम को एक प्रारम्भिक धर्म माना है तथा धर्म की उत्पत्ति टोटमवाद के आधार पर देने का प्रयत्न किया है। दुर्खीम के अनुसार धार्मिक विचार एवं क्रियायें समूह के प्रतीक है।

धर्म की विशेषताएं–धर्म में कई विशिष्ट विशेषताएं पाई जाती हैं, जो इसे अन्य सामाजिक–सांस्कृतिक प्रणालियों से अलग करती हैं। इनमें से कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(1) अलौकिक शक्ति में विश्वास (Belief in Supernatural Power)– लगभग सभी धर्म किसी न किसी रूप में अलौकिक शक्ति या शक्तियों (जैसे ईश्वर, देवता, आत्माएं) में विश्वास करते हैं जो मानव समझ और प्राकृतिक दुनिया से परे हैं। यह विश्वास धार्मिक अनुभव और व्याख्या का आधार बनता है।

(2)पवित्र और अपवित्र का भेद (Distinction between Sacred and Profane)– जैसा कि पहले बताया गया है, धर्म दुनिया को पवित्र और अपवित्र में विभाजित करता है। पवित्र वस्तुओं, स्थानों और समयों को विशेष महत्व दिया जाता है और उनके प्रति विशिष्ट व्यवहार अपेक्षित होता है।

(3) धार्मिक अनुष्ठान और प्रथाएं (Religious Rituals and Practices)– धर्म में प्रतीकात्मक क्रियाओं और व्यवहारों की एक श्रृंखला शामिल होती है, जिन्हें अनुष्ठान कहा जाता है। ये अनुष्ठान पवित्र के साथ संवाद स्थापित करने, धार्मिक विश्वासों को व्यक्त करने, और समुदाय के सदस्यों को एक साथ लाने के लिए किए जाते हैं। प्रार्थना, बलिदान, त्योहार और तीर्थयात्रा कुछ सामान्य धार्मिक अनुष्ठान हैं।

(4) नैतिक आचार संहिता (Moral Code of Conduct)– धर्म अक्सर नैतिक सिद्धांतों और नियमों का एक समूह प्रदान करता है जो अनुयायियों के व्यवहार को निर्देशित करते हैं। ये नैतिक संहिताएं सही और गलत, अच्छे और बुरे के बारे में मार्गदर्शन प्रदान करती हैं और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

(5) धार्मिक भावनाएं और अनुभव (Religious Feelings and Experiences)– धर्म अक्सर विशिष्ट भावनाओं और अनुभवों (जैसे श्रद्धा, भय, आश्चर्य, रहस्य, शांति, एकता) को जन्म देता है जो अलौकिक के साथ संबंध या धार्मिक प्रथाओं में भागीदारी से जुड़े होते हैं। इन अनुभवों को अक्सर व्यक्तिगत और गहन माना जाता है।

(6) प्रार्थना और संचार के अन्य रूप (Prayer and Other Forms of Communication)– अनुयायी अक्सर अलौकिक शक्ति के साथ संवाद करने के तरीके खोजते हैं, जिसमें प्रार्थना, ध्यान, मंत्रोच्चारण और अन्य प्रकार की धार्मिक अभिव्यक्ति शामिल हो सकती है।

(7) एक सामाजिक समूह (A Social Group)– धर्म आमतौर पर समान विश्वासों और प्रथाओं को साझा करने वाले लोगों के एक समुदाय के चारों ओर संगठित होता है। यह समुदाय सामाजिक समर्थन, पहचान और अपने विश्वासों और परंपराओं को पीढ़ी दर पीढ़ी प्रसारित करने का एक माध्यम प्रदान करता है।

(8) विश्व दृष्टिकोण (Worldview)– धर्म जीवन के अर्थ, ब्रह्मांड की उत्पत्ति और मानव अस्तित्व के उद्देश्य के बारे में व्यापक स्पष्टीकरण और दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह अनुयायियों को दुनिया को समझने और उसमें अपना स्थान निर्धारित करने के लिए एक ढांचा प्रदान करता है।

(9) पवित्र कथाएं और मिथक (Sacred Narratives and Myths)– धर्म अक्सर पवित्र कथाओं, मिथकों और कहानियों पर आधारित होता है जो धार्मिक विश्वासों, मूल्यों और इतिहास को व्यक्त करते हैं। ये कथाएं पीढ़ी दर पीढ़ी सुनाई जाती हैं और धार्मिक पहचान और समझ को आकार देती हैं।

(10) पवित्र प्रतीक और वस्तुएं (Sacred Symbols and Objects)– प्रत्येक धर्म में पवित्र प्रतीक और वस्तुएं होती हैं जो विशिष्ट अर्थ और महत्व रखती हैं। ये प्रतीक और वस्तुएं धार्मिक पहचान, विश्वास और अनुष्ठानों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

प्रश्न 4– गांव की परिभाषा कीजिए तथा भारतीय गांवों के आधारभूत लक्षण बताइए।

उत्तर– गाँव की परिभाषा–समाजशास्त्र में, गाँव को आमतौर पर एक छोटा, सघन बसा हुआ मानव समुदाय के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो मुख्य रूप से कृषि और अन्य प्राथमिक व्यवसायों पर आधारित होता है। यह एक ऐसा सामाजिक संगठन है जिसकी विशेषता घनिष्ठ सामाजिक संबंध, सामुदायिक भावना, अपेक्षाकृत सरल सामाजिक संरचना और स्थानीय संस्कृति होती है। गाँव अक्सर एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में स्थित होता है और इसकी अपनी पहचान, इतिहास और परंपराएं होती हैं।

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने गाँव को अलग–अलग दृष्टिकोणों से परिभाषित किया है। कुछ इसे जनसंख्या के आकार और घनत्व के आधार पर परिभाषित करते हैं, जबकि अन्य सामाजिक संबंधों, आर्थिक गतिविधियों और सांस्कृतिक विशेषताओं पर जोर देते हैं। मोटे तौर पर, गाँव एक ऐसा समुदाय है जहाँ लोग प्रत्यक्ष और अनौपचारिक संबंधों के माध्यम से एक–दूसरे से जुड़े होते हैं और साझा जीवन जीते हैं।

भारतीय गाँव की बुनियादी विशेषताएं–भारतीय गाँव सदियों से भारतीय समाज की आधारशिला रहे हैं और इनकी कुछ विशिष्ट विशेषताएं हैं जो इन्हें अन्य ग्रामीण समुदायों से अलग करती हैं। भारतीय गाँवों की कुछ बुनियादी विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था (Agriculture-based Economy)– भारतीय गाँवों की सबसे प्रमुख विशेषता उनकी कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था है। अधिकांश ग्रामीण आबादी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि कार्यों में लगी हुई है। कृषि न केवल आजीविका का मुख्य स्रोत है, बल्कि यह सामाजिक जीवन, रीति–रिवाजों और त्योहारों को भी गहराई से प्रभावित करती है।

छोटा आकार और सघन बसावट (Small Size and Clustered Settlement)– भारतीय गाँव आमतौर पर अपेक्षाकृत छोटे होते हैं, जिनकी जनसंख्या कुछ सौ से लेकर कुछ हजार तक हो सकती है। बसावट अक्सर सघन होती है, जिसमें घर एक–दूसरे के करीब बने होते हैं। यह घनिष्ठ सामाजिक संबंधों और सामुदायिक भावना को बढ़ावा देता है।

प्राथमिक संबंधों की प्रधानता (Dominance of Primary Relationships)– भारतीय गाँवों में लोगों के बीच प्राथमिक या आमने–सामने के संबंध महत्वपूर्ण होते हैं। लोग एक–दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं और उनके बीच घनिष्ठ, भावनात्मक और दीर्घकालिक संबंध होते हैं। सामाजिक अंतःक्रियाएं अनौपचारिक और व्यक्तिगत होती हैं।

सामुदायिक भावना (Community Feeling)– भारतीय गाँवों में मजबूत सामुदायिक भावना पाई जाती है। लोग सुख–दुख में एक–दूसरे का साथ देते हैं, सामूहिक गतिविधियों में भाग लेते हैं और साझा हितों के लिए मिलकर काम करते हैं। पंचायत और अन्य सामुदायिक संगठन इस भावना को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

जाति व्यवस्था (Caste System)– ऐतिहासिक रूप से, भारतीय गाँवों में जाति व्यवस्था एक महत्वपूर्ण सामाजिक संरचना रही है। हालांकि शहरीकरण और आधुनिकता के प्रभाव से इसकी कठोरता कम हुई है, लेकिन आज भी जाति पहचान और सामाजिक संबंधों को कुछ हद तक प्रभावित करती है। विभिन्न जातियाँ पारंपरिक रूप से विशिष्ट व्यवसायों से जुड़ी रही हैं और सामाजिक पदानुक्रम में एक विशिष्ट स्थान रखती थीं।

पारंपरिक सामाजिक संरचना (Traditional Social Structure)– भारतीय गाँवों में सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत सरल और पारंपरिक होती है। परिवार, जाति, पंचायत और धार्मिक संगठन सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आधुनिक संस्थानों और संगठनों का प्रभाव शहरों की तुलना में कम होता है।

स्थानीय संस्कृति और परंपराएं (Local Culture and Traditions)– प्रत्येक भारतीय गाँव की अपनी विशिष्ट स्थानीय संस्कृति, रीति–रिवाज, परंपराएं, लोक कलाएं और लोकगीत होते हैं। ये सांस्कृतिक तत्व पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते हैं और गाँव की पहचान और सामाजिक एकता को बनाए रखते हैं।

सामाजिक समरूपता (Social Homogeneity)– शहरों की तुलना में भारतीय गाँवों में सामाजिक समरूपता अधिक पाई जाती है। अधिकांश लोग समान आर्थिक पृष्ठभूमि, जीवन शैली और सांस्कृतिक मूल्यों को साझा करते हैं। हालांकि, जाति और वर्ग के आधार पर कुछ भिन्नताएं मौजूद हो सकती हैं।

औपचारिक शिक्षा और आधुनिक सुविधाओं की सीमित उपलब्धता (Limited Availability of Formal Education and Modern Amenities)– शहरों की तुलना में भारतीय गाँवों में औपचारिक शिक्षा और आधुनिक सुविधाओं (जैसे स्वास्थ्य सेवा, परिवहन, संचार) की उपलब्धता अक्सर सीमित होती है। हालांकि, सरकार के प्रयासों और तकनीकी विकास के कारण यह स्थिति धीरे–धीरे बदल रही है।

पंचायत का महत्व (Importance of Panchayat)– भारतीय गाँवों में पंचायत (ग्राम परिषद) एक महत्वपूर्ण पारंपरिक संस्था है जो स्थानीय स्वशासन और विवादों के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। पंचायत सामुदायिक निर्णय लेने और विकास कार्यों को लागू करने में भी महत्वपूर्ण है।

प्रकृति से निकट संबंध (Close Relationship with Nature)– भारतीय गाँवों के लोगों का प्रकृति से गहरा संबंध होता है। उनकी आजीविका कृषि और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर करती है, और उनके रीति–रिवाजों, त्योहारों और विश्वदृष्टि में प्रकृति का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

परंपराओं का महत्व (Importance of Traditions)– भारतीय गाँवों में परंपराओं और रीति–रिवाजों का गहरा महत्व होता है। सामाजिक जीवन के अधिकांश पहलू पारंपरिक नियमों और प्रथाओं द्वारा निर्देशित होते हैं। परिवर्तन की गति शहरों की तुलना में धीमी होती है।

<u>प्रश्न 5–</u> नगर की अवधारणा बताइए तथा भारत में नगरीकरण एवं नगरीय जीवन के आधारभूत लक्षण बताइए।

<u>उत्तर– शहर–</u> ''शहर, नगर'' ''नगरीय समुदाय'' तथा ''नगरीय क्षेत्र'' पर्यायवाची शब्द है। विभिन्न देशों में नगरीय शब्द का अर्थ एक जैसा नहीं है। यह हम शब्द की रचना की दृष्टि से देखें तो ''शहर'' या ''नगर'' शब्द अंग्रेजी शब्द सिटी का हिन्दी अनुवाद है। स्वयं सिटी शब्द लैटिन भाषा के सिविटाज से बना है जिसका तात्पर्य है नागरिकता। अंग्रेजी भाषा Urban शब्द लैटिन भाषा के Urbanies से बना है जिसका अर्थ है ''शहर''। लैटिन भाषा के Urbas का अर्थ City भी अर्थात् शहर ही है।

नगर की परिभाषा जनसंख्या के आधार पर भी की गयी है। अमरीका के जनगणना ब्यूरो ने नगर ऐसे स्थान का माना है जहाँ जनसंख्या 25,000 या उससे अधिक हो। फ्रांस में 2,000 तथा मिस्त्र में 11,000 जनसंख्या वाले क्षेत्र को नगर माना है।

व्यवहार के आधार पर भी नगर की परिभाषा की गई है। विलकाक्स के अनुसार ''जहां मुख्य व्यवसाय कृषि है, उसे गाँव तथा जहाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय प्रचलित है, उसे शहर (नगर) कहेंगे।''

लुईस विर्थ ने द्वितीयक सम्बन्धों भूमिकाओं के खण्डीकरण तथा लोगों में गतिशीलता की तेजी इत्यादि विशेषताओं के आधार पर नगर को परिभाषित करने पर बल दिया है। विर्थ के अनुसार नगर अपेक्षाकृत एक व्यापक घटना तथा सामाजिक दृष्टि से विजातीय व्यक्तियों का स्थायी निवास क्षेत्र है। ''नगर के साथ–साथ 'महानगर' (Metropilis)ए 'विराट नगर (Mega city or Megalopolis), 'विश्व नगर' (Cosmopolis) तथा नगर समूह (Conurbation) इत्यादि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। इस सब शब्दों में जनसंख्या के आकार, जनसंख्या के घनत्व, आवागमन एवं संचार साधनो की सुविधाओं इत्यादि के आधार पर अन्तर किया जाता है।

भारत में नगरीकरण– भारत गाँवों का देश है। प्रत्येक वर्ष गाँवों में रहने वाले कुछ व्यक्ति गाँव छोड़कर नौकरी के लिये नगरों में बसते है। इसके परिणामस्वरूप नगरीय जनसंख्या में वृद्धि होती रहती है। प्रमुख विद्वानों ने नगरीकरण की परिभाषायें निम्न प्रकार से की हैं–

डेविस तथा गोल्डन के अनुसार– ''नगरीकरण शब्द का प्रयोग किसी देश में नगरीय क्षेत्रों में रहने वाली जनसंख्या तथा गैर नगरीय जनसंख्या के बढ़ते अनुपात के लिये किया जा सकता है।''

बोस के अनुसार–''जनांकिकीय(जनसंख्या) की दृष्टि से नगरीकरण समय के साथ–साथ कुल जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या के भाग में वृद्धि है।''

सेवानी के अनुसार– नगरीय जनसंख्या का कुल जनसंख्या से अनुपात नगरीकरण का एक अपक्व सूचक है क्योंकि इसमें देश की नगरीय जनसंख्या के वितरण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता।''

भारत यद्यपि गांवों का देश रहा है तथा आज भी मुख्यतः कृषि प्रधान होने के नाते गावों का ही देश है, फिर भी कुछ दर्शकों में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। भारत में नगरीकरण को प्रात्सोहन देने वाले कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1. अंग्रेजी शासनकाल में नवीन मार्गो की खोज, यातायात एवं सन्देह वाहन के साधनों के विकास में नगरीकरण को प्रात्सोहन मिला हैं।
2. औद्योगीकरण ने भी भारत में नगरों के विकास में सहायता प्रदान की हैं।

3. जनसंख्या की वृद्धि के कारण ग्रामीण जनसंख्या रोजगार की तलाश में नगरों की तरफ आने लगती है जिससे नगरीय की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिलता है।
4. नगरों व्यावसायिक मनोरंजन के साधनों में वृद्धि ने भी नगरों के विकास में सहायता प्रदान की है।
5. राजनीतिक दलों के विकास एवं उनके संगठनों का नगरों में स्थित होना भी नगरीकरण में सहायक कारण रहा है।
6. नवीन आर्थिक संगठनों के उदय एवं अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों ने भी भारत में नगरीकरण को प्रोत्साहन दिया है।
7. व्यापारिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में उन्नति अधिकांशतया नगरों में ही हुई है। इससे ग्रामवासी नगरों की ओर आकर्षित हुये हैं।

भारतीय नगरीय जीवन के आधारभूत लक्षण–भारतीय नगरीय जीवन के आधारभूत लक्षण निम्नवत हैं–

1. सामाजिक विजातीयता (Social Heterogencity)–नगरीय समुदायों की जनसंख्या विविध प्रकार के व्यवसायों में लगी होती है तथा उनके सांस्कृतिक मूल्यों तथा रीति रिवाजों में काफी विभिन्नता पाई जाती है। नगरों मे विभिन्न धर्मों, मतों, सम्प्रदायों, जातियों, वर्गो, प्रजातियों, भाषाओं, एवं प्रान्तों से सम्बन्धित लोग निवास करत हैं।

2. द्वितीयक समितियाँ (Secondary Associations)– द्वितीयक समितियों की प्रधानता के कारण नगरीय समुदाय के लोग परस्पर व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं होते है। नगर के लोगों में औपचारिक एवं द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता पायी जाती है।

3. सामाजिक सहिष्णुता (Social tolerance)– सामाजिक विजातीयता के बावजूद व्यक्तियों को नगरीय समुदाय में एक साथ निवास करना पड़ता है जिससे उनमें एक दूसरे के प्रति सामाजिक सहिष्णुता में वृद्धि होती है।

4. द्वितीयक नियन्त्रण (Secondary Control)– नगरों की जनसंख्या अधिक होने के कारण यहाँ प्राथमिक नियंत्रण के माध्यम से सभी लोगों के व्यवहारों को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता अतः द्वितीयक नियंत्रण के साधनों जैसे शिक्षा, पुलिस, कानून इत्यादि की प्रधानता है।

5. सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)– नगरीय समुदाय में आवागम, संचार, शिक्षा, नवीन व्यवसाय इत्यादि की अधिक सुविधायें होने के कारण, सामाजिक गतिशीलता अधिक पाई जाती है। कार्य कुशलता में वृद्धि तथा नवीनता के आधार पर नगरीय व्यक्तियों में गतिशीलता अधिक पाई जाती है।

6. व्यक्तिवादिता (Individualism)– नगर में सामूहिक एवं सामुदायिक जीवन की अपेक्षा व्यक्तिवादिता अधिक पायी जाती है। अधिकांश व्यक्ति समुदाय की अपेक्षा अपने लिये अधिक सोचता है।

7. सामाजिक समस्यायें (Social Problems)– वर्तमान में नगर–अपराध, बाल–अपराध, वेश्यावृत्ति, बेकारी, गंदी बस्तियाँ, पागलपन, निम्न स्वास्थ्य, कुपोषण, वर्ग संघर्ष, वायु प्रदूषण एवं बीमारी आदि अनेक समस्याओं के केन्द्र बन गये हैं।

<u>प्रश्न 6–</u> जनजातीय अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा भारतीय जनजातियों की विभिन्न समस्याओं की व्याख्या कीजिए।

<u>उत्तर–</u> भारत में प्रजातीय इतिहास से एक महत्वपूर्ण बात यह ज्ञात होती है कि इस देश में प्राचीन समय से ही विभिन्न प्रजातीय तत्व आते रहे और इस बहुजातीय महासागर में विहीन होते रहे। भारत में एक तरफ विभिन्न प्रजातीय तत्वों का समावेश है तो दूसरी ओर विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों का। भारत के इन विभिन्न क्षेत्रों में अनेक ऐसे मानव समूह करते है जो कि आज भी सभ्यताके आदिम स्तर पर है। वे प्रायः सभ्य समाज से दूर जंगली, पहाड़ी या पठारी क्षेत्रों में रहते है और प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक पिछड़े हुये है। इन्हें कई नामों वन्यजाति, आदिवासी, जनजाति आदि नाम से सम्बोधित किया जाता है। भारतीय संविधान में ऐसे लोगों को अनूसूचित जनजाति कहा गया है। डॉ0 जी0 एस0 घुरिये ने इनके लिये पिछड़े हुये हिन्दू शब्द का प्रयोग किया है।

जनजाति का अर्थ एवं परिभाषायें– जनजातियों अथवा वन्यजातियों खानाबदोशी झुण्ड की अपेक्षा अधिक विस्तृत, अधिक संगठित और अधिक सुदृढ़ सामाजिक समूह है। वन्य जाति सामान्य रूप से एक विशेष स्थान पर रहने वाले परिवारों और छोटे–छोटे बहुत से समूहों का अपेक्षाकृत रूप से एक वृहत संगठन है जो साधारणतया सभ्यता से दूर निर्जन और प्राकृतिक वातावरण में अपना जीवन व्यतीत करता है। यहां हम जनजातियों के अर्थ तथा परिभाषा का संक्षिप्त विवेचना करेंगे–

गिलिन और गिलिन के अनुसार—"स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी ऐसे संग्रह को हम जनजाति कहते है, जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता है, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति के अन्तर्गत व्यवहार करता है।"

डॉ0 बोआस के अनुसार— "जनजाति से हमारा तात्पर्य, आर्थिक रूप से स्वतन्त्र व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो सामान्य भाषा बोलते हों, तथा बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिये संगठित हो।"

डॉ0 मजूमदार के अनुसार— "एक जनजाति परिवारों अथवा परिवारों के समूह का संकलन है, जो एक सामान्य नाम के द्वारा पहचाने जाते है, जिसके सदस्य भू–भाग पर रहते है, सामान्य भाषा बोलते है, विवाह व्यवसाय और आर्थिक कार्यों में कुछ सामान्य निषेधों का पालन करते है तथा सामाजिक दायित्वों के क्षेत्र में पारस्परिक आदान–प्रदान की एक संगठित व्यवस्था को विकसित करते है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर जनजाति की विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

1. सामान्य भू–भाग—जनजाति एक निश्चित भू–भाग पर रहती है और अन्य समूहों की अपेक्षा इनके सदस्यों में अपने भू–भाग के प्रति कहीं अधिक लगाव पाया जाता है। एक सामान्य भू–क्षेत्र में रहने के कारण ही उनमें सामान्य जीनव की अन्य विशेषताएँ विकसित हो जाती हैं।

2. सामान्य भाषा—एक जनजाति के सभी सदस्य एक भाषा बोलते हैं। इससे विचारों के आदान–प्रदान में सरलता रहती है और इसी की सहायता से सांस्कृतिक विशेषतायें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को निरन्तर हस्तारित होती रहती हैं।

3. सामान्य संस्कृति— एक जनजाति के सदस्य सामान्य संस्कृति के नियमों का पालन करते और इसी के द्वारा व्यवहारों को नियन्त्रित रखते है। किसी व्यक्ति को भी सांस्कृतिक नियमों की अवेहना करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाती है और इस प्रकार जनजाति में मुखिया का एक प्रमुख कार्य सांस्कृतिक नियमों के अर्थ को स्पष्ट करना और उन्हें सदस्योंपर लागू करना होता है।

4. विस्तृत आकार—एक जनजाति कई परिवारों का संकलन होता है। इसमें सदस्य संख्या सभी क्षेत्रीय समूहों में सबसे अधिक होती है। कुछ जनजातियों की सदस्य संख्या लाखों तक हो सकती है। उदाहरण के लिये, भारत के छोटा नागपुर तथा अन्य स्थान पर फैली हुई जनजाति 'संथाल' में सदस्यों की संख्या 40 लाख से भी अधिक है।

5. सामान्य निषेध—एक जनजाति खानपान, विवाह, परिवार, व्यवसाय, धर्म आदि से सम्बन्धित समान निषेधों का पालन करती है।

6. आर्थिक आत्मनिर्भरता—प्रत्येक जनजाति अपनी सभी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम होती है। जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव के अन्दर ही की जाती है जिसके कारण सभी व्यक्ति कृषि अथवा शिकार के प्रमुख कार्य के अतिरिक्त हथियार बनाने, बैलगाड़ियों की मरम्मत करने और लोहारगीरी के काम सामान्य ज्ञान अवश्य रखते हैं।

7. अन्तर्विवाह—एक जनजाति प्रायः एक अन्तर्विवाह समूह होता है। इसमें कई वंश, समूह, गोत्र तथा भ्रातृदल होते है। यही कारण है कि इसकी सदस्य संख्या अन्य क्षेत्रीय समुदायों से अधिक होती है।

8. राजनीतिक संगठन—प्रत्येक जनजाति का अपना निजी संगठन होता है। इसमें अधिकांशतः एक वंशानुगत मुखिया होता है जो परम्पराओं का पालन कराने, नियंत्रध बनाये रखने एवं नियमों का उल्लंघन करने वालों के लिये दण्ड की व्यवस्था करता है। कुछ विद्वानों ने राजनीतिक संगठन को जनजाति के लिये आवश्यक नहीं माना है।

भारत की जनजातियों का वर्गीकरण— सम्पूर्ण भारत में फैली हुई सम्पूर्ण जनजातियों को किसी एक आधार पर नहीं समझा जा सकता है। इसीलिये विभिन्न आधारों पर उनका वर्गीकरण किया गया है जो निम्नवत् है—

1. भौगोलिक वर्गीकरण— डॉ0 बी0 एस0 गुहा ने भारत की सम्पूर्ण जनजातियों को भौगोलिक निवास के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया है—

(अ) उत्तर तथा उत्तरी पूर्वी क्षेत्र— इसमें कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, उत्तरी उत्तर प्रदेश और असम के पहाड़ी भाग तक हैं। लेह, शिमला और लुशाई पर्वत का क्षेत्र इसके अन्तर्गत आता है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र सीमावर्ती होने के कारण राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र की प्रमुख जनजातियों में मोटिया, थारू, नागा, गारो, खासी, डाफला, कूकी, लाबोट, मिकिर, लशाई, गुजर, चकमा, गुरूंग आदि हैं।

(ब) मध्यवती क्षेत्र—इस क्षेत्र का विस्तार उत्तर में गंगा के मैदान से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक है। इसमें विन्ध्याचल व सतपुड़ा के पहाड़ों की पट्टी भी सम्मलित है। इसमें बंगाल, बिहार, दक्षिणी राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उत्तरी बम्बई और उड़ीसा सम्मलित है। इस क्षेत्र में निवास करने वाली प्रमुख जनजातियाँ

सन्थाल, उराँव, हो, खड़िया, विरहौर, गोंड, वैगा, कोरा, चेंचू, कोरवा, कोल, भील आदि है। संथाल, भील, और गोंड इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण जनजातियाँ है।

(स) दक्षिणी क्षेत्र– यह क्षेत्र कृष्णा नदी के दक्षिण में है। इसमें मैसूर, ट्रावनकोर, कोचीन, हैदराबाद, आन्ध्र और तमिलनाडु आदि क्षेत्र आते है। इस क्षेत्र की जनजातियों में नीलगिरि के टोडा, कोटा पनियन, कदार, हैदराबाद के चेंचू, कुरुम्बा, और उराली आदि प्रमुख है। इस क्षेत्र में अण्डमान और निकोबार द्वीप समूहों को जनजातियों जैसे जाखा, निकोबारी, सेटोनेली, ओंग तथा शोपन आदि को भी सम्मलित किया गया है।

2. प्रजातीय वर्गीकरण–डॉ0 गुहा, हट्टन एवं रिजले, आदि ने भारत की जनजातियों में पायी जाने वाली विभिन्न प्रजातीय विशेषताओं के आधार पर उनका वर्गीकरण को लेकर मतभेद है। भारतीय जनजातियों में रिजले द्रविण एवं मंगोल प्रजातियों तत्वों का उल्लेख करते है तो डॉ0 गुडा0 नीग्रिटों आदि आग्नेय, मंगोल आदि तत्वों का उल्लेख करते है, वहीं डॉ0 डी0 एन0 मजूमदार भारतीय जनजातियों में नीग्रिटों प्रजाति तत्वों की उपस्थिति नहीं मानते हैं। यहां हमें केवल डॉ0 गुहा द्वारा प्रस्तुत प्रजातीय आधार पर किये गये जनजाति वर्गीकरण का उल्लेख करेंगे।

(अ) नीग्रिटो–नीग्रिटो भारत की सबसे प्राचीन प्रजाति है। ये प्रजाति तत्व हमें दक्षिण भारत की कदार, इसला, पनियान, असम में अंगाबी नागाओं तथा पूर्वी बिहार की राजमहल की पहाड़ियों में निवास करने वाली जनजातियों में देखने को मिलते है। इस प्रजाति की मुख्य शारीरिक विशेषताओं नाटा कद, चौड़ा सिर, गहरा रंग, काले ऊनी बाल, मोटे ओठ और चौड़ी नाक आदि हैं।

(ब) आदि आग्नेय–मध्य भारत की प्रायः सभी जनजातियों में प्रोटो आस्ट्रोलॉयड प्रजाति की विशेषताये पायी जाती है। मीन एवं चेंचू लोग भी इसी प्रजाति के हैं। इन प्रजाति की शारीरिक विशेषतायें इस प्रकार है–छोटा कद, लम्बा, एवं ऊँचा सिर, चौड़ा चेहरा, मुंह आगे की ओर गढा हुआ तथा नाक छोटी एवं चपटी आदि है।

(स) मंगोल–मंगोल प्रताति की भारत में दो शाखायें है–एक चौड़े सिर वाली तथा दूसरी लम्बे सिर वाली। चौड़े सिर वाले प्रजातीय तत्व चटगाँव एवं वर्मा (म्यांमार) तथा उत्तरी पूर्वी भारत में पाये जाते हैं। लम्बे सिर वाले मंगोल असम सीमान्त प्रान्तों एवं ब्रहमपुत्र घाटी में पाये जाते है।

प्रजातीय आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत की जनजाति में मंगोल, नीग्रिटो एवं प्रोटा आस्टोलायड प्राजातीय तत्व पाये जाते हैं।

3.सांस्कृतिक वर्गीकरण–बैरियर एल्विन ने 1943 में भारत की जनजाति का सांस्कृतिक वर्गीकरण किया और इस आधार पर उन्होने जनजातियों को चार भार्गों में विभक्त किया है–

(अ) प्रथम श्रेणी में वे आदिवासी लोग आते है। जो अत्यधिक आदिम है। संयुक्त सामाजिक जीवन व्यतीत करते है तथा दुर्गम एवं घने जंगलों में निवास करते है। ये लोग बहुत सरल होते है तथा सभ्य समाज के लोगों को देख पेड़ पर चढ़ जाते है। इनमें मध्य भारत के बस्तर क्षेत्र की पहाड़ी भाडिया, उड़िसा के जुआंग और बोंदा आदि जनजातियाँ प्रमुख हैं।

(ब) द्वितीय श्रेणी में वे जनजातियाँ आती हैं जिसके जीवन में कुछ परिवर्तन आ गये हैं। वे लोग अपने सामूहिक जीवन को त्यागकर व्यक्तिवादी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इनमें गरीब और अमीर का भेदभाव प्रारम्भ हो गया है। ये खेती के लिये कुल्हाड़ी का प्रयोग करते हैं।

(स) तीसरी श्रेणी में वे जनजातियाँ आती हैं जो आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के अत्यधिक सम्पर्क के कारण अपनी मूल संस्कृति खो चुकी हैं। इनका आदिवासी धर्म, परम्परा, प्रथा, कला, विश्वास, सामाजिक संगठन आदि भिन्न–भिन्न हो गये हैं। परिणाम स्वरूप वहाँ सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

(द) चौथी श्रेणी में वे जनजातियाँ आती हैं जो प्राचीन कुलीन वर्ग की हैं। इनमें भील एवं नागा लोग प्रमुख हैं। ये लोग उच्च जातियों से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं जैसे भील अपने को प्रशासक वर्ग एवं क्षत्रियों में सम्मिलित करते हैं।

4. भाषा के आधार पर वर्गीकरण (Classification on the basis of Language) – भाषाई आधार पर भारत की जनजातियों का वर्गीकरण प्रमुखतः तीन भागो में किया जा सकता है–

(अ) द्राविड़ भाषा परिवार – यह भाषा दक्षिण की जनजातियों द्वारा बोली जाती है। द्राविड़ भाषा परिवार में तेलगू, कन्नड़, तमिल और मलयालम भाषायें आती हैं। मध्य भारत की गोंड जनजाति भी द्रविड़ भाषा का प्रयोग करती है। उड़ीसा के कुन्ध, बिहार व उड़ीसा के कुई, उराँव तथा राजमहल की पहाड़ियों में रहने वाले जनजातीय लोग माल्टो बोलियाँ बोलते हैं। द्रविण भाषा को बोलने वाली प्रमुख जनजातियों में टोडा, मलेर, पोलिया, सवर, कोया, पनियन, चेंचू, इसला कवार आदि है।

(ब) आग्नेय भाषा परिवार– इसमें कोल मुण्डा भाषायें जो कि मध्यपूर्वी भारत की जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं तथा आसाम की खासी एवं निकोबार द्वीप की निकोबारी बोलियाँ भी सम्मिलित हैं। इस भाषा में मुण्डारी सन्थाली, खरिया, भूमिज, गारों आदि भाषायें हैं जो बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में बोली जाती हैं। मध्य प्रदेश की कूकी, साथरा एवं गड़वा भाषायें भी इसी में आती हैं। मध्य क्षेत्र की जनजातियों द्वारा आग्नेय भाषा परिवार की बोलियाँ बोली जाती हैं परन्तु यहां रहने वाली उराँव, कोलाम, गोंड आदि जनजायितँ द्रविण परिवार की भाषायें बोलती हैं।

(स) चीनी–तिब्बती भाषा परिवार– इस परिवार की भाषायें नेपाल, दार्जिलिंग, त्रिपुरा, काचर, मणीपुर, पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, भूटान, उत्तरपूर्वी बंगाल, असम तथा सिक्किम आदि क्षेत्रों में बोली जाती हैं। उत्तर पूर्व के कुछ क्षेत्रों में मोनखामेर भाषा बोली जाती है जो आग्नेय भाषा परिवार की है। असम के नागाओं में लगभग 16 भाषाओं का प्रयोग किया जाता है।

5. आर्थिक वर्गीकरण (Economic Classification)– आर्थिक आधार पर भारतीय जनजातियों को निम्नांकित चार भागों में वर्गीकृत किया गया है–

(अ) शिकार करने एवं संकटकालीन अर्थव्यवस्था वाली जनजातियाँ – कोचीन के कदार, ट्रावनकोर के भाला पान्त्रयम् मदुरा के पलियान, वेनाड के पनियान आदि लोग जंगलों से फल–फूल एवं शहद एकत्रित करके जीवन–यापन करते हैं। सरकार की वन–नीति ने इनके जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है।

(ब) पशुपालन वाली जनजातियाँ – हिमाचल के गुज्जर तथा नीलगिरी के टोडा प्रमुख जनजातियाँ हैं जो पशु पालन करके अपना जीवन यापन करती हैं। ये लोग पशुओं का दूध तथा दूध से बने सामानों को बेचकर अपना पेट पालते हैं।

(स) कृषि करने वाली जनजातियाँ – कुछ जनजातियाँ कुल्हाड़ी की सहायता से कृषि करती हैं तो कुछ स्थानान्तरित प्रकार से जबकि कुछ जनजातियाँ आधुनिक कृषि यन्त्रों का भी प्रयोग करती हैं। ये जनजातियाँ उत्तरी पूर्वी भारत एवं मध्य भारत में अधिक पाई जाती हैं।

(द) उद्योगों में लगी हुई जनजातियाँ – उद्योगों में श्रम की मांग के कारण तथा कृषि में उपज की कमी के कारण जनजातियों ने नवीन उद्योगों में कार्य करना प्रारम्भ किया है। बंगाल, बिहार एवं असम की जनजातियाँ चाय बागानों, खानों एवं कारखानों में काम करती हैं।

6. राज्यों में जनसंख्या के आधार पर वर्गीकरण (Classification on the basis of population in States)– हमारे भारत में प्रति दस वर्ष बाद जनगणनाओं में जनसंख्या से सम्बन्धित अनेक प्रकार के आंकड़े एकत्रित किये जाते हैं।

<u>प्रश्न 7–</u> कमजोर वर्गों के समाधान के लिए भारत सरकार द्वारा किये गये प्रयासों का वर्णन कीजिए तथा दलित वर्ग के उत्थान हेतु संवैधानिक नियमों का उल्लेख कीजिए।

<u>उत्तर–</u> ''ऋग्वेद'' में आर्यों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, एवं वैश्य मात्र तीन जातियों। वर्णों का ही उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ''शूद्र'' जाति की रचना कदाचित ऋग्वेद के अन्तिम चरण में ही हुई। शूद्र प्रजातिक और सांस्कृतिक दृष्टि से आर्यों से भिन्न थे। वे आर्य देवताओं के विरोधी थे, उन्हें बलि नहीं देते थे और न पुरोहितों को भेंट ही। अतः आर्यों ने इन्हें निम्नतम स्थान दिया, उन्हें धार्मिक और सांस्कृतिक कृत्यो और सामाजिक अधिकारों से वंचित किया। शूद्रों को घृणित, अपवित्र, और अशुद्ध बताकर उन्हें शिक्षा व यज्ञादि से भी वंचित किया गया। हट्टन का विचार है कि इन शूद्रों/अस्पृश्यों/दलित जातियों की उत्पत्ति थोड़ी जातीय, थोड़ी धार्मिक जातीय, थोड़ी धार्मिक और कुछ सामाजिक रिवाजों का परिणाम थी।

दलित शब्द से अभिप्राय, जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट होता है, वह व्यक्ति या वर्ग है जिसका समाज में अत्यन्त निम्न स्थान है, जो उत्पीड़न का शिकार है तथा जिसका जीवन अभाव, दुख एवं अपमान का जीवन है। सर्वप्रथम ब्रिटिश काल में अछूतों को ष्दलित वर्गष कहा गया, जबकि इसके पूर्व तक उन्हें बाहरी जाति, हरिजन, अनुसूचित जाति आदि नामों से जाना जाता था। डॉ० अंबेदकर के अनुसार, आदिकालीन भारतीय समाज में उन्हें ''भग्न पुरुष'' कहा जाता था। अछूतों एवं अनुसूचितों की दयनीय आर्थिक स्थिति होने के कारण उन्हें ''दलित'' की संज्ञा दी गयी। आर्य समाज के अनुसार यह वर्ग अछूत नहीं, बल्कि दलित है, क्योंकि हिन्दू समाज ने इन्हें दबाकर और समस्त अधिकारों से वंचित रखा है। सन् 1931 की जनगणना के पूर्व इन्हें ''दलित'' कहा जाता था। साइमन कमीशन ने 1935 में इन्हें ''अनुसूचित जाति'' कहा जिनमें भंगी, चमार, डोम, पासी, मोची, कोरी, राजवंशी, चुहड़ा आदि जातियाँ सम्मिलित की गई थीं।

डॉ० कैलाश नाथ शर्मा ने अपनी पुस्तक ''भारतीय समाज और संस्कृति'' में लिखा है– ''अस्पृश्य जातियाँ वे हैं, जिनके स्पर्श मात्र से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाये और उसे पवित्र होने के लिये कुछ कृत्य करने पड़े।''

डॉ० मजूमदार के अनुसार– ''अस्पृश्य वे हैं, जो कि विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक निर्योग्यताओं से पीड़ित हैं, जिनमें से बहुत सी निर्योग्यतायें उच्च जातियों के द्वारा परम्परागत रूप से निर्धारित एवं सामाजिक रूप से लागू की गई हैं।

दलितों की समस्यायें–भारतीय समाज के ''दलित'' सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त निम्न माने जाते हैं तथा आर्थिक दृष्टि से वे अभावग्रस्त भी हैं। इस स्थिति में इनमें शिक्षा का प्रसार भी बहुत कम ही हुआ है। इनमें अज्ञानता, अन्धविश्वास एवं अनेक अन्य समस्यायें भी विकसित हो गई हैं। इन समस्याओं को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

1. अस्पृश्यता एवं सामाजिक दूरी सम्बन्धी समस्यायें – दलितों की सबसे प्रमुख समस्या अस्पृश्यता रही है। वैदिक काल में अस्पृश्यता शब्द का प्रयोग तो नहीं किया जाता रहा है, परन्तु चण्डाल, डोम, अन्त्यज, निषाद आदि शब्दों का प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के लिये किया जाता रहा है, जिनका स्तर लगभग अस्पृश्यों जैसा ही था। गांधी जी ने कहा था कि अस्पृश्यता जिस रूप में आज हिन्दू धर्म में प्रचलित है, यह भगवान तथा मनुष्य दोनों के ही विरुद्ध है। अतः अस्पृश्यता एक विष की भाँति है जो हिन्दू धर्म को खाये जा रही है। मेरे विचार में हिन्दू शास्त्रों में सामूहिक दृष्टि से इसकी कहीं भी स्वीकृति नहीं है।[८] अस्पृश्य जातियों के बच्चे उन स्कूलों में नहीं पढ़ सकते थे उच्च जातियों के बच्चे शिक्षा प्राप्त करते थे।

कहीं–कहीं पर अस्पृश्यों को अपनी इच्छानुसार, जेवर आदि पहनने की भी सामाजिक अनुमति नहीं थी। उदाहरणार्थ जौनसार बाबर के क्षेत्र में कोलटा जाति के लोग सोना नहीं पहन सकते थे। वे केवल चाँदी के जेवर ही पहन सकती थी। इन्हें गाँव के बाहर अपने मकान आदि बनाने पड़ते थे। इसके लिये अलग सड़कें थीं तथा सार्वजनिक स्थानों जैसे कुओं, तालाबों, छात्रावासों, होटलों आदि के प्रयोग पर विविध प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुये थे।

2. अत्याचार एवं उत्पीड़न की समस्यायें – अस्पृश्यता के कारण इन्हें जिन सामाजिक आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता था, उसके कारण ये दलित अनेक प्रकार के अत्याचारों और उत्पीड़न का शिकार हो गये हैं। इनमें बन्धुआ मजदूरों के रूप में काम लेना, महिलाओं से दुर्व्यवहार एवं शोषण, हत्यायें, लूटमार, भूमि को अवैध रूप से छीन लेना, जिन्दा जला देना तथा पुलिस द्वारा अत्याचार की अनेक घटनायें भी सामने आती हैं।

3. आर्थिक समस्यायें – समाज के दलित वर्ग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये हैं। अस्पृश्यता से सम्बन्धित निर्योग्यताओं के कारण इनका सामाजिक–आर्थिक तथा राजनीतिक स्तर भी काफी निम्न रहा है। इन्हें इच्छानुसार व्यवसाय चुनने का अधिकार नहीं था। आर्थिक परेशानियों के कारण ही दलित वर्ग के परिवार अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति कोई विशेष ध्यान नहीं दे पाते।

दलित लोग बाह्य व्यक्तियों, जैसे जमींदारों, व्यापारियों एवं साहूकारों के द्वारा आर्थिक रूप से अनेक प्रकार से शोषित होते रहे हैं। दलितों के आर्थिक शोषण का एक और तरीका भी रहा है। खाद्यान्न की समस्या से पीड़ित इन दलित आदिवासियों को प्रलोभन देकर चाय के बागानों में और खानों में काम करने के लिये बड़ी संख्या में अपने क्षेत्र से बाहर भी ले जाया गया है।

पाणिक्कर ने अनुसूचित जातियों की आर्थिक समस्याओं की ओर संकेत करते हुये लिखा है–

''आर्थिक दृष्टि से सामुदायिक अधिकार की योजना ने इन असहाय लोगों को सदा सम्पत्तिहीन रखा। वे स्थायी नौकरों के रूप में शर्तहीन सेवा करने के लिये मजबूर रहे हैं।'' गांधी जी के अनुसार ''एक डाक्टर के जवाब दे देने से केवल एक रोगी की मृत्यु की संभावना हो सकती है, किन्तु यदि एक भंगी और अन्य निम्न कार्य करने वाले लोग जवाब दे दें, तो सारे समाज का नारकीय अन्त होने की संभावना हो सकती है। शरीर की सबसे बड़ी गन्दगी को साफ करने वाला व्यक्ति सबसे कम मजदूरी प्राप्त करता है। सबसे कम पैसे और फटे पुराने वस्त्र, वह भी होली दिवाली पर।''

दलित वर्ग आर्थिक शोषण का शिकार नहीं है। उनका जीवन स्तर भूखे नंगे लोगों के स्तर पर चला गया।

4. राजनैतिक समस्यायें – स्वतन्त्र भारत में संवैधानिक दृष्टि से अनुसूचित जातियों को अनेक संरक्षण दिये गये हैं, किन्तु इससे पूर्व अनुसूचित जातियों को किसी प्रकार का अधिकार नहीं था। वे किसी भी प्रशासनिक या सार्वजनिक पद पर नियुक्त नहीं किये जाते थे। राजनैतिक क्षेत्र एक प्रकार से उनके लिये सर्वथा वर्जित ही था।

3. संक्षेप में दलितों की समस्यायें जीवन के हर क्षेत्र में रही हैं। ये आर्थिक, राजनैतिन्य तथा सामाजिक दृष्टि से आयधिक शोषित, दलित और दरिद्र रही है। इसे अनहोनी एवं शर्मनाक घटना कहा जा सकता है। यही कारण है कि इनमें से कुछ लोगों ने धर्म परिवर्तन करके अपनी स्थिति में परिवर्तन करना चाहा।

दलितों की समस्याओं का समाधान (Solution of the Problems of Dalits)—हमारा संविधान आर्थिक समानता अथवा समाजवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। संविधान में नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से यह व्यवस्था की गई है कि राज्य श्रमिकों, दलितों, पिछड़ों एवं गरीबी रेखा के लोगों के जीवन स्तर में सुधार तथा उनके विकास और कल्याण के लिये नीचे जीवन यापन करने वाले लोग योजनाओं का निर्माण करें तथा उनको शीघ्र से शीघ्र लागू करें। संसद, विधानसभाओं एवं स्थानीय स्वशासन ने निकायों में उनके लिये सीटों को आरक्षित किया गया है। सरकारी एवं अर्द्ध सरकारी नौकरियों में चयन एवं पदोन्नति में भी आरक्षण की व्यवस्था की गई है। विभिन्न कानूनों द्वारा भी दलितों की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में व्यापक परिवर्तन आया है। दलितों की समस्याओं के समाधान हेतु निम्नलिखित दो प्रकार के प्रयास किये गये हैं।

1. सुधार आन्दोलन या गैर सरकारी प्रयास – समाज सुधारकों द्वारा समय–समय पर अस्पृश्यता के निवारण के लिये आन्दोलन किये जाते हैं। जगद्गुरु आदि शंकराचार्य, केशव चन्द्र सेन, रंगाराव शिंदे, राजा राममोहन राय और महात्मा गांधी के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। महात्मा गांधी ने हरिजनों को मंदिरों में प्रवेश दिलाने, उनके साथ बैठकर प्रार्थना करने की परिपाटी प्रारम्भ की, उनके बस्ती में ठहरने का प्रत्यक्ष आदर्श प्रस्तुत किया।

हरिजन सेवक संघ ने हरिजनों के लिये मन्दिर प्रवेश, कुटीर उद्योगों की स्थापना और शिक्षा प्रसार के अनेक कार्यक्रमों का आयोजन किया। रामकृष्ण मिशन एवं सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी आदि सामाजिक संस्थायें भी अनुसूचित जातियों के कल्याण और उत्थान के लिये विभिन्न प्रकार के कार्य करती हैं। इसी प्रकार दलित वर्ग संघ, हरिजन संस्थायें भी विचार गोष्ठियों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों और अन्य व्यावहारिक योजनाओं के द्वारा अनुसूचित जातियों के उद्धार के लिये प्रयत्नशील हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में श्री ज्योतिबा फूले (Jyotiba Phule) ने (सत्य शोधन समाज) की स्थापना करके अस्पृश्यों को उनके अधिकार दिलाने का प्रयास किया। बाद में डॉ० अम्बेदकर ने 1920 ई० में ष्अखिल भारतीय दलित वर्ग संघष एवं ष्अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशनष की स्थापना की। 1931 ई० में गोल मेज कान्फ्रेंस में डॉ० अम्बेटकर इनके लिये पृथक निर्वाचन की मांग को स्वीकार कराने में सफल हो गये। परन्तु गांधी जी ने इन्हें हिन्दुओं का ही अंग स्वीकार करते हुये अनशन प्रारम्भ कर दिया। 30 दिसम्बर, 1931 ई० को बम्बई में पं० मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में एक विशाल सभा हुई और 1932 ई० में सारे देश में अस्पृश्यता निवारण के लिये ष्अखिल भारतीय सेवक संघष की स्थापना की गई। इस संघ के प्रयासों द्वारा इनके लिये 1,130 शिशु मन्दिर, 1018 छात्रावास, 67 धर्मशालायें एवं 1,995 कुओं की व्यवस्था की गई तथा अस्पृश्यता विरोधी प्रचार में भी तीव्रता आई। इन सबके अतिरिक्त ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन ने भी काफी प्रयत्न किया है।

2. सरकारी प्रयास – अंग्रेजी शासनकाल में ही अस्पृश्यता निवारण के सरकारी प्रयास प्रारम्भ हो गये थे। 1920 ई० में कांग्रेस ने अस्पृश्यता निवारण को अपने प्रयोग का एक महत्वपूर्ण अंग बनाया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने दलितों की समस्याओं के समाधान हेतु जो प्रयास किये उन्हें हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं–

(1) संवैधानिक कार्य

(2) सहायता कार्य

(3) कल्याणकारी कार्य।

1. संवैधानिक कार्य – स्वतन्त्र भारत के संविधान में अनुसूचित जातियों की निर्योग्यताओं को दूर करने के लिये अनेक कानूनी व्यवस्थायें की गई हैं, जिनमें से निम्नलिखित का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है–

अनुच्छेद 15 में यह प्रावधान है कि राज्य किसी भी नागरिक के प्रति धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा।

अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता का अंश घोषित किया गया है। अस्पृश्यता का आचरण और उससे सम्पन्न निर्योग्यता को लागू करना कानूनी अपराध के रूप में दंडनीय माना गया है।

अनुच्छेद 25 के अनुसार राज्य द्वारा हिन्दुओं की सार्वजनिक संस्थाओं को सब वर्गों के लिये खोलने का अधिकार दिया गया।

अनुच्छेद 29 के अनुसार राज्य निधि द्वारा घोषित अथवा राज्य निधि से सहायता प्राप्त करने वाली किसी शिक्षा संस्था में किसी भी नागरिक को केवल वंश, धर्म, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर रोका नहीं जा सकता।

अनुच्छेद 49 में राज्य की ओर से जनता के दुर्बल वर्गों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों को आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी विशेष सुविधायें देने की व्यवस्था की गई है, ताकि वे अधिकतम उन्नति करें। इसी अनुच्छेद में सामाजिक अन्याय और शोषण से भी दलित वर्गों के संरक्षण की व्यवस्था की गई है।

अनुच्छेद 330, 332, 334 के द्वारा संसद तथा राज्य के विधानमंडलों में 20 वर्ष तक उन्हें प्रतिनिधित्व की विशेष सुविधा दी गई है।

अनुच्छेद 338 में यह प्रावधान है कि राष्ट्रपति अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिये एक अधिकारी की नियुक्ति करेगा जो कि राष्ट्रपति को इनकी दशा के बारे में समय–समय पर अवगत कराता रहेगा।

अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम, 1955 द्वारा भारतीय सरकार द्वारा अस्पृश्यता निवारण के लिये संवैधानिक अनुच्छेदों में विविध प्रावधानों के साथ–साथ 1955 ई० में एक अधिनियम पारित किया गया जो कि 1 जून, 1955 ई० को सारे देश में लागू किया गया। इस कानून की 17 धाराओं द्वारा अस्पृश्यों की सभी निर्योग्तयायें समाप्त कर दी गई हैं। इसकी प्रमुख धारायें इस प्रकार हैं–

धारा 3 के अनुसार – (1) हर प्राणी को किसी सार्वजनिक धर्म स्थान पर प्रवेश की स्वतन्त्रता होगी।

(2) हर एक व्यक्ति को किसी तरह से पूजा, प्रार्थना तथा दूसरे प्रकार के धार्मिक संस्कार करने की स्वतन्त्रता होगी,

(3) हर व्यक्ति को धर्म सम्बन्धी पवित्र नदी, तालाब में स्नान की या पानी लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी तथा

(4) उपर्युक्त नियमों को भंग करने पर राज्य द्वारा सहायता छीनी जा सकती है।

धारा 4 के अनुसार –

(1) हर व्यक्ति को किसी की दुकान, जलपान–गृह या होटल या सार्वजनिक मनोरंजन के स्थान में प्रवेश करने की पूर्ण स्वतंत्रता होगी।

(2) हर व्यक्ति को हर व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होगी।

(3) हर सार्वजनिक स्थान को हर व्यक्ति प्रयोग में ला सकेगा।

(4) सार्वजनिक जनता के लिये बनाये गये धर्मार्थ संस्थानों के लाभ और सेवाओं के उपभोग का सवक पूर्ण अधिकार होगा।

(5) किसी भी धर्मशाला, मुसाफिर खाने से लाभ उठाने का सबको पूर्ण अधिकार होगा।

धारा 3 के अनुसार–

(1) प्रत्येक व्यक्ति को चिकित्सालय, औषधालय, शैक्षिक संस्था या उससे सम्बन्धित किसी छात्रावास में प्रवेश का अधिकार होगा।

(2) अस्पृश्यता के आधार पर कोई दुकानदार किसी चीज को बेचने से या सेवा करने से इन्कार नहीं कर सकता है।

धारा 7 के अनुसार –

(1) यदि कोई इन नियमों का विरोध करता है या अस्पृश्यता को बढ़ावा देता है तो उसको छह मास की सजा तथा 500 रुपये जुर्माना या दोनों दण्ड एक साथ दिये जा सकते हैं।

(2) हर प्रान्त ने इस सम्बन्ध में अपने राज्य में अस्पृश्यता निवारण कानून बनाये हैं। इसके प्रावधानों एवं दण्ड व्यवस्था को और अधिक कठोर बनाने की दृष्टि से नागरिक अधिकार संरक्षण कानून, 1976 तथा अनुसूचित जाति एवं जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम, 1989 पारित किये गये हैं।

(3) कल्याण कार्य – भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों की सुरक्षा के लिये विशेष व्यवस्था की गई है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये केन्द्र में एक आयुक्त भी नियुक्त किया गया है, जिसके अधीन उपायुक्त नियुक्त किये गये। अनुसूचित जातियों के कल्याण के लिये हर प्रकार की सलाह देने के लिये केन्द्रीय स्तर पर एक सलाहकारी बोर्ड की स्थापना की गई है। सरकार की ओर से जो कार्य किये गये हैं, उनमें से कुछ प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं–

(i) विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व – संविधान के अनुसार इन लोगों की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर लोकसभा तथा राज्यसभा एवं राज्य विधानसभाओं में इनके लिये स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। पंचायती राज संस्थाओं में भी यह प्रावधान लागू किया गया है।

(ii) सरकारी नौकरियों में आरक्षण – भारत सरकार ने 26 जनवरी 1950 ई० को यह निर्णय लिया कि जिन पदों का निर्वाचन खुली प्रतियोगिता द्वारा होता है उनमें तथा अन्य प्रकार की नियुक्तियों में अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिये सुरक्षित स्थान रखे जायें तथा आयु सीमा व शैक्षिक सीमा आदि में छूट दी जाये।

(iii) शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें – अस्पृश्यों को शिक्षा की विशेष सुविधायें प्रदान की गई हैं। क्योंकि ऐसा अनुमान है कि शिक्षा व उससे होने वाली आर्थिक स्थिति में उन्नति से ही अस्पृश्यता की समस्या हल करने में सहायता मिल सकती है। इन जातियों के विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ाई, छात्रवृत्तियाँ, पुस्तकें तथा लेखन सामग्री आदि को खरीदने के लिये आर्थिक सहायता दी जाती है। सरकार ने दिल्ली, जबलपुर, कानपुर तथा मद्रास में चार ऐसे केन्द्र खोले हैं जो अनुसूचित जातियों के लोगों को सरकारी नौकरी प्राप्त करने में सहायता करते हैं।

(iv) तकनीकी एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण – इन लोगों के लिये मेडिकल, इन्जीनियरिंग तथा अन्य औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्रों में कुछ स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। भारत सरकार ने नेशनल डेयरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट करनाल में 20: तथा दक्षिणी रीजनल स्टेशन बंगलौर में भारतीय डेयरी डिप्लोमा के लिये 8 स्थान अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के लिये सुरक्षित रखे हैं। अन्य सरकारी संस्थाओं में 17.5 प्रतिशत स्थान इन वर्गों के लिये सुरक्षित रखे गये हैं। स्वास्थ्य मन्त्रालय ने अपने अधीन सभी मेडिकल कालेजों तथा संस्थाओं में 20 प्रतिशत स्थान, नई दिल्ली की स्वास्थ्य संस्थाओं में 10 प्रतिशत तथा लेडी हार्डिंग कालेज में 2 स्थान इन जातियों के लिये सुरक्षित रखे हैं।

(v) कुटीर उद्योगों की स्थापना हेतु अनुदान – उत्तर प्रदेश एवं अनेक अन्य राज्य सरकारों ने इनको घरेलू व्यवसाय चलाने और विकसित करने के लिये अनुदान प्रदान करने हेतु अनेक योजनायें चलाई हैं।

(vi) गृह निर्माण योजनायें – सरकार ने दलितों को आसान किस्तों पर मकान दिलवाने तथा इनके निर्माण के लिये सहायता प्रदान की है। मुफ्त जमीन तथा धनराशि की भी सुविधा उपलब्ध कराई है।

(vii) पंचवर्षीय योजनायें तथा अनुसूचित जातियों का कल्याण– प्रथम योजना काल में दलितों के उत्थान के लिये 7.08 करोड रुपये दलितों की शिक्षा, स्वास्थ्य तथा आवास सम्बन्धी सुधारों के लिये व्यय किया गया। दूसरी योजना में इन पर 10.08 करोड रुपये की धनराशि तथा तीसरी योजना में 40–40 करोड रुपये व्यय किये गये। राज्यों की योजनाओं में 30 करोड रुपये की व्यवस्था की गई। चौथी योजना में 142.38 करोड़ रुपये व्यय गई। इससे इनके सामाजिक आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाने में सहायता मिली है।

अंत में इतना कहना पर्याप्त होगा कि आज अनुसूचित जातियों/दलितों की काफी समस्यायें दूर हो गई हैं। अब वे स्वयं अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हैं, समस्वरूप उन्होंने भी संवैधानिक, राजनैतिक मर्यादाओं के अंतर्गत समानता और सामाजिक न्याय की मांग शुरू कर दी है। आन्द्रे बेवई ने ठीक ही लिखा है कि ''किन्तु जैसे–जैसे सामाजिक व्यवस्था की प्रकृति धीरे–धीरे सरल हो रही है और जैसे–जैसे अधिक गतिशीलता और कर्मचारी वर्ग का परिभ्रमण बढ़ रहे हैं, वह खाई जिसने भूतकाल में हरिजनों को शेष समाज से पृथक कर दिया था क्रमिक रूप से अवश्य कम हो जायेगी।''

दलितों के उत्थान के लिये सुझाव (Suggestions for the Upliftment of Dalits)–यद्यपि केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, रेडक्रास, आदि ने इनके उद्धार के लिये भरसक प्रयत्न किये हैं, तथापि, यह प्रथा आज भी कुछ सीमा तक प्रचलित है। दलितों के उत्थान के लिये कुछ प्रभावशाली सुझाव निम्न प्रकार हैं–

1. इनकी आर्थिक दशा में सुधार किया जाना चाहिये।
2. शिक्षा द्वारा इनके पक्ष में जनमत तैयार किया जाना चाहिये।
3. इन लोगों की बस्तियाँ साधारण बस्तियों में ही होनी चाहिये जिससे भेदभाव की प्रकृति में कुछ कमी हो सके।
4. अनुसूचित जातियों के लिये पृथक विद्यालय नहीं खोले जाने चाहिये।
5. अछूतों की दशा सुधारने के लिये ग्रामों में प्रौढ़ शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।
6. इन लोगों का शोषण समाप्त होना चाहिये तथा इनके कार्य के बदले उचित वेतन देने सम्बन्धी नियम बनाये जाने चाहिये।
7. स्वस्थ मनोरंजन के द्वारा इनके नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने का भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिये।
8. केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों को अन्तर जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना चाहिये।
9. धार्मिक तथा राजनीतिक अवसरों पर भी दलितों के सदस्यों को सम्मिलित होने का समान अवसर मिलना चाहिये।
10. 21 सूत्रीय दलित एजेण्डे (भोपाल घोषणा पत्र) को लागू किया जाना चाहिये।

<u>प्रश्न 8–</u> बाल विवाह निरोधक अधिनियम की विवेचना कीजिए?

<u>उत्तर–</u> बाल विवाह निषेध अधिनियम–बाल विवाह निषेध अधिनियम, जिसे प्रोहिबिशन ऑफ चाइल्ड मैरिज एक्ट (PCMA), 2006 के नाम से भी जाना जाता है, भारत में बाल विवाह को रोकने और लड़कियों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए एक महत्वपूर्ण कानून है। इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधान और इसके प्रभाव निम्नलिखित हैंरू

प्रमुख प्रावधान– बाल विवाह की परिभाषारू इस अधिनियम के अनुसार, बाल विवाह वह विवाह है जिसमें लड़का या लड़की दोनों में से कोई एक नाबालिग हो। लड़कियों के लिए न्यूनतम विवाह की आयु 18 वर्ष और लड़कों के लिए 21 वर्ष निर्धारित की गई है।

बाल विवाह का निषेध– इस अधिनियम के तहत, बाल विवाह को प्रतिबंधित किया गया है और इसके लिए सजा का प्रावधान है। जो कोई भी बाल विवाह में सहायता या भाग लेता है, उसे सजा दी जा सकती है।

बाल विवाह रोकने के उपाय– इस अधिनियम के तहत, सरकार और अन्य संबंधित एजेंसियों को बाल विवाह को रोकने के लिए उपाय करने का निर्देश दिया गया है, जैसे कि जागरूकता अभियान चलाना, शिक्षा को बढ़ावा देना और बाल विवाह के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करना।

प्रभाव–

बाल विवाह में कमी– इस अधिनियम के लागू होने के बाद, बाल विवाह की घटनाओं में कमी आई है। लोगों में जागरूकता बढ़ी है और बाल विवाह के खिलाफ सामाजिक समर्थन बढ़ा है।

लड़कियों के अधिकारों की रक्षा– इस अधिनियम ने लड़कियों के अधिकारों की रक्षा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे लड़कियों को शिक्षा और स्वस्थ विकास के अवसर मिले हैं।

सामाजिक परिवर्तन– इस अधिनियम ने समाज में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने में मदद की है। लोगों की मानसिकता में बदलाव आया है और बाल विवाह को एक सामाजिक बुराई के रूप में देखा जाने लगा है।

चुनौतियाँ और सुझाव–

जागरूकता की कमी– अभी भी कई क्षेत्रों में बाल विवाह के बारे में जागरूकता की कमी है। लोगों को इस अधिनियम के प्रावधानों और बाल विवाह के दुष्प्रभावों के बारे में शिक्षित करने की आवश्यकता है।

कानूनी कार्रवाई– बाल विवाह के मामलों में कानूनी कार्रवाई करने की आवश्यकता है। दोषियों को सजा दिलाने से ही बाल विवाह की घटनाओं में कमी आएगी।

शिक्षा और सशक्तिकरण– लड़कियों को शिक्षा और सशक्तिकरण के अवसर प्रदान करने से वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होंगी और बाल विवाह का विरोध कर सकेंगी।

निष्कर्ष–बाल विवाह निषेध अधिनियम ने बाल विवाह को रोकने और लड़कियों के अधिकारों की रक्षा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके प्रभाव से समाज में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है और बाल विवाह की घटनाओं में कमी आई है। फिर भी, इस अधिनियम को प्रभावी ढंग से लागू करने और बाल विवाह को पूरी तरह से समाप्त करने के लिए निरंतर प्रयासों की आवश्यकता है।

<u>प्रश्न 9–</u> जाति तथा वर्ग में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

<u>उत्तर–</u> 1– जाति बन्द में जबकि वर्ग में खुलापन है– जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित होने के कारण व्यक्ति इसमें आजीवन किसी प्रकार परिवर्तन नहीं कर सकता। इसके विपरीत, वर्ग की सदस्यता में किसी भी समय परिवर्तन हो सकता है।

2. जाति का आधार जन्म है, जबकि वर्ग सामाजिक स्थिति पर आधारित है– एक जाति के सदस्य एक विशेष जाति में जन्म लेने के कारण ही उसके सदस्य होते है। इस प्रकार एक ही जाति में विभिन्न प्रकार की योग्यता, कुशलता और आर्थिक स्थिति वाले सदस्य होते है। इसके विपरीत, एक वर्ग के सभी सदस्यों की योग्यता और सामाजिक स्थिति लगभग समान होती है।

3. जाति की सदस्य प्रदत्त है जबकि वर्ग की सदस्यता अर्जित होती है– जाति सदस्यता को प्राप्त करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता बल्कि जन्म के द्वारा अपने आप प्राप्त हो जाती है, जबकि वर्ग व्यवस्था में एक वर्ग की सदस्यता प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को जागरूक होकर प्रयत्न करना पड़ता है।

4. जाति का व्यवसाय निश्चित है, वर्ग का नहीं–परम्परागत रूप से प्रत्येक जाति का पेशा पूर्व निर्धारित होता है और इसी के द्वारा जीविका उपार्जित करना सदस्यों का नैतिक दायित्व माना जाता है। वर्ग का आधार एक विशेष सामाजिक और आर्थिक स्थिति है जिसको किसी भी व्यवसाय के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

5. जाति के व्यवहार सम्बन्धी निषेध वर्ग से अधिक जटिल है– जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में दूरी की भावना संस्थागत हो जाती है और इन नियमों का अवहेलना करना सामाजिक अपराध समझा जाता है। जबकि वर्ग व्यवस्था में व्यावहारिक रूप से दूरी बनाये रखते है, इनके लिये कोई निश्चित नियम नहीं होते।

6. जाति व्यवस्था की अपेक्षा वर्ग–व्यवस्था अस्थिर है– वर्ग की सदस्यता व्यक्तिकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित होने के कारण इसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। इसके विपरीत, जाति व्यवस्था अपेक्षाकृत रूप से एक स्थायी संगठन है जिसकी विशेषताओं में हजारों वर्षो के बाद अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है।

7. वर्गों की अपेक्षा जातियों का संस्तरण अधिक निश्चित और स्पष्ट है– जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की स्थिति दूसरी जाति की अपेक्षा स्पष्ट रूप से ऊंची अथवा नीची होती है। इसके पूर्णतया विपरीत विभिन्न वर्गों में किसी को भी महत्व और कार्य के दृष्टिकोण से दूसरे की अपेक्षा निम्न अथवा उच्च नहीं कहा जा सकता।

<u>प्रश्न 10–</u> सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा तथा सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव की विवेचना कीजिए?

<u>उत्तर–</u> परिवर्तन अवश्वम्भावी है क्योंकि यह प्रकृति का नियम है। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थिर रहता है। इसमें कुछ न कुछ परिवर्तन सदैव होता रहता है। प्रकृति में जड़ एवं चेतन अर्थात् प्रत्येक जीव एवं सभी प्रकार का वस्तुओं, में निरन्तरता और गतिशीलता इसी के द्वारा सम्भव हो पाती है। मैकाबर एवं पेज का कहना है कि ''समाज परिवर्तनशील तथा गत्यात्मक दोनों है।''

प्रत्येक प्रकार के परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जाता है। सामाजिक परिवर्तन मनुष्य एवं समूह अथवा एक समूह तथा दूसरे को पारस्परिक सम्बन्धों में होने वाला परिवर्तन है। वास्तव में, समाज से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं, सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रकार्यो एवं सामाजिक संस्थाओं, घटनाओं और प्रक्रियाओं में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। जो समाज जितना ही अधिक गतिशील होता है, उसमें परिवर्तन की गति उतनी ही अधिक होती है। कम गतिशील होता है, उसमें परिवर्तन की गति उतनी ही अधिक होती है। कम गतिशील समाज में परिवर्तन की गति धीमी होती है। परन्तु प्रत्येक समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया चलती है, चाहे उसकी गति जो भी हो।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ परिभाषा– सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि जब सामाजिक ढांचे में परिवर्तन घटित होते है तो सामाजिक परिवर्तन कहते है। इसके विपरीत कुछ ऐसे सामाजशास्त्री है, जिनका विचार है कि सामाजिक सम्बन्ध में जब परिवर्तन होते है, जब उसे सामाजिक कहते है।

प्रारम्भ में समाज–वैज्ञानिक ने उद्‌विकास, प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तन में कोई भेद नहीं किया जाता था और वे इन तीनों अवधारणाओं का प्रयोग एक ही कार्य में करते थे। पहली बार सन् 1922 में आगबर्न ने अपनी पुस्तक 'Social Change' में इनमें पाये जाने वाले भेद को स्पष्ट किया है। उसके बाद से समाजशास्त्रीय साहित्य में इन शब्दों का प्रयोग खूब हुआ। सम्पूर्ण समाज अथवा उसके किसी भी पक्ष में होने वाले परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे।

यहां हम कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा दी गयी परिभाषाओं के आधार पर आधार पर सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट करेंगे–

1. मैकाइबर एवं पेज के अनुसार– ''समाजशास्त्री होने के नाते हमारी विशेष रूचि प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सम्बन्धों में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही हम सामाजिक परिवर्तन कहते है।''

2. किंग्सले डेविस के अनुसार–''सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय इन परिवर्तनों से हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज की सरंचना और कार्यों में उत्पन्न होते हैं।''

3. गिलिन एवं गिलिन के अनुसार–''सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत रीतियों में घटित परिवर्तन को कहते है, चाहे परिवर्तन भागौलिक दशाओं, सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचाराधाराओं में परिवर्तन से उत्पन्न हुआ हो, और चाहे प्रसार के द्वारा अथवा समूह के अन्तर्गत हुये आविष्कारों के परिणामस्वरूप सम्भव हुआ हो।''

4. जोन्स के अनुसार–''सामाजिक परिवर्तन'' वह शब्द है जो कि सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अर्न्तक्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी भाग में घटित होने वाले हेर–फेर या संशोधन के लिये प्रयोग किया गया है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं का यदि विश्लेषण किया जाये तो हमें ज्ञात होता है कि सबसे अधिक बल इस बात पर दिया गया है कि सामाजिक परिवर्तन सामाजिक संरचना में घटित होते है। इस परिवर्तन को सामाजिक

संरचना के विभिन्न प्रतिमानों में देखा जा सकता है। दूसरा तथ्य सामाजिक सम्बन्ध व संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों पर बल देता है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्री समाज के मुख्यतः तीन पक्षों में होने वाले परिवर्तनों को 'सामाजिक परिवर्तन' की संज्ञा देते हैं। ये तीन पक्ष क्रमशः इस प्रकार है– सामाजिक संरचना और प्रकार्य सामाजिक सम्बन्ध तथा संस्कृति।

सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव–सामाजिक परिवर्तन समाज में एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो विभिन्न कारकों के कारण होती है और इसके प्रभाव समाज के विभिन्न पहलुओं पर दिखाई देते हैं। सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव निम्नलिखित हैं–

सकारात्मक प्रभाव

सामाजिक प्रगति– सामाजिक परिवर्तन समाज में प्रगति को बढ़ावा देता है। यह नए विचारों, तकनीकों और मूल्यों को अपनाने के माध्यम से समाज को आगे बढ़ाता है।

सामाजिक न्याय– सामाजिक परिवर्तन सामाजिक न्याय को बढ़ावा देता है। यह समाज में व्याप्त असमानताओं को दूर करने और सभी व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करने में मदद करता है।

महिला सशक्तिकरण– सामाजिक परिवर्तन महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देता है। यह महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करता है और उन्हें समाज में समान अवसर प्रदान करने में मदद करता है।

शिक्षा का प्रसार– सामाजिक परिवर्तन शिक्षा के प्रसार को बढ़ावा देता है। यह लोगों को शिक्षित करने और उन्हें नए कौशल और ज्ञान से लैस करने में मदद करता है।

नकारात्मक प्रभाव

सामाजिक अस्थिरता– सामाजिक परिवर्तन सामाजिक अस्थिरता का कारण बन सकता है। यह पुराने मूल्यों और परंपराओं को चुनौती देता है और नए मूल्यों को अपनाने में कठिनाई हो सकती है।

सामाजिक तनाव– सामाजिक परिवर्तन सामाजिक तनाव का कारण बन सकता है। यह विभिन्न समूहों के बीच मतभेद और संघर्ष को बढ़ावा दे सकता है।

पारंपरिक मूल्यों का क्षरण– सामाजिक परिवर्तन पारंपरिक मूल्यों का क्षरण कर सकता है। यह पुरानी परंपराओं और मूल्यों को भूलने और नए मूल्यों को अपनाने का कारण बन सकता है।

आर्थिक असमानता– सामाजिक परिवर्तन आर्थिक असमानता को बढ़ा सकता है। यह कुछ समूहों को आर्थिक रूप से मजबूत बना सकता है जबकि अन्य समूहों को पीछे छोड़ सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों को प्रबंधित करना

जागरूकता और शिक्षा– सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों को प्रबंधित करने के लिए जागरूकता और शिक्षा महत्वपूर्ण हैं। लोगों को सामाजिक परिवर्तन के बारे में शिक्षित करने और उन्हें इसके प्रभावों के प्रति जागरूक करने की आवश्यकता है।

सामाजिक समर्थन– सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों को प्रबंधित करने के लिए सामाजिक समर्थन महत्वपूर्ण है। समाज के विभिन्न समूहों को एक साथ लाने और उन्हें सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों का सामना करने में मदद करने की आवश्यकता है।

नीतियों और कार्यक्रमों का विकास– सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों को प्रबंधित करने के लिए नीतियों और कार्यक्रमों का विकास महत्वपूर्ण है। सरकार और अन्य संगठनों को सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों को कम करने और इसके सकारात्मक प्रभावों को बढ़ावा देने के लिए नीतियों और कार्यक्रमों का विकास करना चाहिए।

निष्कर्ष–सामाजिक परिवर्तन समाज में एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रभाव हो सकते हैं। इसके प्रभावों को प्रबंधित करने के लिए जागरूकता, शिक्षा, सामाजिक समर्थन और नीतियों और कार्यक्रमों का विकास महत्वपूर्ण है। सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों को समझने और उन्हें प्रबंधित करने से समाज में स्थिरता और प्रगति को बढ़ावा दिया जा सकता है।

B.A.LL.B. 2nd Sem. Paper-III Economics-II

प्रश्न 1– भारत में नियोजन की व्याख्या कीजिए?

उत्तर– भारत में आर्थिक नियोजन एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया रही है जिसका उद्देश्य देश के सीमित संसाधनों का कुशलतम उपयोग करके तीव्र और संतुलित आर्थिक विकास हासिल करना है। स्वतंत्रता के बाद, भारत ने एक मिश्रित अर्थव्यवस्था का मॉडल अपनाया, जिसमें सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। आर्थिक नियोजन इसी ढांचे के तहत विकास की दिशा और गति निर्धारित करने का एक प्रमुख उपकरण बन गया।

आर्थिक नियोजन का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Economic Planning)–आर्थिक नियोजन से तात्पर्य सरकार द्वारा एक निश्चित समय अवधि के लिए अर्थव्यवस्था के विकास के लक्ष्यों, प्राथमिकताओं और नीतियों का निर्धारण करना है। इसमें उपलब्ध संसाधनों का आकलन करना, विभिन्न क्षेत्रों के लिए लक्ष्य तय करना और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए रणनीतियां बनाना शामिल है। यह एक सचेत और सुविचारित प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य बाजार की शक्तियों को विकास के राष्ट्रीय उद्देश्यों के अनुरूप दिशा देना है।

भारत में आर्थिक नियोजन का इतिहास (History of Economic Planning in India)–भारत में आर्थिक नियोजन की जड़ें स्वतंत्रता से पहले भी मौजूद थीं। 1934 में, सर एम. विश्वेश्वरैया ने ''लांड इकोनॉमी फॉर इंडिया'' नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें भारत के लिए आर्थिक नियोजन की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। इसके बाद, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1938 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया।

स्वतंत्रता के बाद, 15 मार्च 1950 को भारत सरकार ने योजना आयोग (Planning Commission) की स्थापना की, जिसने देश में पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण और कार्यान्वयन शुरू किया। पहली पंचवर्षीय योजना 1951 में शुरू हुई थी, और तब से बारह पंचवर्षीय योजनाएं पूरी हो चुकी हैं। 2015 में, योजना आयोग को नीति आयोग (NITI Aayog & National Institution for Transforming India) से बदल दिया गया, जिसका उद्देश्य विकास की प्रक्रिया में राज्यों को अधिक शामिल करना और एक अधिक सहभागितापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना है।

भारत में आर्थिक नियोजन के मुख्य उद्देश्य (Main Objectives of Economic Planning in India)–भारत में आर्थिक नियोजन के कई महत्वपूर्ण उद्देश्य रहे हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं–

आर्थिक विकास (Economic Growth)– राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना नियोजन का एक प्राथमिक लक्ष्य रहा है ताकि जीवन स्तर को सुधारा जा सके।

पूर्ण रोजगार (Full Employment)– सभी सक्षम व्यक्तियों को लाभकारी रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना।

आत्मनिर्भरता (Self-reliance)– महत्वपूर्ण वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में आत्मनिर्भरता हासिल करना और आयात पर निर्भरता को कम करना।

सामाजिक न्याय और समानता (Social Justice and Equality)– आय और संपत्ति की असमानताओं को कम करना और समाज के सभी वर्गों को विकास का लाभ पहुंचाना। इसमें गरीबी उन्मूलन, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक समान पहुंच सुनिश्चित करना शामिल है।

आधुनिकीकरण (Modernization)– अर्थव्यवस्था में नई तकनीकों और उत्पादन विधियों को अपनाना, जिससे उत्पादकता और दक्षता में वृद्धि हो।

संरचनात्मक परिवर्तन (Structural Change)– अर्थव्यवस्था की संरचना में बदलाव लाना, जैसे कि कृषि पर निर्भरता कम करना और उद्योग तथा सेवा क्षेत्रों का विकास करना।

क्षेत्रीय संतुलन (Regional Balance)– देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच विकास के स्तर में असमानताओं को कम करना।

पंचवर्षीय योजनाओं की मुख्य विशेषताएं (Main Features of Five-Year Plans)–पंचवर्षीय योजनाओं में प्रत्येक योजना के लिए विशिष्ट लक्ष्य और प्राथमिकताएं निर्धारित की जाती थीं। कुछ सामान्य विशेषताएं इस प्रकार थीं–

निर्धारित समय अवधि– प्रत्येक योजना पांच वर्षों की अवधि के लिए बनाई जाती थी।

लक्ष्य–आधारित– प्रत्येक योजना में विशिष्ट आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने पर ध्यान केंद्रित किया जाता था।

संसाधन आवंटन– योजना में विभिन्न क्षेत्रों के लिए सार्वजनिक और निजी निवेश के लिए संसाधनों का आवंटन किया जाता था।

नीतिगत हस्तक्षेप–लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों का निर्धारण किया जाता था।

क्षेत्रीय प्राथमिकताएं– समय–समय पर योजनाओं में कृषि, उद्योग, बुनियादी ढांचा, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि जैसे विभिन्न क्षेत्रों को प्राथमिकता दी जाती थी।

योजना आयोग से नीति आयोग तक– एक बदलाव (From Planning Commission to NITI Aayog: A Change)–

योजना आयोग, एक शीर्ष–स्तरीय सरकारी निकाय होने के बावजूद, कुछ आलोचनाओं का सामना कर रहा था, जैसे कि राज्यों की पर्याप्त भागीदारी का अभाव और बदलते आर्थिक परिवेश के साथ तालमेल बिठाने में कठिनाई। इसी कारण से, 2015 में इसे नीति आयोग द्वारा प्रतिस्थापित किया गया।

नीति आयोग का मुख्य उद्देश्य एक ऐसा मंच प्रदान करना है जो केंद्र और राज्य सरकारों को राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मिलकर काम करने में सक्षम बनाए। नीति आयोग का दृष्टिकोण अधिक विकेंद्रीकृत, सहभागितापूर्ण और परिणाम–उन्मुख है। यह राज्यों को विकास की नीतियों और कार्यक्रमों को तैयार करने में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रोत्साहित करता है।

निष्कर्ष (Conclusion)–भारत में आर्थिक नियोजन ने देश के विकास की दिशा और गति को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से, भारत ने विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रगति हासिल की है। नीति आयोग की स्थापना के साथ, भारत का आर्थिक नियोजन का दृष्टिकोण और अधिक गतिशील और समावेशी बनने की ओर अग्रसर है, जिसका लक्ष्य सतत और संतुलित विकास को प्राप्त करना है। यह प्रक्रिया देश की जटिल आर्थिक और सामाजिक चुनौतियों का समाधान करने और एक समृद्ध और न्यायपूर्ण भविष्य का निर्माण करने के लिए महत्वपूर्ण बनी रहेगी।

<u>प्रश्न 2–</u> कृषि के स्वभाव एवं महत्व पर प्रकाश डालिए?

<u>उत्तर–</u> कृषि की प्रकृति (Nature of Agriculture)–अर्थशास्त्र में कृषि को एक विशिष्ट प्रकार की आर्थिक गतिविधि के रूप में देखा जाता है, जिसकी अपनी कुछ अनूठी विशेषताएं हैं–

प्राकृतिक कारकों पर निर्भरता (Dependence on Natural Factors)– कृषि मुख्य रूप से मिट्टी, जलवायु, वर्षा, धूप आदि प्राकृतिक तत्वों पर निर्भर करती है। ये कारक उत्पादन की मात्रा और गुणवत्ता को सीधे प्रभावित करते हैं और इन पर मनुष्य का पूर्ण नियंत्रण नहीं होता। इस कारण कृषि में अनिश्चितता और जोखिम की मात्रा अधिक होती है।

जैविक प्रक्रिया (Biological Process)– कृषि एक जैविक प्रक्रिया है जिसमें पौधों और जानवरों की वृद्धि और विकास शामिल है। इसमें समय लगता है और इसे औद्योगिक उत्पादन की तरह तुरंत बढ़ाया या घटाया नहीं जा सकता।

भूमि की सीमितता (Limited Availability of Land)– कृषि उत्पादन के लिए भूमि एक महत्वपूर्ण और सीमित संसाधन है। जनसंख्या वृद्धि और अन्य उद्देश्यों के लिए भूमि के उपयोग के कारण कृषि योग्य भूमि पर दबाव बढ़ता जा रहा है।

मौसमी प्रकृति (Seasonal Nature)– अधिकांश कृषि कार्य मौसमी होते हैं और एक विशेष समय अवधि में ही किए जा सकते हैं। यह उत्पादन और रोजगार के अवसरों को प्रभावित करता है।

विभिन्न प्रकार के उत्पादन (Diverse Production)– कृषि में खाद्यान्न, फल, सब्जियां, रेशे, ईंधन और पशुधन सहित विभिन्न प्रकार के उत्पादों का उत्पादन होता है। यह विविधता इसे अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण और बहुआयामी क्षेत्र बनाती है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार (Base of Rural Economy)– विकासशील देशों में, कृषि ग्रामीण आबादी के लिए आय और रोजगार का मुख्य स्रोत है। यह ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को आकार देती है।

तकनीकी प्रगति की भूमिका (Role of Technological Advancements)– आधुनिक कृषि में उन्नत बीज, उर्वरक, कीटनाशक और मशीनरी का उपयोग बढ़ रहा है, जिससे उत्पादकता में वृद्धि हुई है। हालांकि, तकनीकी अपनाने की गति और पहुंच विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न हो सकती है।

कृषि का महत्व (Importance of Agriculture)–अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व बहुआयामी है और इसे निम्नलिखित बिंदुओं के तहत समझा जा सकता है–

भोजन का स्रोत (Source of Food)– कृषि मानव जीवन के लिए आवश्यक भोजन का प्राथमिक स्रोत है। यह बढ़ती हुई आबादी के लिए खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। खाद्यान्न, फल, सब्जियां, डेयरी उत्पाद और मांस जैसे सभी आवश्यक खाद्य पदार्थ कृषि से ही प्राप्त होते हैं।

रोजगार का सृजन (Employment Generation)– कृषि विश्व स्तर पर रोजगार का एक प्रमुख स्रोत है, खासकर विकासशील देशों में। यह न केवल खेतों में बल्कि कृषि आधारित उद्योगों, जैसे खाद्य प्रसंस्करण, वस्त्र और कृषि आदानों के उत्पादन में भी रोजगार के अवसर प्रदान करती है। भारत जैसे देशों में, आज भी एक बड़ी आबादी अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर है।

राष्ट्रीय आय में योगदान (Contribution to National Income)– कृषि कई देशों की राष्ट्रीय आय (जीडीपी) में महत्वपूर्ण योगदान देती है। हालांकि विकसित अर्थव्यवस्थाओं में इसका सापेक्षिक योगदान कम हो सकता है, लेकिन विकासशील देशों में यह अर्थव्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा होता है। कृषि से प्राप्त आय ग्रामीण क्षेत्रों में मांग को बढ़ाती है और समग्र आर्थिक विकास में योगदान करती है।

औद्योगिक विकास का आधार (Base for Industrial Development)– कृषि कई उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति करती है। कपड़ा उद्योग के लिए कपास, चीनी उद्योग के लिए गन्ना, खाद्य प्रसंस्करण उद्योग के लिए अनाज और फल, और जूट उद्योग के लिए जूट जैसे महत्वपूर्ण कच्चे माल कृषि से ही प्राप्त होते हैं। कृषि क्षेत्र में विकास इन उद्योगों के विकास को गति प्रदान करता है।

विदेशी व्यापार में योगदान (Contribution to Foreign Trade)– कृषि उत्पाद कई देशों के लिए महत्वपूर्ण निर्यात वस्तुएं हैं। चाय, कॉफी, मसाले, कपास और अनाज जैसे कृषि उत्पादों का निर्यात विदेशी मुद्रा अर्जित करने में मदद करता है और व्यापार संतुलन को बेहतर बनाता है।

ग्रामीण विकास का आधार (Basis for Rural Development)– कृषि ग्रामीण अर्थव्यवस्था का केंद्र बिंदु है। कृषि में निवेश से ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी ढांचे का विकास होता है, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच बेहतर होती है, और गरीबी कम होती है। कृषि विकास ग्रामीण समुदायों के सामाजिक–आर्थिक उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

बचत और निवेश का स्रोत (Source of Savings and Investment)– कृषि से प्राप्त अधिशेष आय ग्रामीण क्षेत्रों में बचत और निवेश को बढ़ावा दे सकती है। यह पूंजी निर्माण में मदद करता है जिसका उपयोग आगे कृ षि और अन्य क्षेत्रों के विकास के लिए किया जा सकता है।

मांग का सृजन (Creation of Demand)– कृषि क्षेत्र में आय वृद्धि से औद्योगिक और अन्य गैर–कृषि उत्पादों और सेवाओं की मांग बढ़ती है। जब किसानों की आय बढ़ती है, तो वे ट्रैक्टर, उर्वरक, उपभोक्ता वस्तुएं और अन्य आवश्यक चीजें खरीदते हैं, जिससे अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों को भी लाभ होता है।

निष्कर्ष (Conclusion)–संक्षेप में, कृषि एक महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि है जिसकी प्रकृति प्राकृतिक, जैविक और मौसमी कारकों से प्रभावित होती है। यह न केवल मानव जीवन के लिए भोजन प्रदान करती है, बल्कि रोजगार सृजन, राष्ट्रीय आय में योगदान, औद्योगिक विकास का आधार, विदेशी व्यापार में योगदान और ग्रामीण विकास के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। एक मजबूत और विकसित कृषि क्षेत्र किसी भी अर्थव्यवस्था की स्थिरता और प्रगति के लिए आवश्यक है। इसलिए, कृषि क्षेत्र के विकास और आधुनिकीकरण पर ध्यान देना आर्थिक विकास की रणनीति का एक अभिन्न अंग होना चाहिए।

प्रश्न 3– हरितक्रान्ति क्या है? भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव की व्याख्या कीजिए?

उत्तर– हरित क्रांति क्या है? (What is Green Revolution?)–हरित क्रांति से तात्पर्य 1960 के दशक के मध्य में विकासशील देशों में कृषि उत्पादन में हुई अभूतपूर्व वृद्धि से है। यह मुख्य रूप से उच्च उपज देने वाली किस्मों (High Yielding Varieties & HYVs) के बीजों, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों और बेहतर सिंचाई तकनीकों के उपयोग के माध्यम से संभव हुआ। इस क्रांति का मुख्य उद्देश्य खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ाकर खाद्य सुरक्षा प्राप्त करना था। वैश्विक स्तर पर, नॉर्मन बोरलॉग को 'हरित क्रांति का जनक' माना जाता है, जबकि भारत में एम.एस. स्वामीनाथन ने इस आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, इसलिए उन्हें 'भारत में हरित क्रांति का जनक' कहा जाता है।

भारत में हरित क्रांति की शुरुआत 1965 में हुई, जब देश गंभीर खाद्य संकट से जूझ रहा था। तत्कालीन सरकार ने कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए एक नई रणनीति अपनाई, जिसमें उन्नत तकनीकों और बीजों का उपयोग शामिल था।

हरित क्रांति का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव (Impact of Green Revolution on Indian Economy)–हरित क्रांति ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर दूरगामी और बहुआयामी प्रभाव डाला। इसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू हैं–

सकारात्मक प्रभाव (Positive Impacts)–

कृषि उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि (Unprecedented Increase in Agricultural Production)– हरित क्रांति का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव खाद्यान्न उत्पादन में भारी वृद्धि थी। उच्च उपज देने वाली किस्मों के उपयोग से गेहूं और चावल जैसी प्रमुख फसलों की उत्पादकता में कई गुना वृद्धि हुई। 1960 के दशक में जहां भारत खाद्यान्न के लिए आयात पर निर्भर था, वहीं हरित क्रांति के बाद देश न केवल आत्मनिर्भर बना बल्कि अनाज का निर्यात करने की स्थिति में भी आ गया।

खाद्य सुरक्षा (Food Security)– हरित क्रांति ने भारत को खाद्य सुरक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बढ़ती जनसंख्या के लिए पर्याप्त भोजन उपलब्ध हो सका और बार–बार पड़ने वाले अकालों का खतरा काफी हद तक कम हो गया।

किसानों की आय में वृद्धि (Increase in Farmers' Income)– बढ़ी हुई उत्पादकता और फसल उत्पादन से किसानों की आय में`पहदपपिबंदज वृद्धि हुई। इसने उन्हें बेहतर जीवन स्तर जीने और कृषि में अधिक निवेश करने में सक्षम बनाया।

रोजगार सृजन (Employment Generation)–कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ कृषि आधारित उद्योगों और सेवाओं जैसे सिंचाई, परिवहन, खाद्य प्रसंस्करण और विपणन में भी रोजगार के नए अवसर पैदा हुए। इसने ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार की उपलब्धता को बढ़ाया।

औद्योगिक विकास को बढ़ावा (Boost to Industrial Development)– कृषि क्षेत्र में विकास ने कृषि आदान उद्योगों (जैसे उर्वरक, कीटनाशक, कृषि मशीनरी) और कृषि प्रसंस्करण उद्योगों के विकास को गति दी। कृषि उत्पादों की बढ़ती आपूर्ति ने इन उद्योगों के लिए कच्चे माल की उपलब्धता सुनिश्चित की।

विदेशी मुद्रा की बचत (Saving of Foreign Exchange)– खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने से भारत को अनाज आयात पर खर्च होने वाली बहुमूल्य विदेशी मुद्रा की बचत हुई।

ग्रामीण विकास को प्रोत्साहन (Impetus to Rural Development)– किसानों की आय में वृद्धि और रोजगार के नए अवसरों के सृजन से ग्रामीण क्षेत्रों का सामाजिक–आर्थिक विकास हुआ। शिक्षा, स्वास्थ्य और बुनियादी ढांचे में सुधार के लिए निवेश बढ़ा।

नकारात्मक प्रभाव (Negative Impacts)–

क्षेत्रीय असमानता (Regional Disparity)– हरित क्रांति का प्रभाव सभी क्षेत्रों में समान नहीं रहा। यह मुख्य रूप से उन क्षेत्रों तक ही सीमित रहा जहां सिंचाई की बेहतर सुविधाएँ उपलब्ध थीं, जैसे कि पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश। वर्षा आधारित कृषि वाले क्षेत्र इससे अपेक्षाकृत कम लाभान्वित हुए, जिससे क्षेत्रीय असमानता बढ़ी।

फसल विशिष्टता (Crop Specificity)– हरित क्रांति मुख्य रूप से गेहूं और चावल जैसी कुछ प्रमुख फसलों पर केंद्रित रही। अन्य महत्वपूर्ण फसलें जैसे दालें, मोटे अनाज और तिलहन अपेक्षाकृत उपेक्षित रहीं, जिससे फसल विविधीकरण को नुकसान हुआ।

पर्यावरणीय प्रभाव (Environmental Impact)– रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के अत्यधिक उपयोग से मिट्टी की उर्वरता में कमी, जल प्रदूषण, और जैव विविधता का नुकसान हुआ। गहन कृषि पद्धतियों के कारण भूमि क्षरण और जल स्तर में गिरावट भी देखी गई।

आर्थिक असमानता (Economic Inequality)– हरित क्रांति का लाभ बड़े किसानों को छोटे और सीमांत किसानों की तुलना में अधिक मिला। उन्नत तकनीक और आदान खरीदने की क्षमता रखने वाले बड़े किसानों ने अधिक लाभ कमाया, जबकि छोटे किसान पिछड़ गए, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक असमानता बढ़ी।

स्वास्थ्य पर प्रभाव (Impact on Health)– रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों के अवशेष खाद्य पदार्थों में पाए जाने से मानव स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ने की आशंका बढ़ी।

जल का अत्यधिक उपयोग (Excessive Use of Water)– उच्च उपज देने वाली किस्मों की फसलों को अधिक सिंचाई की आवश्यकता होती है, जिससे कई क्षेत्रों में जल संसाधनों पर दबाव बढ़ा और भूजल स्तर में गिरावट आई।

निष्कर्ष (Conclusion)–हरित क्रांति भारतीय कृषि के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुई। इसने देश को खाद्यान्न संकट से निकालकर आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर किया और अर्थव्यवस्था के कई क्षेत्रों को

सकारात्मक रूप से प्रभावित किया। हालांकि, इसके कुछ नकारात्मक परिणाम भी सामने आए, जैसे कि क्षेत्रीय और आर्थिक असमानता तथा पर्यावरणीय क्षति। भविष्य में कृषि विकास की रणनीतियों को इन नकारात्मक प्रभावों को कम करने और सतत कृषि पद्धतियों को बढ़ावा देने पर ध्यान केंद्रित करना होगा ताकि हरित क्रांति के लाभों को दीर्घकाल तक बनाए रखा जा सके और सभी किसानों तथा क्षेत्रों को समान रूप से लाभ मिल सके।

प्रश्न 4– औद्योगिक लाइसेसिंग नीति से आप क्या समझते है?

उत्तर– औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति का अर्थ (Meaning of Industrial Licensing Policy)–औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति सरकार द्वारा उद्योगों की स्थापना, विस्तार, उत्पादन और स्थान को नियंत्रित करने के लिए बनाई गई नियमों और प्रक्रियाओं का एक समूह है। इसके तहत, किसी भी नई औद्योगिक इकाई को स्थापित करने या मौजूदा इकाई का विस्तार करने या नए उत्पादों का उत्पादन शुरू करने के लिए सरकार से पूर्व अनुमति या लाइसेंस प्राप्त करना अनिवार्य होता है। यह नीति मुख्य रूप से स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार द्वारा औद्योगिक विकास को एक निश्चित दिशा देने, संसाधनों का उचित आवंटन सुनिश्चित करने और क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने के उद्देश्य से लागू की गई थी।

सरल शब्दों में कहें तो, औद्योगिक लाइसेंसिंग सरकार की एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके तहत निजी उद्यमियों को कोई भी नया उद्योग शुरू करने या अपने मौजूदा उद्योग का विस्तार करने के लिए सरकार से 'अनुमति पत्र' लेना पड़ता था।

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति के मुख्य उद्देश्य (Main Objectives of Industrial Licensing Policy)–भारत में औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति लागू करने के पीछे कई महत्वपूर्ण उद्देश्य थे, जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं–

औद्योगिक विकास का विनियमन (Regulation of Industrial Development)– सरकार यह सुनिश्चित करना चाहती थी कि औद्योगिक विकास योजनाबद्ध तरीके से हो और अर्थव्यवस्था के समग्र लक्ष्यों के अनुरूप हो।

संसाधनों का कुशल आवंटन (Efficient Allocation of Resources)– लाइसेंसिंग के माध्यम से सरकार यह नियंत्रित कर सकती थी कि सीमित संसाधनों (जैसे पूंजी, कच्चा माल, विदेशी मुद्रा) का विभिन्न उद्योगों और क्षेत्रों के बीच किस प्रकार आवंटन किया जाए।

क्षेत्रीय संतुलन को बढ़ावा देना (Promotion of Regional Balance)–लाइसेंसिंग नीति का उपयोग पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करने और औद्योगिक गतिविधियों के अत्यधिक संकेंद्रण को रोकने के लिए किया गया था। पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने वालों को लाइसेंस आसानी से मिल जाते थे और उन्हें करों और बिजली दरों में छूट जैसी रियायतें भी दी जाती थीं।

छोटे पैमाने के उद्योगों का संरक्षण (Protection of Small & Scale Industries)– कुछ उत्पादों को विशेष रूप से छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए आरक्षित किया गया था, और बड़े उद्योगों को उन उत्पादों का उत्पादन करने के लिए लाइसेंस प्राप्त करना मुश्किल था। इसका उद्देश्य छोटे उद्योगों को बड़े उद्योगों से प्रतिस्पर्धा से बचाना था।

एकाधिकार और आर्थिक शक्ति के संकेंद्रण को रोकना (Preventing Monopoly and Concentration of Economic Power)– लाइसेंसिंग नीति का उपयोग यह सुनिश्चित करने के लिए किया गया था कि कुछ बड़े औद्योगिक घरानों के हाथों में अत्यधिक आर्थिक शक्ति का संकेंद्रण न हो।

आवश्यक वस्तुओं का पर्याप्त उत्पादन सुनिश्चित करना (Ensuring Adequate Production of Essential Goods)–सरकार लाइसेंसिंग के माध्यम से यह सुनिश्चित करना चाहती थी कि देश में आवश्यक वस्तुओं का पर्याप्त उत्पादन हो।

विदेशी मुद्रा का संरक्षण (Conservation of Foreign Exchange)– आयात प्रतिस्थापन को प्रोत्साहित करने और अनावश्यक आयातों को नियंत्रित करने के लिए भी लाइसेंसिंग नीति का उपयोग किया गया था।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति का प्रभाव (Impact of Industrial Licensing Policy on Indian Economy)–औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति का भारतीय अर्थव्यवस्था पर मिश्रित प्रभाव पड़ा। इसके कुछ सकारात्मक पहलू थे, लेकिन कुछ नकारात्मक परिणाम भी सामने आए–

सकारात्मक प्रभाव (Positive Impacts)–

औद्योगिक विकास की दिशा (Direction of Industrial Development)– इस नीति ने शुरुआती वर्षों में भारत के औद्योगिक विकास को एक निश्चित दिशा प्रदान की और सार्वजनिक क्षेत्र को महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में मदद की।

पिछड़े क्षेत्रों का विकास (Development of Backward Regions)– लाइसेंसिंग नीति ने पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित करके क्षेत्रीय असमानताओं को कुछ हद तक कम करने में मदद की।

छोटे उद्योगों का संरक्षण (Protection of Small Industries)–कुछ उत्पादों को छोटे उद्योगों के लिए आरक्षित करने से उन्हें बड़े उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करने में मदद मिली और रोजगार सृजन को बढ़ावा मिला।

आत्मनिर्भरता की ओर कदम (Steps Towards Self &Reliance)–इस नीति ने आयात प्रतिस्थापन को बढ़ावा दिया और कुछ क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने में मदद की।

नकारात्मक प्रभाव (Negative Impacts)–

लालफीताशाही और भ्रष्टाचार (Red Tapism and Corruption)– लाइसेंस प्राप्त करने की प्रक्रिया अक्सर जटिल, लंबी और नौकरशाही से भरी होती थी, जिससे देरी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला।

प्रतिस्पर्धा का अभाव और अक्षमता (Lack of Competition and Inefficiency)– लाइसेंसिंग ने नए उद्योगों के प्रवेश को मुश्किल बना दिया, जिससे प्रतिस्पर्धा कम हुई और मौजूदा उद्योगों में अक्षमता बनी रही। उद्योगों को अपनी उत्पादन क्षमता बढ़ाने या नए उत्पादों को पेश करने के लिए भी सरकार की अनुमति की आवश्यकता होती थी, जिससे नवाचार और विकास बाधित हुआ।

संसाधनों का दुरुपयोग (Misallocation of Resources)– लाइसेंस अक्सर राजनीतिक और अन्य गैर–आर्थिक कारणों से आवंटित किए जाते थे, जिससे संसाधनों का कुशल आवंटन नहीं हो पाता था।

औद्योगिक विकास की धीमी गति (Slow Pace of Industrial Development)– लाइसेंसिंग प्रक्रिया में देरी और प्रतिबंधों के कारण औद्योगिक विकास की गति धीमी रही।

निजी क्षेत्र पर नियंत्रण (Control over Private Sector)– इस नीति ने निजी क्षेत्र की स्वतंत्रता को सीमित कर दिया और उन्हें सरकार की अनुमति पर निर्भर बना दिया।

उत्पादकता और गुणवत्ता पर नकारात्मक प्रभाव (Negative Impact on Productivity and Quality)– प्रतिस्पर्धा के अभाव के कारण उद्योगों ने उत्पादकता और गुणवत्ता सुधार पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया।

निष्कर्ष (Conclusion)–औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति स्वतंत्रता के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था के शुरुआती विकास में एक महत्वपूर्ण उपकरण थी। इसके कुछ सकारात्मक योगदान रहे, खासकर औद्योगिक विकास की दिशा तय करने और पिछड़े क्षेत्रों को बढ़ावा देने में। हालांकि, समय के साथ, इस नीति की कमियां स्पष्ट होने लगीं, जिसमें लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, प्रतिस्पर्धा का अभाव और धीमी औद्योगिक विकास प्रमुख थे। 1991 में शुरू हुए आर्थिक सुधारों के तहत, अधिकांश उद्योगों के लिए लाइसेंसिंग की आवश्यकता को समाप्त कर दिया गया, जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था अधिक उदार और प्रतिस्पर्धी बन सकी। वर्तमान में, कुछ विशिष्ट उद्योगों (जैसे रक्षा, कुछ खतरनाक रसायन) के लिए ही औद्योगिक लाइसेंसिंग अनिवार्य है।

<u>प्रश्न 5–</u> फेरा एवं फेमा में अन्तर स्पष्ट कीजिए?

<u>उत्तर–</u> भारत में विदेशी मुद्रा (foreign exchange) के प्रबंधन और विनियमन के लिए दो महत्वपूर्ण कानून रहे हैं– विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act & FERA) और इसका उत्तराधिकारी विदेशी मुद्रा प्रबंधन अधिनियम (Foreign Exchange Management Act & FEMA)। ये दोनों अधिनियम विदेशी मुद्रा लेनदेन, विदेशी निवेश और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को नियंत्रित करने के लिए बनाए गए थे, लेकिन उनके उद्देश्यों, दृष्टिकोण और प्रावधानों में महत्वपूर्ण अंतर हैं।

विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम (FERA)–

1. पूर्ण रूपः फॉरेन एक्सचेंज रेगुलेशन एक्ट (Foreign Exchange Regulation Act)
2. अधिनियमन वर्षः 1973
3. मुख्य उद्देश्यः विदेशी मुद्रा के संरक्षण और दुरुपयोग को रोकना, देश के सीमित विदेशी मुद्रा भंडार का संरक्षण करना और विदेशी मुद्रा लेनदेन पर सख्त नियंत्रण रखना।
4. दृष्टिकोण– FERA का दृष्टिकोण अत्यधिक नियंत्रणात्मक और प्रतिबंधात्मक था। इसके तहत, लगभग सभी प्रकार के विदेशी मुद्रा लेनदेन के लिए भारतीय रिजर्व बैंक (RBI) से पूर्व अनुमति लेना अनिवार्य था। यह माना जाता था कि विदेशी मुद्रा एक दुर्लभ संसाधन है जिसे सरकार द्वारा सख्ती से नियंत्रित करने की आवश्यकता है।

5. उल्लंघनः FERA के तहत नियमों का उल्लंघन एक आपराधिक अपराध माना जाता था, जिसके लिए कठोर दंड, जिसमें कारावास भी शामिल था, का प्रावधान था। व्यक्ति को तब तक दोषी माना जाता था जब तक वह स्वयं को निर्दोष साबित न कर दे।
6. अधिकृत व्यक्तिः FERA के तहत 'अधिकृत व्यक्ति' की परिभाषा संकीर्ण थी, जिससे विदेशी मुद्रा लेनदेन करने वाले संस्थानों की संख्या सीमित थी।
7. निवासी की परिभाषाः FERA में निवासी का दर्जा नागरिकता के आधार पर निर्धारित किया जाता था।
8. विदेशी निवेशः FERA विदेशी निवेश को लेकर काफी सतर्क और प्रतिबंधात्मक था। विदेशी कंपनियों को भारत में व्यापार करने या निवेश करने के लिए कई तरह की शर्तों और सीमाओं का पालन करना पड़ता था।

विदेशी मुद्रा प्रबंधन अधिनियम (FEMA)–

1.पूर्ण रूपः फॉरेन एक्सचेंज मैनेजमेंट एक्ट (Foreign Exchange Management Act)
2.अधिनियमन वर्षः 1999 (FERA को प्रतिस्थापित किया)
3. मुख्य उद्देश्यः बाहरी व्यापार और भुगतान को सुविधाजनक बनाना, विदेशी मुद्रा बाजार के व्यवस्थित विकास और रखरखाव को बढ़ावा देना और देश के विदेशी मुद्रा भंडार को बढ़ाना।
4.दृष्टिकोणः FEMA का दृष्टिकोण उदार और प्रबंधकीय है। इसका उद्देश्य विदेशी मुद्रा लेनदेन को सरल बनाना और अनावश्यक प्रतिबंधों को हटाना है ताकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश को प्रोत्साहित किया जा सके। यह मानता है कि विदेशी मुद्रा एक परिसंपत्ति है जिसका कुशलतापूर्वक प्रबंधन किया जाना चाहिए।
5.उल्लंघनः FEMA के तहत नियमों का उल्लंघन एक सिविल अपराध माना जाता है, जिसके लिए आमतौर पर मौद्रिक दंड का प्रावधान है। हालांकि, यदि जुर्माना समय पर नहीं भरा जाता है, तो कारावास भी हो सकता है। व्यक्ति को तब तक निर्दोष माना जाता है जब तक उसका अपराध साबित न हो जाए।
6.अधिकृत व्यक्तिः FEMA के तहत 'अधिकृत व्यक्ति' की परिभाषा व्यापक है, जिसमें बैंक और अन्य वित्तीय संस्थान शामिल हैं, जिससे विदेशी मुद्रा लेनदेन की प्रक्रिया अधिक सुगम हुई है।
7. निवासी की परिभाषाः FEMA में निवासी का दर्जा भारत में पिछले वित्तीय वर्ष में 182 दिनों से अधिक रहने के आधार पर निर्धारित किया जाता है।
8. विदेशी निवेशः FEMA विदेशी निवेश को आकर्षित करने और उसे सुगम बनाने के लिए अधिक अनुकूल है। इसने कई क्षेत्रों में स्वचालित मार्ग से विदेशी निवेश की अनुमति दी है और प्रक्रियाओं को सरल बनाया है।
फेरा और फेमा के बीच मुख्य अंतरों को निम्नलिखित बिंदुओं में संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

विशेषता	फेरा (FERA)	फेमा (FEMA)
पूर्ण रूप	विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act)	विदेशी मुद्रा प्रबंधन अधिनियम (Foreign Exchange Management Act)
अधिनियमन वर्ष	1973	1999 (1 जून 2000 से लागू)
मुख्य उद्देश्य	विदेशी मुद्रा का संरक्षण और दुरुपयोग रोकना	बाहरी व्यापार और भुगतान को सुविधाजनक बनाना
दृष्टिकोण	नियंत्रणात्मक, प्रतिबंधात्मक	उदार, प्रबंधकीय, सुविधाप्रदायक
उल्लंघन की प्रकृति	आपराधिक अपराध	सिविल अपराध
दंड	कठोर दंड, कारावास	मौद्रिक दंड (भुगतान न करने पर कारावास)
अधिकृत व्यक्ति	संकीर्ण परिभाषा	व्यापक परिभाषा
निवासी की परिभाषा	नागरिकता आधारित	भारत में रहने की अवधि आधारित
विदेशी निवेश	सतर्क, प्रतिबंधात्मक	अधिक उदार और प्रोत्साहनकारी
विदेशी मुद्रा का दृष्टिकोण	दुर्लभ संसाधन, नियंत्रण आवश्यक	परिसंपत्ति, कुशल प्रबंधन आवश्यक

भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव–

फेरा (FERA)– FERA के प्रतिबंधात्मक प्रावधानों ने विदेशी निवेश को हतोत्साहित किया और भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास को धीमा किया। जटिल प्रक्रियाओं और कठोर नियमों के कारण व्यवसायों के लिए

अंतर्राष्ट्रीय लेनदेन करना मुश्किल था। इसने एक समानांतर 'काला बाजार' (black market) को भी बढ़ावा दिया जहां विदेशी मुद्रा का अवैध रूप से कारोबार होता था।

फेमा (FEMA)– FEMA ने भारतीय अर्थव्यवस्था के उदारीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसने विदेशी निवेश को आकर्षित करने, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने और विदेशी मुद्रा बाजार को अधिक कुशल बनाने में मदद की। सरल नियमों और प्रक्रियाओं के कारण व्यवसायों के लिए सीमा पार लेनदेन करना आसान हो गया। FEMA ने भारत को एक अधिक आकर्षक निवेश गंतव्य के रूप में स्थापित करने में भी योगदान दिया।

निष्कर्ष–फेरा और फेमा भारत में विदेशी मुद्रा प्रबंधन के दो अलग–अलग युगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। FERA एक ऐसे समय में लागू किया गया था जब भारत के पास विदेशी मुद्रा भंडार सीमित था और सरकार अर्थव्यवस्था पर सख्त नियंत्रण रखना चाहती थी। वहीं, FEMA 1991 के आर्थिक सुधारों के बाद लागू किया गया, जिसका उद्देश्य अर्थव्यवस्था को उदार बनाना और वैश्विक व्यापार के साथ तालमेल बिठाना था। FEMA ने एक अधिक लचीला और विकास–उन्मुख दृष्टिकोण अपनाया, जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक स्तर पर अधिक प्रतिस्पर्धी बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

प्रश्न 6– भारत में जनसंख्या वृद्धि के कारण बताइए?

उत्तर– भारत में जनसंख्या वृद्धि एक जटिल मुद्दा है जिसके कई सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारण हैं। यहां कुछ प्रमुख कारण दिए गए हैं–

1. जन्म दर में वृद्धि–

A– उच्च प्रजनन दर– भारत में, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, प्रजनन दर अभी भी अपेक्षाकृत अधिक है। इसके कई कारण हैं, जैसे गरीबी, शिक्षा की कमी, और बच्चों को सामाजिक सुरक्षा और आय का स्रोत मानना।

B–बाल विवाह– भारत में बाल विवाह की प्रथा अभी भी प्रचलित है, खासकर कुछ ग्रामीण इलाकों में। कम उम्र में विवाह होने से महिलाओं के प्रजनन काल की अवधि बढ़ जाती है, जिससे अधिक बच्चे पैदा होने की संभावना होती है।

C–पुत्र की प्राथमिकता– भारतीय समाज में पुत्रों को अधिक महत्व दिया जाता है, जिसके कारण कुछ परिवार तब तक बच्चे पैदा करते रहते हैं जब तक कि उन्हें पुत्र प्राप्त नहीं हो जाता। यह भी जनसंख्या वृद्धि में योगदान देता है।

2. मृत्यु दर में कमी–

A–स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार– पिछले कुछ दशकों में, भारत में स्वास्थ्य सेवाओं में काफी सुधार हुआ है। टीकाकरण, बेहतर चिकित्सा सुविधाएं, और स्वच्छता के कारण शिशु मृत्यु दर और मातृ मृत्यु दर में कमी आई है, जिससे जीवन प्रत्याशा में वृद्धि हुई है।

B–महामारी नियंत्रण– भारत ने कई जानलेवा बीमारियों, जैसे कि चेचक और पोलियो, पर सफलतापूर्वक नियंत्रण पाया है। इससे भी मृत्यु दर में कमी आई है।

3. शिक्षा का अभाव–

A–जनसंख्या नियंत्रण के बारे में जागरूकता की कमी– शिक्षा की कमी के कारण, कई लोगों को जनसंख्या नियंत्रण के उपायों और छोटे परिवार के लाभों के बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं होती है।

B–पारंपरिक मान्यताएं– कुछ पारंपरिक मान्यताएं और अंधविश्वास बड़े परिवारों को प्रोत्साहित करते हैं।

4. गरीबी–

A–बच्चों को आय का स्रोत मानना– गरीब परिवारों में, बच्चों को अक्सर आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है। वे खेतों में, घरों में और अन्य कार्यों में मदद करते हैं। इसलिए, कुछ परिवार अधिक बच्चे पैदा करते हैं ताकि अधिक लोग काम कर सकें और परिवार की आय में योगदान कर सकें।

B–सामाजिक सुरक्षा का अभाव– गरीबी के कारण, कई लोगों को वृद्धावस्था में सामाजिक सुरक्षा नहीं मिलती है। इसलिए, वे अधिक बच्चे पैदा करते हैं ताकि वे बड़े होकर उनकी देखभाल कर सकें।

5. सामाजिक और सांस्कृतिक कारक–

A–संयुक्त परिवार प्रणाली– भारत में, संयुक्त परिवार प्रणाली में, बड़े परिवारों को आमतौर पर अधिक महत्व दिया जाता है।

B–धार्मिक मान्यताएं– कुछ धार्मिक मान्यताएं और प्रथाएं परिवार नियोजन के उपायों का विरोध करती हैं।

6. अप्रभावी परिवार नियोजन कार्यक्रम–

A–पहुंच की कमी– ग्रामीण और दूरदराज के क्षेत्रों में, परिवार नियोजन सेवाओं और उत्पादों तक लोगों की पहुंच सीमित है।

B–गुणवत्ता की कमी– कुछ क्षेत्रों में, परिवार नियोजन सेवाओं की गुणवत्ता खराब है, जिसके कारण लोग उन पर भरोसा नहीं करते हैं।

भारत में जनसंख्या वृद्धि के आर्थिक प्रभाव–

जनसंख्या वृद्धि का भारत की अर्थव्यवस्था पर कई तरह से प्रभाव पड़ता है–

1– संसाधनों पर दबाव– बढ़ती जनसंख्या प्राकृतिक संसाधनों, जैसे पानी, भूमि और ऊर्जा, पर दबाव बढ़ाती है।

2– गरीबी और बेरोजगारी– जनसंख्या वृद्धि के कारण गरीबी और बेरोजगारी की समस्या और बढ़ सकती है, क्योंकि अर्थव्यवस्था सभी लोगों के लिए पर्याप्त रोजगार पैदा करने में सक्षम नहीं हो पाती है।

3–बुनियादी सुविधाओं पर दबाव– बढ़ती जनसंख्या शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा और आवास जैसी बुनियादी सुविधाओं पर दबाव डालती है।

4–प्रति व्यक्ति आय में कमी– यदि आर्थिक विकास जनसंख्या वृद्धि के साथ तालमेल नहीं बिठा पाता है, तो प्रति व्यक्ति आय में कमी हो सकती है, जिससे लोगों का जीवन स्तर प्रभावित होता है।

भारत में जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए सरकार और समाज दोनों को मिलकर काम करना होगा। इसके लिए शिक्षा को बढ़ावा देना, गरीबी कम करना, परिवार नियोजन कार्यक्रमों को प्रभावी बनाना और सामाजिक जागरूकता बढ़ाना महत्वपूर्ण है।

प्रश्न 7– स्वतन्त्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था कैसी थी?

उत्तर– स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्थारू एक विस्तृत विवरण

स्वतंत्रता के समय, 15 अगस्त 1947 को, भारतीय अर्थव्यवस्था एक जटिल और चुनौतीपूर्ण स्थिति में थी। दो शताब्दियों के ब्रिटिश शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना को गहराई से प्रभावित किया था, जिसके परिणामस्वरूप कई कमजोरियाँ और विषमताएँ थीं।

कृषि क्षेत्र–

1–पिछड़ा और स्थिर– स्वतंत्रता के समय, भारत की लगभग 85% जनसंख्या कृषि पर निर्भर थी, और यह राष्ट्रीय आय का लगभग 50% योगदान करती थी। हालांकि, कृषि क्षेत्र अत्यधिक पिछड़ा हुआ था और इसकी उत्पादकता बहुत कम थी। सिंचाई सुविधाओं की कमी, पुरानी तकनीकें, उर्वरकों का कम उपयोग और जमींदारी प्रथा जैसी शोषणकारी भूमि व्यवस्थाएँ कृषि विकास में बाधा डाल रही थीं।

2–व्यावसायिक फसलों पर जोर– ब्रिटिश शासन ने भारतीय किसानों को खाद्यान्न फसलों की बजाय व्यावसायिक फसलों (जैसे कपास, जूट, नील) उगाने के लिए प्रोत्साहित किया, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति करना था। इससे खाद्यान्न उत्पादन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा और भारत खाद्यान्न के लिए आयात पर निर्भर हो गया।

3–भूमि असमानता– भूमि का स्वामित्व कुछ जमींदारों के हाथों में केंद्रित था, जबकि अधिकांश किसान भूमिहीन या छोटे किसान थे। जमींदार किसानों से भारी लगान वसूल करते थे और कृषि सुधारों में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाते थे।

औद्योगिक क्षेत्र–

1–पिछड़ा और असंतुलित– ब्रिटिश नीतियों ने भारत के पारंपरिक हस्तशिल्प उद्योगों को नष्ट कर दिया था और आधुनिक उद्योगों का विकास बहुत सीमित था। कुछ आधुनिक उद्योग (जैसे कपड़ा, चीनी, सीमेंट) मुख्य रूप से उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन तक ही सीमित थे। भारी और बुनियादी उद्योगों का लगभग अभाव था।

2–विदेशी नियंत्रण– अधिकांश आधुनिक उद्योगों पर ब्रिटिश पूंजीपतियों का नियंत्रण था, जिनका मुख्य उद्देश्य भारत के संसाधनों का दोहन करना और अपने तैयार माल के लिए एक बाजार के रूप में उपयोग करना था।

3–आधारभूत संरचना की कमी– औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक आधारभूत संरचना, जैसे बिजली, परिवहन और संचार, बहुत ही अपर्याप्त थी।

आधारभूत संरचना–

1–अविकसित– स्वतंत्रता के समय, भारत में परिवहन (रेलवे और सड़कें), संचार (डाक और तार) और बिजली जैसी आधारभूत संरचनाएं बहुत ही अविकसित थीं। ब्रिटिश शासन ने कुछ विकास किया था, लेकिन यह मुख्य रूप से उनके प्रशासनिक और आर्थिक हितों को ध्यान में रखते हुए किया गया था, न कि भारतीय अर्थव्यवस्था की समग्र विकास आवश्यकताओं को।

सामाजिक–आर्थिक स्थितियाँ–

1—गरीबी और असमानता— स्वतंत्रता के समय, भारत में व्यापक गरीबी और आर्थिक असमानता मौजूद थी। अधिकांश जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन कर रही थी और उनके पास बुनियादी आवश्यकताओं तक भी पहुंच नहीं थी।

2—निरक्षरता— शिक्षा का स्तर बहुत नीचा था, और अधिकांश जनसंख्या निरक्षर थी। यह न केवल सामाजिक विकास में बाधा थी बल्कि आर्थिक विकास के लिए कुशल श्रम शक्ति की उपलब्धता को भी सीमित करती थी।

3—उच्च मृत्यु दर और निम्न जीवन प्रत्याशा— स्वास्थ्य सेवाओं की कमी और गरीबी के कारण मृत्यु दर बहुत अधिक थी, और जीवन प्रत्याशा बहुत कम थी।

विदेशी व्यापार—

ब्रिटेन पर निर्भरता— भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार ब्रिटेन के साथ होता था। भारत कच्चे माल का निर्यातक और ब्रिटेन से तैयार माल का आयातक बनकर रह गया था। इस व्यापारिक रिश्ते ने भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण किया।

सारांश में, स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था निम्नलिखित विशेषताओं वाली थी—

1—एक मुख्य रूप से कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था जो पिछड़ी और कम उत्पादक थी।

2—एक कमजोर और असंतुलित औद्योगिक क्षेत्र जिसमें आधुनिक उद्योगों का विकास सीमित था और विदेशी नियंत्रण अधिक था।

3—अविकसित और अपर्याप्त आधारभूत संरचना।

4—व्यापक गरीबी, आर्थिक असमानता और निरक्षरता।

5—विदेशी व्यापार में ब्रिटेन पर अत्यधिक निर्भरता और शोषणकारी व्यापारिक संबंध।3

6—एक स्थिर अर्थव्यवस्था जिसमें प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर बहुत कम थी।

स्वतंत्रता के बाद, भारत सरकार के सामने इन चुनौतियों से निपटने और एक मजबूत, आत्मनिर्भर और न्यायसंगत अर्थव्यवस्था का निर्माण करने का एक कठिन कार्य था। प्रारंभिक वर्षों में, भारत ने नियोजित विकास का मार्ग अपनाया और सार्वजनिक क्षेत्र को महत्वपूर्ण भूमिका दी ताकि इन समस्याओं का समाधान किया जा सके।

प्रश्न 8— बम्बई योजना एवं सर्वोदय योजना को संक्षेप में बताइए?

उत्तर— बॉम्बे प्लान (Bombay Plan)—बॉम्बे प्लान, जिसे ''भारत के आर्थिक विकास की एक संक्षिप्त रूपरेखा'' (A Brief Memorandum Outlining a Plan of Economic Development for India) के नाम से भी जाना जाता है, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान 1944—45 में भारत के आठ प्रमुख उद्योगपतियों के एक समूह द्वारा तैयार किया गया था। इस योजना का मुख्य उद्देश्य स्वतंत्रता के बाद भारत के आर्थिक विकास के लिए एक ढांचा प्रस्तुत करना था।

मुख्य बातें—

1—राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका— इस योजना में अर्थव्यवस्था के विकास में राज्य की सक्रिय और महत्वपूर्ण भूमिका की वकालत की गई थी। उद्योगपतियों का मानना था कि नवजात भारतीय उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है।

2—भारी उद्योगों पर जोर— योजना में भारी और बुनियादी उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान केंद्रित किया गया था।

3—नियोजित विकास— बॉम्बे प्लान ने एक नियोजित अर्थव्यवस्था की आवश्यकता पर जोर दिया, जिसमें सरकार विकास की दिशा और प्राथमिकताओं को निर्धारित करेगी।

4—पंद्रह वर्षीय योजना— इस योजना में 15 वर्षों की अवधि में कृषि उत्पादन को दोगुना और औद्योगिक उत्पादन को पांच गुना करने का लक्ष्य रखा गया था।

5—मिश्रित अर्थव्यवस्था— हालांकि यह योजना मुख्य रूप से निजी क्षेत्र द्वारा संचालित विकास की परिकल्पना करती थी, लेकिन इसमें कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका को भी स्वीकार किया गया था।

हालांकि बॉम्बे प्लान को आधिकारिक तौर पर सरकार द्वारा स्वीकार नहीं किया गया, लेकिन इसकी कई सिफारिशों ने बाद की भारतीय आर्थिक नीतियों को प्रभावित किया, खासकर शुरुआती पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका और नियोजित विकास के दृष्टिकोण में इसकी झलक मिलती है।

सर्वोदय योजना (Sarvodaya Scheme)—सर्वोदय योजना 1950 में जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रस्तुत की गई थी। यह योजना गांधीवादी दर्शन और विनोबा भावे के सर्वोदय विचार से प्रेरित थी। श्सर्वोदयश का अर्थ है 'सभी

का उत्थान'। इस योजना का उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना था जिसमें सभी व्यक्तियों का कल्याण सुनिश्चित हो।

मुख्य बातें–

1–गांधीवादी सिद्धांतों पर आधारित– यह योजना अहिंसा, आत्मनिर्भरता, और विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था जैसे गांधीवादी सिद्धांतों पर आधारित थी।

2–कृषि और कुटीर उद्योगों पर जोर– सर्वोदय योजना ने कृषि और छोटे पैमाने के कुटीर उद्योगों के विकास पर विशेष ध्यान दिया। इसका उद्देश्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था को मजबूत करना और स्थानीय स्तर पर रोजगार सृजित करना था।

3–आत्मनिर्भरता– इस योजना में विदेशी पूंजी और प्रौद्योगिकी पर कम निर्भरता और आत्मनिर्भरता पर जोर दिया गया था।

4–भूमि सुधार– भूमि सुधार और भूमि का समान वितरण इस योजना के महत्वपूर्ण पहलुओं में से एक था।

5–विकेंद्रीकृत नियोजन– सर्वोदय योजना ने ग्राम पंचायतों और स्थानीय स्तर पर लोगों की भागीदारी के साथ विकेंद्रीकृत नियोजन की वकालत की।

सर्वोदय योजना एक आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करती थी जिसका मुख्य उद्देश्य एक न्यायपूर्ण, समतावादी और आत्मनिर्भर समाज का निर्माण करना था। हालांकि इसे पूरी तरह से लागू नहीं किया जा सका, लेकिन इसके कई विचारों ने सामुदायिक विकास और ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को प्रभावित किया।

प्रश्न 9– भारत एक धनी देश है, परन्तु यहां के निवासी निर्धन है। व्याख्या कीजिए।

उत्तर– भारत एक अमीर देश है, लेकिन इसके अधिकांश निवासी गरीब हैं। यह एक विरोधाभासी स्थिति है जिसे कई आर्थिक कारकों के माध्यम से समझाया जा सकता है–

1. आय असमानता (Income Inequality)–

(a) भारत में आय का वितरण बहुत असमान है। देश के शीर्ष 1% अमीर लोगों के पास राष्ट्रीय संपत्ति का एक बड़ा हिस्सा है, जबकि अधिकांश आबादी अपेक्षाकृत कम आय पर जीवन यापन करती है।

(b) यह असमानता ऐतिहासिक कारणों, जैसे कि जमींदारी प्रथा, शिक्षा और कौशल तक असमान पहुंच, और वैश्वीकरण के लाभों के असमान वितरण के कारण है।

(c) शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच भी आय में एक महत्वपूर्ण अंतर है।

2. प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income)–

(a) हालांकि भारत की कुल राष्ट्रीय आय (GDP) दुनिया में सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में से एक है, लेकिन इसकी प्रति व्यक्ति आय अपेक्षाकृत कम है।

(b) प्रति व्यक्ति आय देश की कुल आय को उसकी कुल जनसंख्या से विभाजित करके निकाली जाती है। भारत की विशाल जनसंख्या के कारण, प्रति व्यक्ति आय कम रहती है, भले ही कुल अर्थव्यवस्था का आकार बड़ा हो।

(c) यह इंगित करता है कि देश में उत्पादित धन समान रूप से वितरित नहीं होता है।

3. बेरोजगारी और अल्प–रोजगार (Unemployment and Underemployment)–

(a) भारत में बेरोजगारी की दर एक महत्वपूर्ण मुद्दा है, खासकर युवाओं के बीच।

(b) इसके अलावा, बड़ी संख्या में लोग अल्प–रोजगार में हैं, जिसका अर्थ है कि वे अपनी क्षमता से कम काम कर रहे हैं या अनियमित और कम वेतन वाली नौकरियों में लगे हुए हैं।

(c) यह लोगों की आय और जीवन स्तर को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

4. शिक्षा और कौशल का अभाव (Lack of Education and Skills)–

(a) भारत में एक बड़ी आबादी के पास गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और आवश्यक कौशल की कमी है।

(b) यह उन्हें अच्छी नौकरियों और उच्च आय अर्जित करने से रोकता है, जिससे गरीबी बनी रहती है।

(c) शिक्षा और कौशल विकास में निवेश की कमी दीर्घकालिक गरीबी का एक प्रमुख कारण है।

5. सामाजिक अवसंरचना की कमी (Lack of Social Infrastructure)–

(a) ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष रूप से स्वास्थ्य सेवा, स्वच्छता, बिजली और परिवहन जैसी बुनियादी सामाजिक अवसंरचना की कमी है।

(b)यह लोगों के जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करता है और उन्हें आर्थिक गतिविधियों में पूरी तरह से भाग लेने से रोकता है।

6. भ्रष्टाचार (Corruption)–

(a) भ्रष्टाचार विकास के लाभों को आम लोगों तक पहुंचने से रोकता है।

(b) सरकारी योजनाओं और संसाधनों का दुरुपयोग होता है, जिससे गरीबों को उनका हक नहीं मिल पाता है।

7. जनसंख्या का दबाव (Population Pressure)–

(a) भारत की विशाल जनसंख्या प्राकृतिक संसाधनों और बुनियादी ढांचे पर भारी दबाव डालती है।

(b) तेजी से बढ़ती जनसंख्या के कारण प्रति व्यक्ति संसाधन कम होते जाते हैं, जिससे गरीबी कम करने के प्रयास बाधित होते हैं।

8. कृषि पर अत्यधिक निर्भरता (Over & dependence on Agriculture)–

(a) भारत की एक बड़ी आबादी अभी भी कृषि पर निर्भर है, जो अक्सर कम उत्पादकता और आय प्रदान करता है।

(b) मौसम की अनिश्चितता और आधुनिक तकनीकों की कमी कृषि आय को और भी अस्थिर बना देती है।

निष्कर्ष–संक्षेप में, भारत एक बड़ी अर्थव्यवस्था होने के बावजूद अपने अधिकांश नागरिकों की गरीबी का सामना इसलिए कर रहा है क्योंकि देश में धन का वितरण अत्यधिक असमान है, प्रति व्यक्ति आय कम है, बेरोजगारी और अल्प–रोजगार व्याप्त है, शिक्षा और कौशल का अभाव है, सामाजिक अवसंरचना कमजोर है, भ्रष्टाचार मौजूद है, जनसंख्या का दबाव अधिक है, और एक बड़ी आबादी कृषि पर निर्भर है। इन जटिल आर्थिक और सामाजिक कारकों को संबोधित करके ही भारत अपने सभी नागरिकों के लिए समृद्धि सुनिश्चित कर सकता है।

प्रश्न 10– परम्परागत ऊर्जा से आप क्या समझते है?

उत्तर– अर्थशास्त्र में, पारंपरिक ऊर्जा उन ऊर्जा स्रोतों को संदर्भित करती है जिनका उपयोग मानव सभ्यता लंबे समय से करता आ रहा है और जो प्रकृति में सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं। इन्हें गैर–नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत (Non & Renewable Energy Sources) भी कहा जाता है क्योंकि एक बार इनका उपयोग हो जाने के बाद इन्हें आसानी से या मानवीय समय–सीमा में पुनरू प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों के मुख्य उदाहरण–

1–कोयला (Coal)– यह एक जीवाश्म ईंधन है जो लाखों वर्षों तक पौधों के अवशेषों के दबने और उच्च दबाव तथा तापमान के कारण बनता है। इसका उपयोग बिजली उत्पादन (तापीय ऊर्जा संयंत्रों में), औद्योगिक प्रक्रियाओं और घरेलू ईंधन के रूप में किया जाता रहा है।

2–पेट्रोलियम (Petroleum)– यह भी एक जीवाश्म ईंधन है जो प्राचीन समुद्री जीवों के अवशेषों से बनता है। इसे कच्चा तेल भी कहा जाता है और यह गैसोलीन, डीजल, केरोसिन और प्लास्टिक जैसे कई उत्पादों का आधार है। यह परिवहन, बिजली उत्पादन और विभिन्न औद्योगिक उपयोगों के लिए महत्वपूर्ण है।

3–प्राकृतिक गैस (Natural Gas)– यह मुख्य रूप से मीथेन (methane) से बनी होती है और पेट्रोलियम के साथ या स्वतंत्र रूप से भूमिगत भंडारों में पाई जाती है। इसका उपयोग घरेलू ईंधन, बिजली उत्पादन और औद्योगिक प्रक्रियाओं में किया जाता है। यह कोयला और पेट्रोलियम की तुलना में अपेक्षाकृत कम प्रदूषणकारी माना जाता है।

4–नाभिकीय ऊर्जा (Nuclear Energy)– यह परमाणु विखंडन (nuclear fission) की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होती है, जिसमें यूरेनियम जैसे भारी तत्वों के परमाणुओं को तोड़कर ऊर्जा निकाली जाती है। इसका उपयोग मुख्य रूप से बिजली उत्पादन के लिए किया जाता है। हालांकि यह ग्रीनहाउस गैसें उत्सर्जित नहीं करती, लेकिन इसके अपशिष्ट रेडियोधर्मी होते हैं और इनकी सुरक्षा एक महत्वपूर्ण चिंता है।

5–जलविद्युत (Hydroelectric Power)– यह बहते पानी की गतिज ऊर्जा का उपयोग करके बिजली उत्पन्न करती है। इसके लिए नदियों पर बांध बनाए जाते हैं और पानी को टरबाइन पर गिराया जाता है, जिससे बिजली पैदा होती है। हालांकि यह एक नवीकरणीय स्रोत है, लेकिन इसे अक्सर पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों के साथ वर्गीकृत किया जाता है क्योंकि बड़े जलविद्युत परियोजनाओं के लिए बड़े पैमाने पर बुनियादी ढांचे और प्राकृतिक संसाधनों की आवश्यकता होती है और इनके पर्यावरणीय प्रभाव भी हो सकते हैं।

पारंपरिक ऊर्जा का महत्व–लंबे समय तक, पारंपरिक ऊर्जा स्रोत वैश्विक अर्थव्यवस्था और मानव विकास के लिए आधारशिला रहे हैं। उन्होंने औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा दिया और आधुनिक समाजों की ऊर्जा जरूरतों को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन स्रोतों की उच्च ऊर्जा घनत्व और स्थापित तकनीकें उन्हें बिजली उत्पादन, परिवहन और औद्योगिक प्रक्रियाओं के लिए विश्वसनीय विकल्प बनाती हैं।

पारंपरिक ऊर्जा से जुड़ी आर्थिक अवधारणाएँ–

1–दुर्लभता (Scarcity)– पारंपरिक ऊर्जा स्रोत गैर–नवीकरणीय हैं और इनकी मात्रा सीमित है। जैसे–जैसे इनका उपयोग बढ़ता जाता है, ये दुर्लभ होते जाते हैं, जिससे इनकी कीमतें बढ़ सकती हैं और ऊर्जा सुरक्षा को खतरा हो सकता है।

2–मांग और आपूर्ति (Demand and Supply)– पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों की मांग वैश्विक आर्थिक विकास, जनसंख्या वृद्धि और जीवन स्तर में सुधार के साथ बढ़ती रहती है। इनकी सीमित आपूर्ति के कारण बाजार में उतार–चढ़ाव और मूल्य अस्थिरता देखी जा सकती है।

3–बाह्यताएँ (Externalities)–पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों के उत्पादन और उपयोग से नकारात्मक बाह्यताएँ उत्पन्न होती हैं, जैसे कि वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण और ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन, जो जलवायु परिवर्तन का कारण बनते हैं। इन बाह्यताओं की सामाजिक और आर्थिक लागतें महत्वपूर्ण हो सकती हैं।

4–आधारभूत संरचना (Infrastructure)– पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों के दोहन, प्रसंस्करण और वितरण के लिए विशाल और जटिल आधारभूत संरचना की आवश्यकता होती है, जिसमें खदानें, तेल कुएँ, पाइपलाइन, रिफाइनरी, बिजली संयंत्र और ट्रांसमिशन नेटवर्क शामिल हैं। इन बुनियादी ढाँचों में भारी निवेश की आवश्यकता होती है।

5–तकनीकी विकास (Technological Development)– पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों की दक्षता में सुधार, प्रदूषण को कम करने और नए भंडारों की खोज के लिए लगातार तकनीकी विकास होता रहता है। हालांकि, इन तकनीकों की लागत और व्यापकता एक महत्वपूर्ण कारक है।

निष्कर्ष–पारंपरिक ऊर्जा स्रोत लंबे समय से हमारी ऊर्जा जरूरतों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रहे हैं और आज भी कई क्षेत्रों में इनका प्रभुत्व है। हालांकि, इनकी सीमित उपलब्धता, पर्यावरणीय प्रभाव और बढ़ती मांग के कारण, दुनिया अब नवीकरणीय और अधिक टिकाऊ ऊर्जा स्रोतों की ओर तेजी से बढ़ रही है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से, पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों की दुर्लभता, मांग–आपूर्ति की गतिशीलता, नकारात्मक बाह्यताएँ और आवश्यक आधारभूत संरचना ऊर्जा नीति और भविष्य के ऊर्जा मिश्रण के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

प्रश्न 11– व्यापार सन्तुलन और भुगतान सन्तुलन में अन्तर बताइए?

उत्तर– अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में, किसी देश की बाहरी आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करने के लिए दो महत्वपूर्ण अवधारणाएँ हैं– व्यापार संतुलन (Balance of Trade & BOT) और भुगतान संतुलन (Balance of Payments & BOP)। हालाँकि ये दोनों अवधारणाएँ आपस में जुड़ी हुई हैं, लेकिन इनके दायरे और शामिल लेन–देन के प्रकार में महत्वपूर्ण अंतर है।

व्यापार संतुलन (Balance of Trade)–व्यापार संतुलन एक निश्चित अवधि (आमतौर पर एक वर्ष) के दौरान किसी देश द्वारा किए गए वस्तुओं (goods) के निर्यात और आयात के मूल्य के बीच का अंतर है। इसे व्यापार शेष (Trade Balance) या अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संतुलन (International Trade Balance) भी कहा जाता है।

1–निर्यात (Exports)– देश द्वारा दूसरे देशों को बेची गई भौतिक वस्तुएँ (जैसे मशीनरी, वस्त्र, अनाज)।

2–आयात (Imports)– देश द्वारा दूसरे देशों से खरीदी गई भौतिक वस्तुएँ (जैसे पेट्रोलियम, इलेक्ट्रॉनिक उपकरण)।

व्यापार संतुलन की गणना–व्यापार संतुलन (BOT)=वस्तुओं का निर्यात मूल्य–वस्तुओं का आयात मूल्य व्यापार संतुलन तीन प्रकार का हो सकता है–

1– व्यापार अधिशेष (Trade Surplus)– जब निर्यात का मूल्य आयात के मूल्य से अधिक होता है (BOT > 0)। यह इंगित करता है कि देश वस्तुओं का शुद्ध निर्यातक है।

2–व्यापार घाटा (Trade Deficit)– जब आयात का मूल्य निर्यात के मूल्य से अधिक होता है (BOT < 0)। यह इंगित करता है कि देश वस्तुओं का शुद्ध आयातक है।

3–संतुलित व्यापार (Balanced Trade)– जब निर्यात और आयात का मूल्य लगभग बराबर होता है (BOT ≈ 0)।

भुगतान संतुलन (Balance of Payments)–भुगतान संतुलन एक व्यापक विवरण है जो एक निश्चित अवधि (आमतौर पर एक वर्ष) के दौरान किसी देश के निवासियों और शेष विश्व के बीच किए गए सभी आर्थिक लेन–देन का व्यवस्थित रिकॉर्ड रखता है। इसमें न केवल वस्तुओं का व्यापार शामिल है, बल्कि सेवाओं का व्यापार, आय का प्रवाह, एकतरफा हस्तांतरण और पूंजीगत तथा वित्तीय खाते के लेन–देन भी शामिल हैं।

भुगतान संतुलन के मुख्य घटक–

(1) चालू खाता (Current Account)– यह वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार, निवेश आय (जैसे लाभांश और ब्याज), और एकतरफा हस्तांतरण (जैसे विदेशी सहायता और प्रेषण) से संबंधित लेन–देन को रिकॉर्ड करता है। व्यापार संतुलन चालू खाते का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जो वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात और आयात के शुद्ध मूल्य को दर्शाता है।

a–वस्तुओं का व्यापार (Trade in Goods)– जैसा कि व्यापार संतुलन में शामिल है (निर्यात – आयात)।

b–सेवाओं का व्यापार (Trade in Services)– देश द्वारा दूसरे देशों को प्रदान की गई और उनसे प्राप्त सेवाओं का मूल्य (जैसे पर्यटन, बैंकिंग, सॉफ्टवेयर)।

c–आय (Income)– विदेशों में निवेश से प्राप्त आय (जैसे लाभ, ब्याज, लाभांश) और विदेशों में काम करने वाले निवासियों द्वारा अर्जित आय।

d–एकतरफा हस्तांतरण (Unilateral Transfers)– बिना किसी प्रतिफल के किए गए हस्तांतरण (जैसे विदेशी सहायता, दान, प्रेषण)।

2–पूंजी खाता (Capital Account)– यह पूंजीगत हस्तांतरण और गैर–उत्पादित, गैर–वित्तीय संपत्तियों (जैसे पेटेंट, कॉपीराइट) के अधिग्रहण और निपटान से संबंधित लेन–देन को रिकॉर्ड करता है। यह अपेक्षाकृत छोटा खाता है।

3–वित्तीय खाता (Financial Account)– यह अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संपत्तियों और देनदारियों में परिवर्तन से संबंधित लेन–देन को रिकॉर्ड करता है। इसमें प्रत्यक्ष निवेश, पोर्टफोलियो निवेश और आरक्षित संपत्ति में परिवर्तन शामिल हैं।

1–प्रत्यक्ष निवेश (Direct Investment)– एक देश का निवासी दूसरे देश में स्थायी हित प्राप्त करने के उद्देश्य से निवेश करता है (जैसे विदेशी कंपनी में शेयर खरीदना)।

2–पोर्टफोलियो निवेश (Portfolio Investment)– वित्तीय संपत्तियों (जैसे शेयर, बॉन्ड) में निवेश जिसका उद्देश्य नियंत्रण हासिल करना नहीं होता है।

3–आरक्षित संपत्ति (Reserve Assets)– केंद्रीय बैंक द्वारा धारित विदेशी मुद्रा भंडार, सोना और विशेष आहरण अधिकार (SDR)।

4–त्रुटियाँ और चूक (Errors and Omissions)– यह खाता भुगतान संतुलन के आंकड़ों में किसी भी सांख्यिकीय विसंगति या अपूर्ण रिकॉर्डिंग को समायोजित करने के लिए शामिल किया जाता है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि कुल योग शून्य हो।

भुगतान संतुलन की गणना–सैद्धांतिक रूप से, भुगतान संतुलन हमेशा संतुलित होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय लेन–देन में दोहरी प्रविष्टि प्रणाली का उपयोग होता है – एक क्रेडिट और एक डेबिट। इसलिए–

चालू खाता शेषपूंजी खाता शेषवित्तीय खाता शेषत्रुटियाँ और चूक=0

हालांकि, व्यवहार में, व्यक्तिगत खाते (जैसे चालू खाता, वित्तीय खाता) अधिशेष या घाटे में हो सकते हैं।

व्यापार संतुलन और भुगतान संतुलन के बीच मुख्य अंतर–

विशेषता	**व्यापार संतुलन (Balance of Trade)**	**भुगतान संतुलन (Balance of Payments)**
दायरा (Scope)	केवल वस्तुओं के निर्यात और आयात को शामिल करता है।	वस्तुओं और सेवाओं का व्यापार, आय का प्रवाह, एकतरफा हस्तांतरण, पूंजीगत और वित्तीय लेन-देन सभी शामिल हैं।
घटक (Components)	केवल एक घटक - वस्तुओं का व्यापार।	कई घटक - चालू खाता (जिसमें वस्तुओं और सेवाओं का व्यापार शामिल है), पूंजी खाता, वित्तीय खाता, त्रुटियाँ और चूक।
प्रकृति (Nature)	वस्तुओं के भौतिक प्रवाह पर केंद्रित है।	सभी प्रकार के आर्थिक लेन-देन (भौतिक और वित्तीय दोनों) पर केंद्रित है।
संतुलन (Balance)	अधिशेष, घाटा या संतुलित हो सकता है।	सैद्धांतिक रूप से हमेशा संतुलित होना चाहिए (शून्य)। व्यक्तिगत खाते अधिशेष या घाटे में हो सकते हैं।
उपयोगिता (Utility)	किसी देश के वस्तुओं के व्यापार प्रदर्शन का एक आंशिक दृश्य प्रदान करता है।	देश के सभी अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक लेन-देन का एक व्यापक और पूर्ण चित्र प्रदान करता है।

निष्कर्ष–संक्षेप में, व्यापार संतुलन भुगतान संतुलन का एक हिस्सा है और यह केवल वस्तुओं के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर ध्यान केंद्रित करता है। दूसरी ओर, भुगतान संतुलन एक व्यापक अवधारणा है जो देश के निवासियों और शेष विश्व के बीच सभी आर्थिक लेन–देन को शामिल करती है। भुगतान संतुलन किसी देश की समग्र अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति का अधिक संपूर्ण और सटीक मूल्यांकन प्रदान करता है, जबकि व्यापार संतुलन विशेष रूप से वस्तुओं के व्यापार के प्रदर्शन का विश्लेषण करने के लिए उपयोगी है। नीति निर्माताओं और अर्थशास्त्रियों के लिए किसी देश की बाहरी स्थिरता और आर्थिक स्वास्थ्य का आकलन करने के लिए दोनों अवधारणाओं को समझना महत्वपूर्ण है।

प्रश्न 12– प्रत्यक्ष विदेशी निवेश क्या है?

उत्तर– अर्थशास्त्र में, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Foreign Direct Investment & FDI) का तात्पर्य एक देश के निवासी (व्यक्ति या कंपनी) द्वारा दूसरे देश में स्थित व्यावसायिक हितों या परिसंपत्तियों में किए गए निवेश से है, जिसका उद्देश्य दीर्घकालिक हित स्थापित करना और विदेशी उद्यम पर महत्वपूर्ण प्रभाव या नियंत्रण रखना होता है। यह निवेश इक्विटी पूंजी, पुनर्निवेशित आय, अंतर–कंपनी ऋण और अन्य प्रकार के पूंजी हस्तांतरण के माध्यम से किया जा सकता है।

संक्षेप में, FDI केवल पूंजी का हस्तांतरण नहीं है, बल्कि इसमें विदेशी निवेशक द्वारा मेजबान देश में स्थित उद्यम के प्रबंधन, प्रौद्योगिकी और विशेषज्ञता में प्रत्यक्ष भागीदारी शामिल होती है। यह विदेशी पोर्टफोलियो निवेश (Foreign Portfolio Investment & FPI) से अलग है, जिसमें विदेशी निवेशक का उद्देश्य केवल वित्तीय लाभ प्राप्त करना होता है और कंपनी के प्रबंधन में उसका कोई सीधा नियंत्रण नहीं होता है। आमतौर पर, किसी निवेश को FDI मानने के लिए, विदेशी निवेशक को मेजबान देश की कंपनी में कम से कम 10% हिस्सेदारी हासिल करनी होती है।

FDI की मुख्य विशेषताएं–

1–दीर्घकालिक प्रतिबद्धता– FDI एक दीर्घकालिक निवेश है जिसमें विदेशी निवेशक का उद्देश्य मेजबान देश में स्थायी उपस्थिति बनाना और संचालन करना होता है।

2–प्रबंधन में नियंत्रण या प्रभाव– FDI में निवेशक का मेजबान देश की कंपनी के प्रबंधन और निर्णय लेने की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण नियंत्रण या प्रभाव होता है। यह स्वामित्व हिस्सेदारी, मताधिकार अधिकार या अन्य समझौतों के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

3–प्रौद्योगिकी और विशेषज्ञता का हस्तांतरण– FDI अक्सर मेजबान देश में नई प्रौद्योगिकियों, प्रबंधन कौशल और व्यावसायिक प्रथाओं को लाता है, जिससे स्थानीय उद्योगों की उत्पादकता और प्रतिस्पर्धात्मकता में सुधार हो सकता है।

4–पूंजी का प्रवाह– FDI मेजबान देश में अतिरिक्त पूंजी का प्रवाह करता है, जिसका उपयोग नए व्यवसायों की स्थापना, मौजूदा व्यवसायों के विस्तार और बुनियादी ढांचे के विकास के लिए किया जा सकता है।

5–गैर–ऋण वित्त का स्रोत– FDI मेजबान देश के लिए गैर–ऋण वित्त का एक महत्वपूर्ण स्रोत है, जिसका अर्थ है कि इसके लिए भविष्य में भुगतान की आवश्यकता नहीं होती है, जैसा कि ऋण के मामले में होता है।

FDI के प्रकार–

FDI को विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है, जिनमें से कुछ प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं–

1–क्षैतिज FDI (Horizontal FDI)– यह तब होता है जब एक कंपनी विदेश में उसी प्रकार का व्यवसाय स्थापित करती है जैसा वह अपने गृह देश में करती है। उदाहरण के लिए, एक भारतीय ऑटोमोबाइल कंपनी का संयुक्त राज्य अमेरिका में एक विनिर्माण संयंत्र स्थापित करना।

2–ऊर्ध्वाधर FDI (Vertical FDI)– यह तब होता है जब एक कंपनी अपनी आपूर्ति श्रृंखला के भीतर किसी विशिष्ट गतिविधि में निवेश करती है जो उसके गृह देश में किए जाने वाले व्यवसाय से भिन्न होती है। इसे आगे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1–पिछड़ा ऊर्ध्वाधर एकीकरण (Backward Vertical Integration)– कंपनी विदेश में उन आपूर्तिकर्ताओं में निवेश करती है जो उसे कच्चे माल या अन्य इनपुट प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, एक कपड़ा कंपनी का विदेश में कपास के खेत खरीदना।

2–अग्रणी ऊर्ध्वाधर एकीकरण (Forward Vertical Integration)– कंपनी विदेश में उन वितरकों या खुदरा विक्रेताओं में निवेश करती है जो उसके उत्पादों को बेचते हैं। उदाहरण के लिए, एक खाद्य प्रसंस्करण कंपनी का विदेश में एक सुपरमार्केट श्रृंखला खरीदना।

3–समूह FDI (Conglomerate FDI)– यह तब होता है जब एक कंपनी विदेश में एक ऐसे व्यवसाय में निवेश करती है जो उसके गृह देश में किए जाने वाले व्यवसाय से असंबंधित होता है। यह अक्सर विविधीकरण की रणनीति के तहत किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक भारतीय सॉफ्टवेयर कंपनी का ब्राजील में एक रसायन निर्माण कंपनी में निवेश करना।

4–प्लेटफॉर्म FDI (Platform FDI)– यह तब होता है जब एक कंपनी किसी तीसरे देश में निर्यात के उद्देश्य से किसी विदेशी देश में निवेश करती है। इस मामले में, मेजबान देश केवल एक उत्पादन या असेंबली हब के रूप में कार्य करता है।

मेजबान देश के लिए थ्क्प् का महत्व–FDI मेजबान देश की अर्थव्यवस्था के लिए कई महत्वपूर्ण लाभ प्रदान कर सकता है–

1–आर्थिक विकास को बढ़ावा– FDI पूंजी, प्रौद्योगिकी और विशेषज्ञता लाकर आर्थिक विकास को गति प्रदान करता है।

2–रोजगार सृजन–विदेशी कंपनियों की स्थापना से मेजबान देश में नए रोजगार के अवसर पैदा होते हैं, जिससे बेरोजगारी कम होती है और लोगों की आय बढ़ती है।

3–प्रौद्योगिकी हस्तांतरण– FDI के माध्यम से मेजबान देश को उन्नत प्रौद्योगिकियों और नवाचारों तक पहुंच मिलती है, जिससे स्थानीय उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मकता बढ़ती है।

4–कौशल विकास– विदेशी कंपनियां अक्सर अपने कर्मचारियों को प्रशिक्षण प्रदान करती हैं, जिससे मेजबान देश के मानव पूंजी का विकास होता है।

5–बुनियादी ढांचे का विकास– कुछ FDI परियोजनाएं परिवहन, ऊर्जा और संचार जैसे बुनियादी ढांचे के विकास में योगदान करती हैं।

6–निर्यात प्रोत्साहन– FDI से मेजबान देश के निर्यात में वृद्धि हो सकती है, खासकर यदि विदेशी कंपनियां स्थानीय उत्पादन को वैश्विक बाजारों में ले जाती हैं।

7–प्रतिस्पर्धा में वृद्धि– विदेशी कंपनियों के प्रवेश से घरेलू बाजार में प्रतिस्पर्धा बढ़ती है, जिससे उपभोक्ताओं को बेहतर गुणवत्ता वाले उत्पाद और सेवाएं मिलती हैं।

8–सरकारी राजस्व में वृद्धि– FDI से कर राजस्व में वृद्धि होती है, जिसका उपयोग सरकार विकास कार्यक्रमों के वित्तपोषण के लिए कर सकती है।

9–भुगतान संतुलन में सुधार– FDI पूंजी के अंतर्वाह के माध्यम से मेजबान देश के भुगतान संतुलन को बेहतर बनाने में मदद कर सकता है।

निष्कर्ष–प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI) वैश्विक अर्थव्यवस्था में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह न केवल पूंजी का सीमा पार प्रवाह है, बल्कि यह प्रौद्योगिकी, ज्ञान और सर्वोत्तम प्रथाओं के हस्तांतरण का भी माध्यम है। मेजबान देशों के लिए, FDI आर्थिक विकास, रोजगार सृजन और प्रतिस्पर्धात्मकता में सुधार के लिए एक शक्तिशाली उपकरण हो सकता है। इसलिए, कई देश सक्रिय रूप से FDI आकर्षित करने के लिए नीतियां और प्रोत्साहन प्रदान करते हैं। हालांकि, FDI से जुड़े कुछ संभावित जोखिम भी हैं, जैसे कि स्थानीय उद्योगों पर नकारात्मक प्रभाव और लाभ का प्रत्यावर्तन, जिन्हें मेजबान देशों द्वारा सावधानीपूर्वक प्रबंधित करने की आवश्यकता होती है।

B.A.LL.B.-2nd Sem. Paper-V Human Rights and International Law-II

प्रश्न न0 1– मानवाधिकार को पारिभाषित कीजिए। मानवाधिकर की अवधारण की उत्पत्ति एवं विकास का व्याख्या कीजिए।

उत्तर– मानवीय अधिकार अथवा मानवधिकार वास्तव में वे अधिकार है, जो प्रत्येक व्यक्ति को केवल अस आधार पर मिल जाते है कि उसे मनुष्य के रूप में जीवित रहने के लिए उन अधिकारों की आवश्यकता होगी। मानवधिकार व्यक्ति की गरिमा, उसकी स्वतंत्रता तथा शारीरिक, नैतिक सामाजिक तथा भौतिक विकास के लिए अपरिहार्य एवं अति–आवश्यकत होती है।

मानव–अधिकार की परिभाषा (Defination of Human Rights)–

मैरी रोबिन्सन के अनुसार– ''प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मौलिक स्वतंत्रताओं की सुरक्षा एवं उसे प्राप्त करने के व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप में राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त अधिकार मानवाधिकार कहलाते है।''
मानव अधिकारों को प्राकृतिक अधिकारों, मूल अधिकारों आधारभूत अधिकार अथवा अन्तर्निहित या जन्मजात भी कहा जाता है।

लाटरपैट ने अपनी पुस्तक इन्टरनेशल लॉ एण्ड हूमन राईट्स में पारिभाषित किया ''मानवाधिकारों के अन्तर्गत विधिक कर्त्तव्यों का सम्मान करने का भी कर्त्तव्य सम्मिलित है तथा प्रत्येक राष्ट्र मानव अधिकारों तथा मौलिक अधिकारों का सम्मान करने तथा अनुपालन करने के लिए वचनबद्ध है।''

मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 में धारा 2 (घ) के अन्तर्गत मानव अधिकार को पारिभाषित किया गया है। इसके अनुसार 'मानव अधिकार' से अभिप्राय संविधान द्वारा गारण्टीकृत तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में सम्मिलित एवं भारत में न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय व्यक्तियों के जीवन, समानता एवं गरिमा से है। इन अधिकारों के अभाव में व्यक्तियों के जीवन , स्वतन्त्रता, समानता एवं गरिमा से है। इन अधिकारों के अभाव में व्यक्ति की स्थिति पशु की भाँति हो जायेगी। मानव होने की धारणा के साथ ही कुछ अधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ जुड़ी हुई है, जिनसे वंचित होने पर मानव अपनी मानवता से वंचित हो जाता है। इसीलिये मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को मानव जाति का मैग्नाकार्टा की ठीक ही कहा गया है।

वियना में 1993 मे मानव अधिकारों पर द्वितीय विश्व सम्मेलन, जिसे सामान्यतया वियना सम्मेलन कहा जाता है, 14 जून 1993 से 25 जून 1993 तक वियना में आयोजित हुआ। इस विश्व मानव अधिकार सम्मेलन की घोषणा में यह कहा गया था कि सभी मानव अधिकार में व्यक्ति में गरिमा तथा अन्तर्निहित योग्यता से प्रोद्भूत होते है और व्यक्ति होते है और व्यक्ति मानव अधिकार तथा मूल स्वतन्त्रताओं को केन्द्रीय विषय है।'' डी.डी. बसु ने अपनी पुस्तक ह्यूमन राईट्स इन कान्स्टीट्यूशन में लिखा मानव अधिकार को उन न्यूनतम अधिकारों के रूप में परिभाषित करते है, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति को, बिना किसी अन्य विचरण के, मानव परिवार का सदस्य होने के फलस्वरूप राज्य या अन्य लोक प्राधिकारी के विरूद्ध धारणा।'' अतः मानव अधिकार आवश्यक रूप में प्रारम्भिक मानवीय आवश्यकताओं पर निर्भर है, इनमें से कुछ शारीरिक जीवन में एवं स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण है तथा कुछ अन्य मानसिक जीवन और स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण है तथा कुछ अन्य मानसिक जीवन और स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

मानव अधिकारों की उत्पति तथा विकास– मानवाधिकार सिद्धांतों की जड़ें विविध संस्कृतियों और सभ्यताओं में गहरी हैं। प्राचीन कानूनी कोड, जैसे बेबीलोन के राजा हम्मुराबी द्वारा घोषित हम्मुराबी की संहिता (1792 से 1750 ईसा पूर्व) और मैग्ना कार्टा (1215) ने कुछ मौलिक अधिकारों की स्थापना की। मानव अधिकारों की उत्पत्ति आदर्श रूप से वर्ष 539 ईसा पूर्व में बताई गई है। जब साइरस महान की सेना ने बेबीलोन पर विजय प्राप्त की। साइरस ने दासों को मुक्त कर दिया, घोषणा की कि सभी लोगों को अपना धर्म चुनने का अधिकार है, और नस्लीय समानता स्थापित की। इन और अन्य सिद्धांतों को साइरस सिलेंडर के नाम से जाने जाने वाले पके हुए मिट्टी के सिलेंडर पर दर्ज किया गया था, जिसके प्रावधान मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के पहले चार लेखों के लिए प्रेरणा के रूप में कार्य करते थे। मानव अधिकार इतिहास में एक और आधारशिला 1215 में मैग्ना चार्टा के प्रख्यापन द्वारा दर्शाई गई है, जिसने ''कानून के शासन'' की एक कच्ची अवधारणा और सभी व्यक्तियों के लिए परिभाषित अधिकारों और स्वतंत्रता के मूल विचार को पेश किया, जो मनमाने ढंग से अभियोजन और कैद से सुरक्षा प्रदान करता है। मैग्ना चार्टा से पहले, कानून का शासन, जिसे अब किसी भी आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में सुशासन के लिए एक प्रमुख सिद्धांत माना जाता है, को एक दैवीय न्याय के रूप में माना जाता था, जो पूरी तरह से राजा या राजा या, इस मामले में, इंग्लैंड के राजा जॉन द्वारा वितरित किया जाता था। .

मैग्ना कार्टा द्वारा व्यक्त अवधारणाओं का विकास अंग्रेजी बिल ऑफ राइट्स द्वारा दर्शाया गया है। यह 1689 में विलियम तृतीय और मैरी द्वितीय द्वारा हस्ताक्षरित एक अधिनियम था, जो राजा जेम्स द्वितीय को उखाड़ फेंकने के बाद इंग्लैंड में सह–शासक बन गए। विधेयक ने विशिष्ट संवैधानिक और नागरिक अधिकारों की रूपरेखा तैयार की और अंततः संसद को राजशाही पर शक्ति प्रदान की। कई विशेषज्ञ अंग्रेजी अधिकार विधेयक को प्राथमिक कानून मानते हैं जिसने इंग्लैंड में संवैधानिक राजतंत्र के लिए मंच तैयार किया। इसे यू.एस. बिल ऑफ राइट्स (1791) के लिए एक प्रेरणा के रूप में भी श्रेय दिया जाता है। फ्रांस की नेशनल असेंबली द्वारा 1789 में अपनाई गई मनुष्य और नागरिक के अधिकारों की घोषणा, मानव स्वतंत्रता के बुनियादी चार्टरों में से एक का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें वे सिद्धांत शामिल हैं जिन्होंने फ्रांसीसी क्रांति को प्रेरित किया। घोषणा द्वारा पेश किया गया मूल मूल्य यह था कि सभी ''मनुष्य पैदा होते हैं और स्वतंत्र रहते हैं और अधिकारों में समान होते हैं'', जिन्हें स्वतंत्रता, निजी संपत्ति, व्यक्ति की हिंसा और उत्पीड़न के प्रतिरोध के अधिकारों के रूप में निर्दिष्ट किया गया था। कानून के समक्ष सभी नागरिक समान थे और उन्हें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कानून में भाग लेने का अधिकार थाय न्यायिक आदेश के बिना किसी को गिरफ्तार नहीं किया जाना था। सार्वजनिक 'आदेश' और 'कानून' की सीमा के भीतर धर्म की स्वतंत्रता और बोलने की स्वतंत्रता की रक्षा की गई। निजी संपत्ति को एक अनुल्लंघनीय अधिकार का दर्जा दिया गया था, जिसे राज्य द्वारा तभी लिया जा सकता था जब क्षतिपूर्ति दी गई हो और कार्यालय और पद सभी नागरिकों के लिए खोले गए हों। इसी ऐतिहासिक काल में नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की अवधारणा को परिभाषित किया गया था, जो मुख्यतः राजनीतिक चिंताओं पर आधारित थी। ये अधिकार, जिन्हें पहली पीढ़ी के अधिकारों के रूप में भी जाना जाता है, कुछ ऐसी चीजों के अस्तित्व को मान्यता देते हैं जो सर्वशक्तिमान शासकों को करने में सक्षम नहीं होना चाहिए और लोगों को उन्हें प्रभावित करने वाली नीतियों पर कुछ प्रभाव डालना चाहिए। दो केंद्रीय विचार थे व्यक्तिगत स्वतंत्रता, और राज्य द्वारा उल्लंघनों के विरुद्ध व्यक्तियों की रक्षा करना। वे व्यक्ति को राज्य की ज्यादतियों से बचाने के लिए नकारात्मक रूप से काम करते हैं। साइरस के समय से उठाए गए कदम प्रभावशाली थे, फिर भी इनमें से कई अवधारणाएं, जब मूल रूप से नीतियों में अनुवादित की गईं, तो महिलाओं, रंग के लोगों और कुछ सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक समूहों के सदस्यों को बाहर रखा गया। इस स्थिति पर काबू पाने के प्रमुख उदाहरण 19वीं और 20वीं सदी की शुरुआत में दास व्यापार पर रोक लगाने और युद्ध की भयावहता को सीमित करने के प्रयासों द्वारा दर्शाए गए हैं। पहले तीन जिनेवा कन्वेंशन और हेग कन्वेंशन को अपनाना महत्वपूर्ण है, जो युद्ध के समय में भी व्यक्तियों की मानवीय गरिमा के बुनियादी स्तर के सम्मान को बढ़ावा देने और आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय मानवतावादी कानून की नींव रखने के लिए जनमत की गहरी चिंता को व्यक्त करता है। कुछ अल्पसंख्यक समूहों की सुरक्षा पर चिंताएँ, जो प्रथम विश्व युद्ध के अंत में राष्ट्र संघ द्वारा उठाई गई थीं, और श्रमिकों को उनके अधिकारों के संबंध में सुरक्षा संधियों की देखरेख के लिए अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) की स्थापना, जिसमें शामिल हैं उनका स्वास्थ्य और सुरक्षा, मानव अधिकारों के महत्व की मान्यता के प्रति बढ़ते सकारात्मक दृष्टिकोण को दर्शाता है जैसा कि हम आज उन्हें जानते हैं। मानव गरिमा की सुरक्षा और संवर्धन में क्रांति और गहरी प्रगति का समय आ गया था। आखरिकार, मानव अधिकारों को वैश्विक मंच पर और वैश्विक चेतना में आगे बढ़ाने के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के उत्प्रेरक की आवश्यकता पड़ी। संघर्ष के दौरान और उसके बाहर की गई अभूतपूर्व क्रूरताएं, जैसे कि नाजी जर्मनी द्वारा छह मिलियन से अधिक यहूदियों, सिंती और रोमानी (जिप्सियों), समलैंगिकों और विकलांग व्यक्तियों को नष्ट करना, ने दुनिया को भयभीत कर दिया। इस प्रकार मानवाधिकार का विचार द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पहले से भी अधिक मजबूत होकर उभरा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद नूर्नबर्ग और टोक्यो में आयोजित परीक्षणों ने 'शांति के खिलाफ अपराध' और ''मानवता के खिलाफ अपराध'' की नई अवधारणाओं को पेश किया।

<u>प्रश्न न0 2–</u> नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा हेतु कौन–सी प्रक्रिया अपनायी जाती है? व्याख्या कीजिए।

<u>उत्तर–</u> कार्यान्वयन व्यवस्था– नागरिक (सिविल) राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा–1966 में दिए गए अधिकारों के कार्यान्वयन की व्यवस्था है। यह कार्यान्वयन व्यवस्था प्रंसविदा के भाग–4 में अनुच्छेद 28 से 45 तक में दी गई थी। प्रंसविदा के अनुच्छेद 28 में एक '18' सदस्यीय मानवीय अधिकार समिति की स्थापना का प्रावधान है। यह समिति प्रसंविदा में वर्णित मानव अधिकारों का कार्यान्वयन निम्नवत् तीन प्रकार से करती है–

(अ) संवाद लेखन अथवा रिपोर्ट देने की प्रक्रिया (The Reporting Procedure) (अनुन्छेद–40, 41);

(ब) अन्तर्राज्यीय संसूचना प्रणाली (The Inter State Communication System) (अनुन्छेद–41) जिसमें सुलह अथवा समझौता कमीशन (Conciliation Commission) (अनुन्छेद–42);

(स) व्यक्तिगत संसूचना प्रणाली (Individual's Communication System) (ऐच्छिक प्रोटोकाल का) (अनुच्छेद–1)

अन्तिम या व्यक्तिगत संसूचना प्रणाली वर्णन सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा में नहीं हैं। इसका वर्णन नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के 'ऐच्छिक प्रोटोकाल' के अनुच्छेद–1 में है। यह उपाय केवल उन्हीं राज्य पक्षकारों को उपलब्ध है जो सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा–1966 तथा ऐच्छिक प्रोटोकाल दोनों के ही पक्षकार है। ऐच्छिक प्रोटोकाल के अनुच्छेद –2 के अनुसार ''वह व्यक्ति जो दावा करते है कि प्रंसविदा में लिखित उनके अधिकारों का उल्लंघन हुआ है तथा उनहोने घरेलू उपचार (Domestic

Remedies) अर्थात् उनक राज्य में उपलब्ध उपाय समाप्त कर दिया हैं। मानव अधिकार समिति के विचारार्थ संसूचना अथवा शिकायत याचिका प्रस्तुत कर सकते है।''

नागारिक (सिविल) एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा का ऐच्छिक प्रोटोकाल(Optional Protocol of the International Covenant on civil and Political Rights)– ऐच्छिक प्रोटोकाल को अंगीकार किये जाने का प्रयोजन इसकी प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है। इसकी प्रस्तावना में कहा गया है कि सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा के प्रयोजनो, और अधिक प्राप्ति तथा इसके उपबन्धों का प्रवर्तन करने हेतु यह उचित होगा कि प्रसंविदा के भाग 4 में स्थापित मानव अधिकार समिति उन व्यक्तियों की शिकायते या संसूचना प्राप्त करे जो दावा करते थे कि प्रसंविदा में स्वीकृत किसी मानव अधिकार के शिकार है। ऐच्छिक प्रोटोकाल में 14 अनुच्छेद हैं। ऐच्छिक प्रोटोकाल के अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि सिंविल एंव राजननतिक अधिकारों की प्रसंविदा का जो पक्षकार ऐच्छिक प्रोटोकाल का पक्षकार बनता ह वह स्वीकार करता है कि यह मानव अधिकार समिति की ऐसे व्यक्तियों जो उनकी अधिकारिता के अन्तर्गत है तथा दावा करते है कि प्रसंविदा में वर्णित अधिकारों के उल्लंघन का शिकार है से शिकायत या संसूचना प्राप्त करने तथा उस पर विचार करने की क्षमता रखती है। मानव अधिकार समिति सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा के किसी ऐसे पक्षकार के व्यक्तियों से शिकायत प्राप्त नहीं कर सकता है जो ऐच्छिक प्रोटोकाल के पक्षकार नहीं हैं। अनुच्छेद 1 के प्रावधान के अधीन वही व्यक्ति जो दावा करते है कि प्रसंविदा में वर्णित उनके अधिकारों का उल्लंघन हुआ है तभी मानव अधिकार समिति को शिकायत या संसूचना भेज सकते है जब कि उन्होने घरेलू सभी उपलब्ध उपाय समाप्त कर लिये हैं।

यदि विधिवत शिकायत संसूचना मानव अधिकार समिति को भेजी गई है तो समिति सम्बन्धित व्यक्ति तथा सम्बन्धित राज्य पक्षकार द्वारा उपलब्ध सूचना को ध्यान में रखते हुये शिकायत पर विचार करती हैं। समिति अपने मत या विचार सम्बन्धित राज्य पक्षकार एवं व्यक्ति को प्रेषित करती है। (ऐच्छिक प्रोटोकाल का अनुच्छेद–5) अपनी वार्षिक रिपोर्ट में समिति आने कार्यकलापों का एक सारांश सम्मिलित करते है तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र की महासभा को प्रेषित करती है। (ऐच्छिक प्रोटोकाल का अनुच्छेद–6 तथा सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा का अनुच्छेद –45)।

दसवें अनुसमर्थन के संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास जमा करने पर ऐच्छिक प्रोटोकाल मार्च 23, 1976 को लागू हो गया। (ऐच्छिक प्रोटोकाल का अनुच्छेद–9)। अब तब 92 राज्यों ने ऐच्छिक प्रोटोकाल का अनुसमर्थन किया है।

मृत्यु–दण्ड की समाप्ति के प्रयोजन से किया गया सिंविल एंव राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा का द्वितीय ऐच्छिक प्रोटोकाल(Second Protocol to the International Covenant on Civil and Political Rights Aiming at the Abolition of Death Penalty)– यह प्रोटोकाल अपवर्जित रूप से मृत्युदण्ड की समाप्ति के उद्देश्य से अपनाया गया है। यह ऐच्छिक प्रोटोकाल मुख्य रूप से सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा तथा उसके प्रथम् ऐच्छिक प्रोटोकाल से जुड़ा हुआ है। यह 11 जुलाई 1991 को लागू हो गया है। 27 अप्रैल 2005 तक इसमें 54 पक्षकार हो चुके है।

<u>प्रश्न न0 3–</u> राष्ट्रीय मानवाधिकार के आयोग के गठन, कार्यों एवं शक्तियों की व्याख्या कीजिए।

<u>उत्तर–</u> भारत नागरिक और राजनीतिक अधिकारों और अंतर्राष्ट्रीय संधि का एक पक्ष है युनाइटेड की आम सभा द्वारा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर प्रसंविदा को अपनाया गया 16 दिसंबर, 1966 को राष्ट्र। भारत उपरोक्त सम्मेलनों और मानव का एक हस्ताक्षरकर्ता है उक्त सम्मेलनों में सन्निहित अधिकार संविधान द्वारा काफी हद तक संरक्षित हैं। तथापि, भारत और विदेशों में मानवाधिकारों से संबंधित मुद्दों पर चिंता बढ़ रही है बदलती सामाजिक वास्तविकताओं और अपराध की प्रकृति में उभरती प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए हिंसा, सरकार मौजूदा कानूनों और प्रशासन प्रणाली की समीक्षा कर रही है न्याय। अधिनियम की धारा 3 में प्रावधान है कि केंद्र सरकार एक निकाय का गठन करेगी जिसे कहा जाएगा 'राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग' राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (एनएचआरसी) का भारत एक स्वायत्त सार्वजनिक निकाय है जिसका गठन 12 अक्टूबर 1993 को किसके संरक्षण में किया गया था? 28 सितंबर 1993 का मानवाधिकार अध्यादेश। इसे संरक्षण द्वारा वैधानिक आधार दिया गया था
मानवाधिकार अधिनियम, 1993 (टीपीएचआरए)। NHRC राष्ट्रीय मानवाधिकार संस्था है, मानवाधिकारों की सुरक्षा और संवर्धन के लिए जिम्मेदार, जिसे अधिनियम द्वारा 'अधिकार' के रूप में परिभाषित किया गया है संविधान द्वारा गारंटीकृत व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, समानता और गरिमा से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय अनुबंधों में सन्निहित।

धारा–3, राष्ट्रीय मानवाधिकार का आयोग का गठन– आयोग का गठन एक अध्यक्ष तथा सात अन्य सदस्यों से मिलकर होगा।

अध्यक्ष– आयोग एक अध्यक्ष होगा। अध्यक्ष के लिए ऐसा योग्य हो, जो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश रह चुका हो।

परमजीत कौर बनाम स्टेट ऑफ पंजाब ए.आई.आर. 1999 एस.सी. 340 के वाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा यह निर्धारित किया गया कि ''राष्ट्रीय मानव अधिकार का अध्यक्ष, सर्वोच्च न्यायालय का पूर्व मुख्य न्यायाधीश होने से, वह अपने–आप में एक विशेषज्ञ एवं विलक्षण व्यक्तित्व का धनी होता है। ''

अधिनियम के अध्याय दो से चार राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग से सम्बन्धित है। इससे सम्बन्धित मुख्य प्रावधान निम्नलिखित है–

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की संरचना (**Composition of Construction of National Human Rights Commission**)– अधिनियम की धारा के अनुसार राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की संरचना केन्द्रीय सरकार द्वारा निम्नलिखित होगी–
(क) एक अध्यक्ष जो सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश रहा हो;
(ख) एक सदस्य जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या रहा है;
(ग) एक सदस्य जो किसी उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश है या रहा है;
(घ) दो सदस्यों को, या का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों में से नियुक्त किया जाएगा। मानवाधिकारों से संबंधित मामलों में व्यावहारिक अनुभव।
(ड़)मानित सदस्य निम्नलिखित राष्ट्रीय आयोगों के अध्यक्ष
(1) अध्यक्ष, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग,
(2)अध्यक्ष, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग जनजातियाँ और
(3)अध्यक्ष, राष्ट्रीय महिला आयोग
(4) एक महासचिव

आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति (धारा–4)– उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आयोग में कुल आठ सदस्य अध्यक्ष सहित होंगे, जिनमें, 3 पदेन सदस्य होगे। पदेन सदस्यों के अतिरिक्त अन्य सदस्यों की नियुक्ति (अध्यक्ष सहित) यद्यपि राष्ट्रपति द्वारा अपने हस्ताक्षर तथा मुद्रा के अधीन की जाती है, परन्तु वह ऐसा एक समिति की सिफारिश पर करता है। इस सदस्य निम्नलिखित होगे–
(क) प्रधान मंत्री – अध्यक्ष। (ख) लोक सभा के अध्यक्ष – सदस्य (ग) भारत सरकार में गृह मंत्रालय के प्रभारी मंत्री –सदस्य (घ) लोक सभा में विपक्ष के नेता–सदस्य (ड़) राज्यों की परिषद में विपक्ष के नेता – सदस्य (च) राज्यों की परिषद के उपाध्यक्ष–सदस्य

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की शक्तियाँ तथा कार्य– आयोग के कार्य अधिनियम धारा–12 अधीन निर्धारित किए गए, जो निम्नवत् है–
(1) एनएचआरसी के पास मानवाधिकारों के उल्लंघन से संबंधित शिकायतों की स्वतरू संज्ञान से या याचिका प्राप्त होने के बाद जांच करने की शक्ति है।
(2) इसे मानवाधिकारों के उल्लंघन के किसी भी आरोप से जुड़ी किसी भी न्यायिक कार्यवाही में हस्तक्षेप करने की शक्ति है।
(3) यह कैदियों की रहने की स्थिति को देखने और उन पर सिफारिशें करने के लिए किसी भी जेल या अन्य सरकार–नियंत्रित सुविधा का दौरा कर सकता है।
(4) यह संविधान या किसी मानवाधिकार संरक्षण कानून में प्रदान की गई सुरक्षा की समीक्षा कर सकता है और प्रभावी उपचारात्मक कदमों की सिफारिश कर सकता है।
(5) एनएचआरसी मानव अधिकारों के क्षेत्र में अनुसंधान भी करता है और उसे बढ़ावा देता है। यह समाज के विभिन्न वर्गों के बीच मानवाधिकार साक्षरता फैलाने के लिए काम करता है और प्रकाशनों, मीडिया, सेमिनारों और अन्य माध्यमों से इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए उपलब्ध सुरक्षा उपायों के बारे में जागरूकता को बढ़ावा देता है।
(6) संवैधानिक भाषा या कानून में मानवाधिकारों की रक्षा पर सलाह देते समय, आयोग कुछ समय के लिए एक स्वतंत्र रुख अपनाता है।
(7) एनएचआरसी के पास सिविल कोर्ट की शक्तियां हैं और वह अंतरिम राहत दे सकता है।
(8) इसके पास मुआवजे या क्षति के भुगतान की सिफारिश करने का भी अधिकार है।
(9) यह मानवाधिकारों के उल्लंघन को रोकने के लिए केंद्र और राज्य दोनों सरकारों को उचित कदम उठाने की सिफारिश कर सकता है।
(10) एनएचआरसी अपनी वार्षिक रिपोर्ट भारत के राष्ट्रपति को सौंपता है जो इसे संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवाते हैं।

आयोग की परिवादों (शिकायतों) की जाँच की शक्ति– आयोग को मानव–अधिकार के उल्लंघन सम्बन्धी सभी परिवादों की जाँच एवं सुनवायी की शक्ति प्राप्त है। आयोग द्वारा प्राप्त सभी परिवादों को दो सप्ताह के भीतर एक सदस्यीय और आवश्यकता पड़ने पर दो सदस्यों की पीठ के समक्ष ग्रहण के लिये प्रस्तुत किया जायेगा।
सामान्य परिवाद को निम्न आधारों पर रद् कर दिया जायेगा–
(1) परिवाद आयोग के कार्य क्षेत्र के बाहर है;
(2) मामला न्यायाधीश या किसी अन्य आयोग के पास लम्बित है;
(3) जिस घटना के सम्बन्ध में परिवाद किया गया है वह घटना, परिवाद से एक वर्ष से अधिक समय पूर्व घटित हुई थी।
(4) परिवाद अस्पष्ट या निरर्थक, अनाम या मिथ्या नाम से है तथा मानव अधिकार के उल्लंघन का कोई मामला नहीं बनता।
(5) परिवाद बहुत साधारण या तुच्छ प्रकृति का है।

मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत आयोग को परिवादों की जाँच करते समय सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 (1908 का 5वाँ) के अन्तर्गत वाद का विचारण करने वाले सिविल न्यायालय की सभी शक्तियाँ प्राप्त होगी और विशेषतः निम्नलिखित मामलों में प्राप्त होती है–

(क) साक्षियों को उपस्थित होने के लिए समन करने एवं परिवर्तित करने तथा शपथ का परीक्षण करने,

(ख) किसी दस्तावेज के प्रकटीकरण तथा प्रस्तुतीकरण करने,

(ग) शपथ–पत्रों पर साक्ष्य प्राप्त करना,

(घ) किसी न्यायालय या कार्यालय से किसी लोक अभिलेख (रिकार्ड) या उसकी प्रतिलिपि के तलब (मांग) करना,

(ड़) दस्तावेजों और साक्षियों के परीक्षण हेतु कमीशन जारी करने,

(च) कोई अन्य मामला जो विहित हो (धारा 13 1)

आयोग की अन्वेषण करने की शक्ति– आयोग को यह शक्ति प्राप्त है किसी जाँच से सम्बन्धि तमामले में बाहरी लोगों को अन्वेषण से सम्बद्ध कर सके। आयोग का पुलिस बल आयोग की ओर से अन्वेषण का काम करता है परन्तु पेचीदा मामले में या ऐसे मामले में जहाँ इनके माध्यम से पर्याप्त जाँच संभव न हो तो आयोग केन्द्र या राजय सरकार की सहमति से केन्द्र या राज्य सरकार के किसी अधिकारी या अन्वेषण अभिकरण की सेवायें ले सकता है। धारा 14(1)।

जब कोई अधिकारी या अन्वेषण अधिकरण की सेवायें धारा 14(1) के अन्तर्गत ली जाती है, तो आयोग द्वारा निर्देशों के अनुसरण किसी मामले का अन्वेषण कर रहा है तब उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वहाँ धारा 14(2)।

(क) किसी व्यक्ति को समन कर सकेगा, उसकी उपथिति को सुनिश्चित कर सकेगा तथा उसका परीक्षण कर सकेगा;

(ख) किसी दस्तावेज की खोज और प्रस्तुतीकरण करने की अपेक्षा कर सकेगा;

(ग) किसी कार्यालय से लोक–अभिलेख (रिकार्ड) या उसकी प्रतिलिपि की माँग कर सकेगा;

जिस अधिकारी या अन्वेषण अधिकरण (ऐजेन्सी) को धारा 14 (1) के उपबन्धों के अन्तर्गत अन्वेषण का कार्य सौंपा गया है, वह अन्वेषण पूरा कर लेने के पश्चात् आयोग द्वारा विनिर्दिष्ट अवधि के अन्तर्गत एक प्रतिवेदन (रिपोर्ट) प्रेषित करेगा। यदि उक्त अधिकारी या अन्वेषण अभिकरण की रिपोर्ट में कोई निष्कर्ष निकाला गया है, तो उसकी शुद्धता और निष्कर्ष में कथित तथ्यों को सन्तुष्ट करने के लिये आयोग जैसा उचित समझे जाँच कर सकती है।

उपर्युक्त योगदान के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि कमीशन के पास अनुशास्तियों का अभाव है एवं प्रत्यक्ष कार्यवाही नहीं सकती । यह केवल संस्तुति दे सकती है तथा यह सरकार के ऊपर है कि वह स्वीकार करती है अथवा नहीं। यह स्थिति संतोषजनक नहीं है। राष्ट्रीय मानव अधिकार कमीशन की संस्तुतियाँ यथेष्ट नहीं है तथा सरकार कभी भी राजनीतिक अथवा अन्य कारण देकर उन्हें कार्यान्वित करने से बच सकती है। अतः सत्य यह है कि कमीशन को जाँच समाप्त करने के पश्चात् धारा 18 में दी गई शक्तियाँ समुचित नहीं है। इस बात में काफी बल है कि कमीशन के पास अनुशास्तियों का अभाव है। यह केवल संस्तुतियाँ दे सकती है एवं इसकी संस्तुतियाँ सरकार पर बाध्यकारी नहीं है।

प्रश्न न0 4– मानवाधिकार एवं मानवीय विधियाँ दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू है। व्याख्या कीजिए।

उत्तर– समानता– अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि और मानव अधिकार विधि दोनों मानवीय विचारों पर आधारित है। दोनों विधियों के विषय मानव प्राणियों के संरक्षण से है। निकारागुआ के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह प्रेक्षण किया था कि मानवीय विधि के सिद्धान्त मानवता के मूलभूत विचारों के सदृश है। ऐसा होने के कारण दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि और मानव अधिकार विधि दोनों का क्रम विकास सन्–1945 से प्रारम्भ हुआ। मानव अधिकार के संरक्षण से सम्बन्धित बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय संलेख अंगीकार किए गए और विशेषतः वर्ष 1966 की मानवाधिकार सम्बन्धी दो अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाए। अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि का विकास भी एक बड़ी सीमा तक वर्ष 1945 के पश्चात् हुआ है और वर्ष 1949 एवं 1977 का संहिताकरण इस सम्बन्ध में ठोस उपलब्धियाँ है।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद मानव अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सबसे महत्वपूर्ण विषय के रूप में उभरकर अस्तित्व में आया है। मानव अधिकारों को शान्ति और युद्ध या सशस्त्र संघर्ष में लागू करने के आवश्यकता का अनुभव हुआ। सत्य तो यह है कि मूल अधिकारों को सशस्त्र संघर्ष लागू करने की अत्यन्त आवश्यकता मालूम हुई। यह बात भी सत्य है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर ने युद्ध को; विधि–बहिष्कृत कर दिया है तथा बल प्रयोग भी प्रतिषिद्ध कर दिया गया है। फिर भी संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अंगीकृत किए जाने के पश्चात् भी युद्ध घटनाएँ होती रही है। जब संयुक्त राष्ट्र का पक्षकार राज्य किसी राज्य के राज्यक्षेत्र ,अखण्डता या राजनैतिक स्वतन्त्रता के विरूद्ध युद्ध करता है जो संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो से असंगत है तथा चार्टर के अनुच्छेद 2(4) का अतिक्रमण है तो ऐसी स्थिति में उस राज्य के पास जिसके विरूद्ध सशस्त्र हमला हुआ है यही विकल्प है कि वह आत्म–रक्षा के लिए व्यष्टिक या सामूहिक प्रयास करे जैसा कि चार्टर के अनुच्छेद 51 में उपबन्ध किया गया और इस प्रकार उसे युद्ध ही करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त शान्ति को खतरा, शान्ति भंग और आक्रमण के कार्यों में सुरक्षा परिषद् चार्टर के अध्याय VII के अन्तर्गत संयुक्त कार्यवाही कर सकती ह। अतः अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि की अपेक्षा बनी हुई हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान नाजी की नृशांसता एवं बड़े पैमाने पर मानव अधिकार के उल्लंघन से मानव जाति की अन्तरात्मा को बहुत भारी धक्का लगा जिससे संयुक्त राष्ट्र चार्टर के मानव अधिकार से सम्बन्धित उपबन्धों

को सम्मिलित किया गया। इसका अनुभव किया गया कि मानव अधिकारों को युद्धों के दौरान भी लागू किया जाना चाहिए। इस कारण 12 अगस्त, 1949 को चार जेनेवा अभिसमयों को अंगीकृत किया गया जो अन्तर्राष्ट्रीय मनवीय कानून का प्रतिपादन करती है।

मानवीय अन्तर्राष्ट्रीय विधि मानवता और नैतिकता पर आधारित विधि है। इस प्रकार से यह मानवीय युद्धविधि है। युद्ध, जैसा कि सर राधा विनोद पले ने टोकियो विचारण के मामले में कहा है, विधि का विषय नहीं फिर भी इसके विषय में विधि के नियमों को प्रतिपादित किया गया है जिससे कि मानवता की सुरक्षा की जा सके। मानवीय विधि के बहुत से नियम मानव एवं मानवता के मूलभूत विचार के सम्बन्ध में इतने मौलिक है कि हेग एवं जेनेवा अभिसमय ने विस्तृत स्वीकृति प्राप्त कर ली है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़िगत विधि का सृजन करते हैं और इसीलिए सभी राष्ट्रों पर बाध्यकारी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि और मानव अधिकार का विधि के मध्य मूल समानता की कड़ी मानव संरक्षण का सरोकार है। इस समान आधार का कारण मानवता का सिद्धान्त है। क्योंकि दोनों का प्रयोजन मानव को संरक्षण देना है, इसलिये वे संरक्षणात्मक, प्रतिषेधात्मक और निवाराणात्मक है। इसके अतिरिक्त दोनों विधि में एक तत्व और समान है, यह कि दोनों का उद्देश्य व्यक्ति के रूप में मानव की रक्षा करना है, अतः उसकी जानकारी होनी चाहिए। इस प्रकार दोनों विधियों में समान अधिकार है, उदाहरणार्थ, उन्हें गिनाया जा सकता है, यथा– जीवन या प्राण का अधिकार, यातना का निषेद्ध, मानवीय व्यवहार का अधिकार, भेदभाव का निषेद्ध, स्वास्थ्य का अधिकार, न्यायिक कार्यवाहियों के अन्तर्गत व्यक्तियों को मूल गारण्टी, मानवीय सहायता का अधिकार आदि।

चूँकि मानवाधिकार के संरक्षण के लिए ही अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि का उद्भव एवं विकास हुआ अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि मानवाधिकार विधि की एक शाखा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मानवाधिकार तथा मानवीय विधि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू है।

प्रश्न न0 5– भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकार एवं राज्य के नीति–निदेशक तत्व मानवाधिकारमूलक मानकों को प्रतिबिम्बित करती है। विवेचना कीजिए। अथवा भारतीय संविधान में दिए गए राज्य के नीति –निदेशक तत्वों (सिद्धान्तों) की प्रकृति का परीक्षण कीजिए तथा इसकी विषय वस्तु पर एक संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कीजिए। अथवा ''भारतीय संविधान के भाग–4 में वर्णित राज्य के नीति–निदेशक सिद्धान्त मौलिक आवश्यकताओं मानव अधिकार मूलक है'' उपरोक्त कथन के प्रकाश में संविधान भाग–4 के महत्व की विवेचना कीजिए।

उत्तर– संविधान के भाग 4 में राज्य के नीति निदेशक तत्व का उल्लेख किया गया है। नीति निदेशक तत्वों में वे उद्देश्य और साक्ष्य निहित है जिनका पालन करना राज्य का कर्त्तव्य है। संविधान की प्रस्तावना में परिकल्पित लोककल्याणकारी राज्य एवं एक 'समाजवादी समाज की स्थापना' आदर्श तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि सरकार नीति निदेशक सिद्धान्तों को अनिवार्य रूप से लागू करें।

आज हम लोक कल्याणकारी राज्य के नागरिक है, जिसका कर्त्तव्य जनसाधारण के सुख, समृद्धि, गरिमामय वातावरण एवं स्वास्थ विकास के अवसर और सुविधाओं में वृद्धि करना है। इसी उद्देश्य से नीति निदेशक सिद्धान्तों में कुछ आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को निहित किया गया है जिसका पालन राज्यों को करना अभीष्ट है।

नीति निदेशक तत्वों में वे आदर्श निहित है जिनको प्रत्येक सरकार अपनी नीतियों के निर्धारण और कानून बनाने में सदैव ध्यान में रखेगी। वे विदेश एवं अनुदेश भारत में सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक न्याय पर आधारित संविधान निर्माताओं की लोक कल्याणकारी राज्य सम्बन्धी महत्वाकांक्षा एवं भावना को व्यक्त करते है। इनमें वे लक्ष्य एवं उद्देश्य अन्तर्विष्ट है जिन्हे सरकार द्वारा प्राप्त किया जाना अपेक्षित है। अतः नीति निदेशक तत्व देश के शासन के लिए मूलभूत तत्व है जो राज्यों पर उन्हें प्राप्त करने के लिए अधिरोपित किये गये है।

भाग 4 में निम्न निदेशक तत्वों का उल्लेख किया गया है–

इस भाग में अन्तर्विष्ट तत्वों का लागू होना (अनु. 37)– इस भाग में निहित प्रावधान नहीं होंगे किसी भी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय, लेकिन उसमें निर्धारित सिद्धांत नीचे फिर भी शासन में मौलिक हैं देश और इसे लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा। कानून बनाने में ये सिद्धांत।

राज्य लोक कल्याण की अभिवृद्धि के लिए सामाजिक व्यवस्था बनाएगा (अनु. 38)– (1) राज्य एक सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित और संरक्षित करके लोगों के कल्याण को बढ़ावा देने का प्रयास करेगा जिसमें न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को सूचित करेगा।

(2) राज्य, विशेष रूप से, आय में असमानताओं को कम करने का प्रयास करेगा, और न केवल व्यक्तियों के बीच, बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले या विभिन्न व्यवसायों में लगे लोगों के समूहों के बीच भी स्थिति, सुविधाओं और अवसरों में असमानताओं को खत्म करने का प्रयास करेगा।

राज्य द्वारा अनुसरणीय कुछ नीति तत्व (अनु. 39)– राज्य, विशेष रूप से, अपनी नीति का निर्देशन करेगा सुरक्षित करने की दिशा में–

(क) कि नागरिकों, पुरुषों और महिलाओं को समान रूप से, आजीविका के पर्याप्त साधन का अधिकार है;

(ख) समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार वितरित किया जाता है कि सामान्य भलाई के लिए सर्वोत्तम हो;

(ग) कि आर्थिक प्रणाली के संचालन के परिणामस्वरूप सामान्य हानि के लिए धन और उत्पादन के साधनों का संकेंद्रण नहीं होता है;

(घ) पुरुषों और महिलाओं दोनों के लिए समान काम के लिए समान वेतन है;
(ड़) श्रमिकों, पुरुषों और महिलाओं के स्वास्थ्य और शक्ति, और बच्चों की कोमल उम्र का दुरुपयोग नहीं किया जाता है और नागरिकों को आर्थिक आवश्यकता से मजबूर नहीं किया जाता है कि वे अपनी उम्र के लिए अनुपयुक्त व्यवसायों में प्रवेश करें या ताकत;
(च) कि बच्चों को स्वस्थ तरीके से और स्वतंत्रता और सम्मान की स्थितियों में विकसित होने के अवसर और सुविधाएं दी जाएं और बचपन और युवावस्था को शोषण और नैतिक और भौतिक परित्याग से बचाया जाए।

समान न्याय और निःशुल्क सहायता (अनु. 39क)– राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि कानूनी प्रणाली का संचालन समान अवसर के आधार पर न्याय को बढ़ावा दे, और विशेष रूप से, न्याय हासिल करने के अवसर सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त कानून या योजनाओं या किसी अन्य तरीके से मुफ्त कानूनी सहायता प्रदान करेगा। किसी भी नागरिक को आर्थिक या अन्य अक्षमताओं के कारण वंचित नहीं किया जाता है।

ग्राम पंचायतों का संगठन (अनु. 40)– राज्य ग्राम पंचायतों को संगठित करने के लिए कदम उठाएगा और उन्हें ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वशासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने में सक्षम बनाने के लिए आवश्यक हों।

कुछ दशाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार (अनु. 41)– राज्य, अपनी आर्थिक क्षमता और विकास की सीमा के भीतर, काम करने का अधिकार, शिक्षा का अधिकार और बेरोजगारी, बुढ़ापा, बीमारी और विकलांगता के मामलों में और अवांछित अभाव के अन्य मामलों में सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने के लिए प्रभावी प्रावधान करेगा।

कार्य की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबन्ध (अनु. 42)– 4राज्य काम की उचित और मानवीय स्थितियाँ सुनिश्चित करने और मातृत्व राहत के लिए प्रावधान करेगा।

कार्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी आदि (अनु. 43)– राज्य उपयुक्त कानून या आर्थिक संगठन या किसी अन्य तरीके से, सभी श्रमिकों, चाहे कृषि, औद्योगिक या अन्य, को काम, जीवनयापन योग्य मजदूरी, सभ्य जीवन स्तर और पूर्ण आनंद सुनिश्चित करने वाली काम की स्थिति सुनिश्चित करने का प्रयास करेगा। अवकाश और सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर और, विशेष रूप से, राज्य ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्तिगत या सहकारी आधार पर कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने का प्रयास करेगा।

उद्योगों के प्रबन्ध में कर्मकारों का भाग लेना (अनु. 43क)– राज्य किसी भी उद्योग में लगे उपक्रमों, प्रतिष्ठानों या अन्य संगठनों के प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त कानून या किसी अन्य तरीके से कदम उठाएगा।

छः सालों से कम आयु के बच्चों की बाल्यावस्था की देख–रेख एवं शिक्षा के लिए प्रावधान (अनु. 45)– राज्य इस संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की अवधि के भीतर, सभी बच्चों को चौदह वर्ष की आयु पूरी करने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करेगा।,

अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की अभिवृद्धि (अनु. 46)– राज्य लोगों के कमजोर वर्गों और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को विशेष देखभाल के साथ बढ़ावा देगा और उन्हें सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से बचाएगा।

पोषहार स्तर और जीवन स्तर को उच्च करने तथा लोक स्वास्थ्य का सुधार करने का राज्य कर्त्तव्य (अनु. 47) – राज्य अपने लोगों के पोषण स्तर और जीवन स्तर को बढ़ाने और सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में से एक मानेगा और, विशेष रूप से, राज्य इसके लिए प्रयास करेगा। औषधीय उद्देश्यों को छोड़कर नशीले पेय और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक दवाओं के सेवन पर प्रतिबंध लगाएं।

कृषि औंर पशुपालन का संगठन (अनु. 48)–राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक तर्ज पर व्यवस्थित करने का प्रयास करेगा और विशेष रूप से, गायों और बछड़ों और अन्य दुधारू और वाहक मवेशियों की नस्लों के संरक्षण और सुधार, और वध पर रोक लगाने के लिए कदम उठाएगा।

पर्यावरण का संरक्षण तथा संवर्धन तथा वन और वन्य जीवों की रक्षा (अनु. 48क)–राज्य पर्यावरण की रक्षा और सुधार करने तथा देश के वनों और वन्य जीवों की सुरक्षा करने का प्रयास करेगा।

राष्ट्रीय महत्व के संस्मारकों, स्थानों और वस्तुओं का संरक्षण (अनु. 49)–यह राज्य का दायित्व होगा कि वह कलात्मक या ऐतिहासिक रुचि के प्रत्येक स्मारक या स्थान या वस्तु को, 2 [संसद द्वारा बनाए गए कानून के तहत या उसके तहत राष्ट्रीय महत्व का घोषित किया जाए,, लूट, विरूपण, विनाश, हटाने से बचाए। निपटान या निर्यात, जैसा भी मामला हो।

कार्यपालिका से न्यायापालिका का पृथक्करण (अनु. 50)–राज्य की सार्वजनिक सेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग करने के लिए राज्य कदम उठाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कर अभिवृद्धि (अनु. 51)–राज्य प्रयास करेगा–
(क) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बढ़ावा देना;
(ख) राष्ट्रों के बीच न्यायसंगत और सम्मानजनक संबंध बनाए रखना;

(ग) संगठित लोगों के एक दूसरे के साथ व्यवहार में अंतरराष्ट्रीय कानून और संधि दायित्वों के प्रति सम्मान को बढ़ावा देना; और

(घ) मध्यस्थता द्वारा अंतरराष्ट्रीय विवादों के निपटारे को प्रोत्साहित करना।

संविधान के भाग 4 (निदेशक तत्वों) का महत्व—हमारे संविधान में राज्य की नीति निदेशक तत्वों की कल्पना आयरलैण्ड के ध्यान रखते हुए की गई हैं। संविधान सभा नीति में निदेशक तत्वों का समर्थन करते हुए डा0 भीमराव अम्बेडकर ने इस प्रकार कहा था—

'' मेसी विवके बुद्धि से, निदेशक तत्वों का बड़ा महत्व है, क्योंकि वे अभिकथित करते है कि हमारा आदर्श आर्थिक लोकतंत्र है। कारण यह है कि हम संविधान में उपबन्धित विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा केवल संसदीय की सरकार का, बिना किसी निदेश के कि हमारा आर्थिक आदर्श, कि हमारी सामाजिक व्यवस्था क्या होनी चाहिए, स्थापित किया जाना नहीं चाहते हैं इसलिए हम लोगों ने जानबूझकर निदेशक तत्वों को संविधान में समाविष्ट कर दिया।''

निदेशक तत्व किसी प्रकार से मूल अधिकारों से कम महत्वपूर्ण नहीं है। ग्रेनविल ऑस्टिन ने निदेशक तत्वों की महत्ता को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है— ''भारतीय संविधान प्रथमतः और सर्वोपरि रूप में एक सामाजिक दस्तावेज है। इसके अधिकांश उपबन्ध या तो प्रत्यक्षतः सामाजिक क्रान्ति के प्रयोजन को पूरा करने के लिए आवश्यक दशाओं की स्थापना करते हुए सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए या तो सीधे उपबन्धित हैं, या फिर सम्पूर्ण संविधान में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का लक्ष्य व्याप्त होते हुए भी सामाजिक क्रान्ति के लिए वचनबद्धता का जो मर्म है, वह भाग 3 और 4 के मूल अधिकारों तथा राज्य के नीति निदेशक तत्वों में है। यह संविधन को आत्मा है।''

चूँकि निदेशक तत्व भी संविधान में अन्तर्निर्हित है, इसलिए सरकार का यह कर्त्तव्य है कि इनको लागू करे। यह सच है कि इसके पीछे कोई विधिक शक्ति नहीं है, किन्तु इसके पीछे 'जनमत' की महान शक्ति है। कोई भी सरकार, जो अपना भविष्य हमेशा के लिए अन्धकारमय नहीं बनाना चाहती, इन निदेशों की उपेक्षा करने का साहस नहीं करेगी।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से स्पष्ट है कि ''भारतीय संविधान के भाग—4 में वर्णित राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्त मौलिक आवश्यकता मूलक मानव अधिकार है।''

<u>प्रश्न न0 6—</u> सार्वभौमिक मानवाधिकारों की घोषणा, 1948 की प्रकृति, क्षेत्र एवं महत्व की व्याख्या कीजिए।

<u>उत्तर—</u> मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा— संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर ने मानवाधिकार एवं मौलिक स्वतन्त्रता को परिभाषित नहीं किया है किन्तु यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि ''मानवाधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रता के विकास तथा संवर्धन का दायित्व विश्व के प्रत्येक राष्ट्र का है।'' संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत प्रतिपादित इस सिद्धान्त को लागू करना, अब संयुक्त राष्ट्र का सबसे महत्वपूर्ण था। अतः इसे ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र महासभा ने आर्थिक एवं सामाजिक परिषद से 29 जनवरी 1946 को कहा कि वह इस सम्बन्ध में 'मानवीय अधिकारों के कमीशन' से अध्ययन करवायें (महासभा प्रस्ताव 7{1})। इस कार्य हेतु कमीशन ने जनवरी 1947 को प्रारूप समिति नियुक्त की। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषण के प्रारूप की तैयारी प्रारूपण समिति द्वारा की गयी थी। जिसकी नियुक्ति मानव अधिकार आयोग द्वारा राज्य सरकारों से टिप्पणियाँ प्राप्त होने के उपरान्त की गयी। प्रारूपण समिति ने पूर्ण प्रारूप घोषणा का पुनः प्रारूप तैयाार करके आयोग को प्रेषित कर दिया। आयोग ने जून, 1948 में अपने तृतीय सत्र में प्रारूपण घोषणा को स्वीकार कर लिया तथा उसे आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के पास भेज दिया।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् ने बिना मतदान के प्रारूप घोषणा को एक संकल्प अंगीकार या स्वीकार करके उसे महासभा के समक्ष पेश किया। अन्ततः महासभा ने इसे मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के नाम से ज्ञात संकल्प के द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को अंगीकार या स्वीकार कर लिया। इस संकल्प को बिना किसी नकारात्मक मत से 48 मतों से स्वीकार किया गया। परन्तु संकल्प के स्वीकार करने के समय 8 सदस्य राज्यों में मतदान से अपने आपको अनुपस्थित रखा। अनुपस्थित रहने वाले सदस्य राज्य बाईलोरियन, यूकोस्लोवाकिया, पौलैण्ड, सऊदी अरब, यूकरेनिया, यू.एस.एस., दक्षिणी अफ्रीका संघ तथा चेकोस्लोवाकिया थे। घोषणा को 10 दिसम्बर को अंगीकार करने के कारण सम्पूर्ण विश्व इस तारीख को 'मानव अधिकार दिवस के रूप में मनाता है। मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का स्वागत एक अत्यधिक महत्व की ऐतिहासिक घटना तथा संयुक्त राष्ट्र की महानतम उपलब्धियों के रूप में किया गया है। यह घोषणा—पत्र एक ऐसी खान या खदान है जिसमें से इन अधिकारों के संरक्षण करने वाले अन्य अभिसमयों तथा राष्ट्रीय संविधानों ने इन अधिकारों को निकाला है।

इस घोषणा में न्यूरेम्बर्ग न्यायालय द्वारा प्रतिपादित नियमों को भी स्वीकृति प्रदान की गई है। 1946 में विभिन्न राज्यों के मध्य हुई शान्ति सन्धियों में भी मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिये संकल्प लिया गया था उन व्यवस्थाओं को भी इस घोषणा में सम्मिलित किया गया है। इस घोषणा का महत्व निम्नांकित हैं—

(1) यह घोषणा प्रत्येक मानव प्राणी को मानवाधिकार सुनिश्चित करने की घोषणा है।

(2) राष्ट्रों की सीमाओं से परे, सभी मानव समुदायों के लिये घोषणा जारी की गई है।

(3) यह घोषणा में मानवाधिकारों की सार्वभौमिक का घोषित करती है।

इस घोषणा में उद्देशिका या प्रस्तावना के अतिरिक्त सविल, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सास्कृतिक अधिकारों से सम्बन्धित 30 अनुच्छेद शामिल है।

सार्वभौतिक घोषणा में मानवाधिकारों के मूल आधार तत्वों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख व्यापक रूप से किया गया है। इस सिद्धान्त में यह विचार शामिल किया गया है कि '' मानव परिवार के सभी सदस्यों की गरिमा तथा सम्मान

एवं असंक्रम्य अधिकारों की मान्यता विश्व में स्वतन्त्रता न्याय तथा शान्ति का आधार है।'' सार्वभौमिक घोषणा में सिर्फ सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों का ही उल्लेख नहीं किया गया है बल्कि आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों का भी उल्लेख किया गया है।

सार्वभौमिक घोषणा में अधिकारों की परिगणना– उद्देशिका में उन कारणों का भी जिन्होने महासभा को मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को घोषित करने को प्रेरित किया तथा उन कारणो का उल्लेख करने के पश्चात् महासभा ने सविल, राजनतिक, आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक अधिकारों घोषणा की।

अनुच्छेद 1– 2:– गरिमा, स्वतंत्रता और समानता की बुनियादी अवधारणाएँ स्थापित की गई हैं।

अनुच्छेद 3–5:– व्यक्तिगत अधिकारों का विवरण, जैसे जीवन का अधिकार और दासता का निषेध, विस्तार से बताया गया है।

अनुच्छेद 6–11:– मौलिक अधिकारों के साथ–साथ उनके उल्लंघन के उपायों का भी उल्लेख करता है।

अनुच्छेद 12–17:– समुदाय के प्रति व्यक्ति के अधिकारों को निर्धारित करता है, जिसमें प्रत्येक राज्य के भीतर आंदोलन और निवास की स्वतंत्रता, संपत्ति का अधिकार और राष्ट्रीयता का अधिकार शामिल है।

अनुच्छेद 18–21:– लेखों के ये सेट समुदाय के प्रति व्यक्ति के अधिकारों को संदर्भित करते हैं, जिसमें किसी भी मीडिया के माध्यम से आंदोलन, विचार, राय, अभिव्यक्ति, धर्म, शांतिपूर्ण संघ और विचारों की स्वतंत्रता शामिल है।

अनुच्छेद 22–27:– स्वास्थ्य देखभाल सहित किसी व्यक्ति के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगाता है। यह बेहतर जीवन स्तर के अधिकार को भी कायम रखता है और मातृत्व या बचपन में दी जाने वाली देखभाल का विशेष उल्लेख करता है।

अनुच्छेद 28–30:– यह इन अधिकारों का प्रयोग करने के सामान्य साधन स्थापित करता है, जिन क्षेत्रों में व्यक्ति के अधिकारों को लागू नहीं किया जा सकता है।

सार्वभौमिक घोषणा का विधिक महत्व–सार्वभौमिक घोषणा के विधिक महत्व के विषय में काफी मतभेद है। एक ओर कुछ लेखकों का मत है कि मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा विधिक रूप से बाध्यकारी नहीं है। परन्तु दूसरी ओर कुछ लेखको ने यह मत व्यक्त किया है ि कइस घोषणा का मूल्य अधिक है। तब चाहे बाध्यकारी न रही हो, परन्तु अब यह बाध्यकारी हो गयी है तथा इसके विधिक लक्ष्यार्थ है। इन दोनों मतों मे अतिरिक्त कुछ लेखको ने यह मत व्यक्त किया है कि यद्यपि यह घोषणा विधिक रूप में बाध्यकारी नहीं है, इसके बावजूद भी इसकी सदस्य देशों पर नैतिक तथा राजनीतिक बाध्यता तो है ही।

स्टार्क के मतानुसार, घोषणा केवल आदर्शों का एक कथन है तथा यह विधिक रूप से बाध्यकारी संलेख नहीं है, फिर भी यही एक सबसे अधिक विख्यात अन्तर्राष्ट्रीय संलेखों में से एक है और अधिकतर इसका सनदर्भ या उद्धरण संयुक्त तथा विभिन्न अभिकरणों के क्षेत्रीय समझौतों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रस्तावों और राष्ट्रीय संविधान, विधियों तथा न्यायालय के निर्णयों में दिया जाता है। सम्पूर्ण मानव जाति के लिये यह एक प्रकाश पुंज है यद्यपि इसके पालन या सम्मान के बजाय बहुधा इसका उल्लंघन किया जाता है।

वस्तु–स्थिति यह है कि सार्वभौमिक घोषणा न तो अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय है और न ही अन्तर्राष्ट्रीय करार। इसलिये इसके उपबन्ध राज्यों पर बाध्यकारी नहीं है। वास्तव में घोषणा को इस उद्देश्य से निर्मित ही नहीं किया गया था कि राज्यों पर बाध्यकारी हो। अतः यह राज्यों पर उसके उपबन्धों को लागू करने के लिए कोई विधिक बाध्यता अधिरोपित नहीं करता। फिर भी इसका विधिक महत्व है। इसके माध्यम से संयुक्त राष्ट्र चार्टर के उद्देश्यों को प्राप्त करने का राज्यों द्वारा प्रयास किया गया है।

आयन ब्राउनली ने लिखा है कि अपने आप में घोषणा एक विधिक रूप से बाध्यकारी संलेख नहीं है तथा इसके कुछ उपबन्ध विद्यमान एवं सामान्यतः स्वीकृत नियमों से भिन्न है। इसके बावजूद घोषणा के कुछ प्रावधान विधि के सामान्य सिद्धान्त है तथा मानवता के प्रारम्भिक विचार है। अधिकांश लेखक जो इस मत को व्यक्त करत है कि सार्वभौमिक घोषणा एक विधिक रूप से बाध्यकारी संलेख नहीं है यह भी मानते है कि संयुक्त राष्ट्र पहलुओं द्वारा इन मूल अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के विषय वस्तु सामान्य मार्गदर्शन की विस्तृत स्वीकृति संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों से प्राप्त हो चुकी है और विश्व के विभिन्न भागों में मानव अधिकारों की धारणाओं को जोड़ने वाली यह एक महत्वपूर्ण कड़ी है। 1970 मे इस घोषणा का पालन करने के लिये सुरक्षा परिषद ने नामीबिया पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। इसी प्रकार का व्यवहार दक्षिणी अफ्रीका के साथ भी किया गया था। इसके प्रावधानों ने अनेक देशों के संवैधानिक विधियों।

क्या यह राज्यों पर बाध्यकारी है?

सार्वभौमिक घोषणा राज्यों पर बाध्यकारी नहीं है परन्तु इसके पारित किए जाने के पश्चात् अनेक राष्ट्रीय संविधानों पर सार्वभौमिक घोषणा के प्रावधानों का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ– अरजीरिया बुरून्डी, कैमरून, कांगो के प्रजातांत्रिक गणतंत्र, फाओमी, गुइना, मेडागास्टर , माली, मारीटिआना, सेनेगल, टोगो (1958 एवं 1964 के मध्य स्वतंत्र होने क बाद) में इन देशों के लोगों ने अपने संविधान में सार्वभौमिक घोषणा के सिद्धान्तों एवं आर्देशों के प्रति अपना गम्भीर संकल्प व्यक्त किया है। भारतीय संविधान में भी सार्वभौमिक घोषणा का स्पष्ट प्रभाव है तथा उच्चतम न्यायालय ने इसे स्वीकार किया है **केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य ए.आई.आर. एस.सी.** के वाद में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने संविधान के भाग–3 में उल्लिखित मौलिक अधिकारों का हवाला देते हुए कहा था कि '' मैं यह धारित करने में असमर्थ हूँ कि इन प्रावधानों से यह दर्शित होता है कि कुछ अधिकार नैसर्गिक या

असंक्रमणीय नहीं है। वास्तव में भारत मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का पक्षकार था तथा घोषणा में कुछ कुछ मौलिक अधिकारों को असंक्रमणीय कहा गया है।''

प्रश्न न0 7– अन्तर्राष्ट्रीय मानवविधि से आप क्या समझते है? युद्धबन्दियों के प्रति व्यवहार से सम्बन्धित जेनेवा अभिसमय 1949 के उपबन्धों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– 'अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि' पद का प्रयोग द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद से किया जाने लगा और यह इसके नए प्रकृति की अभिव्यक्ति करता है। इसमें अतिमहत्वपूर्ण शब्द 'मानवीय' है जो इसके नियमो की प्रकृति का निर्धारण करता है। विधिवेत्ताओं ने सन् 1950 से ही मानवीय विधि का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था परन्तु यह शब्द प्रथम बार सन् 1965 में बियाना में हुए 22वें रेडक्रॉस सम्मेलन के प्रस्ताव संख्या– XXVIII में प्रयुक्त किया गया। मानवीय विधि का सम्बन्ध उन मामलों से है, जिनका मानव प्राणियों के जीवन, व्यक्तिगत निष्ठा और स्वतन्त्रता पर राज्यों के बीच सशस्त्र संघर्ष का प्रभाव पड़ा हो। अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय विधि की वह यह शाखा है, जो मानव को सशस्त्र संघर्षों के परिणामों से संरक्षण प्रदान करती है। यह केवल संघर्षों के दौरान लागू की जाती है। निकारागुआ के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह प्रेक्षण किया कि ''मानवीय विधि के सिद्धान्त मानवता के मूलभूत विचारों के सदृश्य है।'' संयुक्त राष्ट्र महासभा ''सशस्त्र संघर्ष में मानवाधिकारो का सम्मान'' शीर्षक में मानवीय विधि से सम्बन्धित बहुत से प्रस्तावों को अंगीकार किया गया है।

मानवीय विधि की परिभाषा(Definition of Humanitarian Law)–

यद्यपि इसकी कोई निश्चित की गई परिभाषा नहीं है तथापि इसके विस्तार क्षेत्र का कई प्रकार से निर्वचन किया जा सकता है। इसलिये इसे विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। मानवीय विधि की परिभाषा उन नियमों के रूप में की जा सकती है जो सशस्त्र संघर्षों में मानव प्राणियों के बनाये गये संरक्षण करने के उद्देश्य हेतु होता है। ये नियम मानवता के सिद्वान्तों द्वारा प्रेरित होते हैं तथा उनका प्रयोजन सशस्त्र संघर्षों में मानव कष्ट बर्बरता एवं क्रूरता को हटाना होता है। **वोस्को जैकोवजेविक के अनुसार** ''अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि यह शाखा है जो यु पीड़ितों के संरक्षण को विनियमित करती है। इसमें कतिपय मूल मानव अधिकार शामिल है जो मनुष्य को जीवित रहने के लिये अनिवार्य है, आपात स्थितियों में जब वह अधिक संकट महसूस करता है या सशस्त्र गीत विधि के प्रभावों से ग्रस्त रहता है।''

हैक्टर ग्रास एसपियेलयर के अनुसार– '' अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि से आशय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत नियमों और सिद्धान्तों का समूह जो सशस्त्र संघर्ष दोनों अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक व्यक्तियों को सुरक्षा सम्बन्धी मामलों को विनियमित करता है।''

अन्तर्राष्ट्रीय मानव विधि से ताम्पर्य हैं कि ''अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि, अन्तर्राष्ट्रीय विधि की एक शाखा है जो सशस्त्र संघर्ष, दोनों अन्तर्राष्ट्रीय और आन्तरिक में पीड़ित व्यक्तियों के लिये संरक्षण सम्बन्धी कार्यवाही करता है।''अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि'' लोक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का वह शाखा है, जो मनुष्य को सशस्त्र संघर्ष या युद्ध के परिणामों से संरक्षण प्रदान करती है। यह सशस्त्र के दौरान ही लागू होती है। इस प्रकार युद्ध के नियम जो पीड़ित व्यक्तियों के संरक्षण हेतु निर्मित किये गये है वे मानवीय विधि कहा जा सकता है। अतः मानवीय विधि को युद्ध के नियमों की शाखा के रूप में संदर्भित किया जाना समुचित होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि की प्रकृति तथा प्रयोग(Nature and Application of International Humanitarian Law)– आज जिसे हम अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि कहते है, उन्हें युद्ध की मानवीय विधि (Humanitarian Law of War) भी कहा जाता था। इसका उद्देश्य यह नहीं था युद्ध के खेल (Game of War) के लिये एक संहिता का प्रावधान करे, अपितु मानवीय कारणों से व्यक्ति की पीड़ा को न्यून करे और साथ–साथ उस क्षेत्र को सीमित करे जिसके अन्तर्गत सशस्त्र संघर्ष की बर्बरता अनुज्ञेय है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि का मुख्य उद्देश्य सशस्त्र संघर्ष के शिकार व्यक्तियों की पीड़ा को कम करना है, चाहे वे घायल, बीमार एवं ध्वस्तपोत(Ship wrecked) के शिकार, युद्ध बन्दी नागरिक हो, अन्तर्रष्ट्रीय मानवीय विधि की प्रकृति में यह परिवर्तन विश्व–युद्ध के उपरान्त इनके 1949 व 1977 के संहिताकरण में हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि सशस्त्र संघर्षों में लागू होती है। यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों से तात्पर्य दो या उससे अधिक राज्यों के बीच सशस्त्र संघर्षों से है या वे सशस्त्र जिसमें व्यक्ति औपनिवेशिक सत्ता या विदेशी अधिभोग एवं शासन के विरूद्ध अपने आत्म–निर्णय के अधिकार के प्रयोग में युद्धरत रहते है। यह उस गैर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष(Non-International armed Conflict) से पृथक् है जो किसी राज्य सीमाओं के भीतर राज्य के सशस्त्र–बलों और मत विरोधी सैन्य बलों या अन्य संगठित सशस्त्र समूहों के मध्य होता है। इस प्रकार से सिविल युद्ध, सिविल संघर्ष तथा आन्तरिक संघर्ष गैर–अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र संघर्षों में सम्मिलित होते है। यह विभेद सशस्त्र संघर्षों में लागू होने योग्य अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि के पुर्नपुष्टीकरण एवं विकास पर कूटनीतिक सम्मेलन द्वारा 3 जून 1977 को अपनाये गये दो प्रोटोकाल में किया गया था। मानवीय विधि दोनों प्रकार के सशस्त्र संघर्षों में लागू होती है।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि के नियम न केवल राज्य पर बाध्यकारी है, अपितु व्यक्तियों पर भी जिसमे शामिल है, सशस्त्र बल के सदस्य, राष्ट्राध्यक्ष, मंत्री और अधिकारी। वे सैनिक संघर्ष में लिप्त संयुक्त राष्ट्र के बलों पर भी बाध्यकारी है।

अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि के स्त्रोत– अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि के प्रधान स्त्रोत 1949 के चारो अभिसमय और इनसे सम्बन्धित 1977 के दो अतिरिक्त प्रोटोकाल है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) युद्धबंदियों के प्रति व्यवहार से संबतिध 12 अगस्त, 1949 का जेनेवा कन्वेंशन;

(2) युद्धक्षेत्र में सशस्त्र बलों के घायल और रोगी सदस्यां की दशा सुधारने के लिए 12 अगस्त, 1949 का जेनेवा कन्वेंशन;

(3) समुद्र पर सशस्त्र बलों के घायल, रोगी और ध्वस्त पोत सदस्यों की दशा सुधारने के लिए 12 अगस्त, 1949 का जेनेवा कन्वेंशन;

(4) युद्ध के समय सिविलयन व्यक्तियों के सुरक्षा से सम्बन्धित 12 अगस्त, 1949 का जेनेवा कन्वेंशनन।

इन कन्वेंशनों से सम्बनिधत 1977 के दो अतिरिक्त प्रोटोकाल इस प्रकार हैं–

(क) अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र संघर्ष से पीड़ित व्यक्तियों के सुरक्षा से सम्बन्धित 12 अगस्त, 1949 का जेनेवा कन्वेंशन का अतिरिक्त प्रोटोकाल– प्रोटोकाल–I

(ख) आंतरिक सशस्त्र संघर्ष से पीड़ित व्यक्तियों के सुरक्षा से सम्बन्धित 12 अगस्त, 1949 का जेनेवा कन्वेंशन का अतिरिक्त प्रोटोकाल– प्रोटोकाल–II

इन अन्तर्राष्ट्रीय लिखतो के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि में बहुत सी घोषणाएँ और अभिसमय आते है जो निम्नलिखित है–

(1) पेरिस घोषणा, 1856; (2) जेनेवा अभिसमय, 1864; (3) पीटर्रबर्ग की घोषणा; (4) 1899 का हेग अभिसमय; (5) 1907 का हेग अभिसमय; (6) जेनेवा गैस एवं कीटाणु युद्ध प्रोटोकाल, 1925; (7) दि सबमैरीन रूल्स प्रोटोकाल, 1937; (8) 1949 के चार रेडक्रास अभिसमय; (9) 1949 के रेडक्रास जेनेवा अभिसमयों का प्रोटोकाल–I, 1977 और (10) 1949 के रेडक्रास जेनेवा अभिसमयों का प्रोटोकाल।

युद्धबंदियों के साथ मानवीय व्यवहार पर जेनेवा अभिसमय, 1949(Geneva Convention Ralating to the Treatment of Prisoners of War, 1949)– युद्धबंदी वह प्रस्थिति है जो युद्व के दौरान अथवा सशस्त्र संघर्ष में युद्धमान राज्य द्वारा गिरफ्तार व्यक्ति को प्रदान की जाती है।

युद्धबंदियों के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में सर्वप्रथम हेग अभिसमय, 1907 में उपबन्ध किए गए। तदुपरांत जेनेवा अभिसमय, 1929 में युद्धबंदियों के प्रति व्यवहार के विषय में विस्तृत प्रावधान किए गए। उपर्युक्त दोनों संधियों का स्थान युद्धबंदियों के साथ व्यवहार से सम्बन्धित 12 अगस्त, 1949 के जेनेवा कर्न्वेशन ने ले लिया है। सन् 1949 के अभिसमय में 143 अनुच्छेद हैं तथा इसे 6 भागों में विभाजित किया गया है। इस अभिसमय में युद्धबंदियों के साथ व्यवहार के लिए निम्नलिखित नियम अधिकथित किए गए हैं–

(1) युद्धबंदियों के प्रति मानवीय व्यवहार जाना चाहिए।

(2) युद्धबंदियों की हत्या करना कोई भी ऐसा कार्य करना जिससे उसका स्वास्थ्य वर्जित है, ऐसा कार्य संन्धि का उल्लंघन माना जायेगा।

(3) किसी भी युद्धबंदी को चिकित्सा, विज्ञान या किसी अन्य प्रकार के प्रयोगों के अध्यधीन नहीं रखा जाएगा जब तक कि वह युद्धबंदी के हित में न हो।

(4) युद्धबंदियों को सदैव स्थानीय जनता के हिंसक कार्यों, अभित्रास, अनादर तथा उत्सुकता से बचना चाहिए।

(5) युद्धबंदियों के विरूद्ध बलपूर्वक प्रतिकार प्रतिषिद्ध है।

(6) सभी परिथितियों में युद्धबंदियों के अपने पद के प्रति आदर का अधिकार है। सभी युद्धबंदियों के प्रति आदर किया जाना चाहिए।

(7) युद्धबंदियों को रखने वाले देश की यह जिम्मेदारी है कि उन्हें निःशुल्क भोजन, चिकित्सा इत्यादि की सुविधायें प्रदान करें।

(8) युद्धबंदियों के साथ समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए, उनके साथ राष्ट्र, धर्म आदि के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए परन्तु स्वास्थ्य, आयु तथा उसके पेशे की योग्यता के अनुसार कुछ विभेद किया जा सकता है।

(9) युद्धबंदियों को कोई शारीरिक यातना नहीं दी जा सकती है। उनसे सूचना प्राप्त करने के लिए उन पर कोई अनुचित दबाव नहीं डाला जा सकता है।

(10)युद्वबंदियों की वह वस्तुएँ, जिनसे उनके राष्ट्र आदि का पता लगे जो उनके धर्म से सम्बन्धित हों, नहीं ली जा सकती है।

(11) यथाशीध्र युद्धबंदियों को युद्धक्षेत्र से एवं खतरे से दूर ले जाना चाहिए।

(12) युद्धबंदियों के पास सदैव उनके पहचान–पत्र होने चाहिए। जिन युद्धबंदियों के पास पहचान–पत्र न हों, वह देश जहाँ वह युद्धबंदियों है, ऐसा पहचान–पत्र प्रदान करेगा।

ये नियम युद्धबंदियों के हित को ध्यान में रखकर बनाए गए हैं जिससे उनके साथ दुर्व्यवहार न किया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह यह सामन्य नियम है कि युद्धबंदियों के साथ सदैव मानवीय व्यवहार किया जाना चाहिए किन्तु युद्धबंदियों का यह कर्त्तव्य है कि जब कभी उनसे पूछताछ की जाए, तो वे अपना नाम, पद, जन्मतिथि, अपना पता आदि बता दें। यदि वे इस प्रकार को सूचना नहीं देते है तो उन्हें पद के अनुसार सुविधाएँ नहीं दी सकती है।

प्रश्न न0 8– नागरिक व राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा का भारतीस संविधान के भाग तीन में प्रत्याभूत अधिकारों से सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर– सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा (1966) तथा भारतीय संविघान के भाग तीन में व्यक्तियों के लिये अनेक मूल मानव अधिकार, मौलिक अधिकारों के रूप मे प्रदत्त किए गए है। इन अधिकारों को मूल अधिकार कहते है। 'मूल' शब्द का अर्थ है कि ये अधिकार सभी मानव प्राणियों में निहित है और ये मानव व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक है। इन्हे साधारण विधि द्वारा नहीं अपितु संविधान में गरिमापूर्ण स्थान प्रदान किया गया है तथा संविधान देश की सर्वोच्च विधि है। क्योंकि मूल अधिकारों की गारण्टी संविधान द्वारा प्रदान की गयी है, इसलिये वे अलघंनीय है। कोई भी विधि, अध्यादेश, रूढि, या प्रशासनिक ओदश न तो उनमें कमी कर सकता है और न ही उन्हें समाप्त कर सकता है। कोई भी विधि जो मूल अधिकारों में से किसी भी मूल अधिकार का उल्लंघन करती हो, शून्य (अनुच्छेद13)। उन्हें केवल संवैधानिक संशोधनों द्वारा ही परिवर्तित या संशोधित किया जा सकता है। मूल अधिकार व्यवस्थापिका के साथ ही साथ कार्यपालिका पर भी बाध्यकारी है।

भारत के उच्चतम न्यायालय ने न्यायमूति बेग ने **ए.डी.एम. जबलपुर बनाम शिवकान्त शुक्ला ए.आई.आर. 1976 एस. सी. 1207** भारत के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पातंज्जली शास्त्री ने मूल अधिकारों का उन महान एवं आधारभूत अधिकारों के रूप` संदर्भित किया है जिन्हें किसी स्वतन्त्र देश के नागरिकों की प्रास्थिति में अन्तर्निहित 'प्राकृतिक अधिकारों या मानव अधिकारो के रूप में मान्यता एवं गारण्टी प्रदान की जाती है। इसी प्रकार **गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1643** भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों से जुड़ा एक ऐतिहासिक मामला है. इस मामले में, साल 1967 में सुप्रीम कोर्ट ने फ़ैसला सुनाया था कि संसद संविधान के किसी भी मौलिक अधिकार को सीमित नहीं कर सकती. इस मामले में कोर्ट ने यह भी कहा था कि संविधान में संशोधन करने की संसद की क्षमता अनिश्चित नहीं है और संवैधानिक संशोधन संविधान की मूल संरचना को नहीं बदल सकते. कोर्ट ने यह भी कहा था कि अनुच्छेद 13 के प्रावधानों का उल्लंघन करने वाला कोई भी संशोधन शून्य होगा।

भारतीय संविधान में उल्लेखित मूल अधिकारों को सुविधा के लिए दो कोटियों में विभाजित किया जाता है। अर्थात् विनिर्दिष्ट मूल अधिकार तथा अन्य मूल अधिकार।

(क) **विनिर्दिष्ट मूल अधिकार (Specified Fundamental Rights)**– विनिर्दिष्ट अधिकारों से तात्पर्य ऐसे सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों से है जो सिविल एवं राजनीतिक अधिकरों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा(1966) में वर्णित है तथा उनका उल्लेख भारतीय संविधान के भाग तीन में मूल अधिकारों के रूप में किया गया है। निम्नांकित (तालिका) प्रसंविदा तथा संविधान के ऐसे विभिन्न अनुच्छेदों को दर्शित करती जहाँ समान अधिकार नियत किये गये है–

क्र. सं.	आधिकार	सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा	भारतीय संविधान
1	व्यक्ति के जीवन एवं दैहिक स्वतन्त्रता का अधिकार	अनुच्छेद 6(1) और 9(1)	अनुच्छेद 21
2	बलात् या जबरन श्रम के विरूद्ध अधिकार	अनुच्छेद 8(3)	अनुच्छेद 23
3	मनमानी गिरफ्तार एवं निरोध के विरूद्ध अधिकार	अनुच्छेद 9(2),(3) एवं (4)	अनुच्छेद 22
4	किसी राज्य क्षेत्र के भीतर आवागमन एवं निवास चुनने का अधिकार	अनुच्छेद 12(1)	अनुच्छेद 19(1) (घ)
5	विधि के समक्ष समानता	अनुच्छेद 14(1)	अनुच्छेद 14
6	अपने ही विरूद्ध साक्षी बनने के लिए या दोष की अभिस्वीकृति करने के लिए विवश न किया	अनुच्छेद 13(3) (छ)	अनुच्छेद 20(3)

	जाना		
7	अभियोजन एवं दण्ड से संरक्षण	अनुच्छेद 14(7)	अनुच्छेद 20(2)
8	भूतलक्षी दण्ड विधि के विरूद्ध अधिकार	अनुच्छेद 15(1)	अनुच्छेद 20(1)
9	विचार, अतःकरण एवं धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार	अनुच्छेद 18(1)	अनुच्छेद 25
10	भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता अधिकार	अनुच्छेद 19(1), (2)	अनुच्छेद 19(1) (क)
11	शान्तिपूर्ण सभा का अधिकार	अनुच्छेद 21	अनुच्छेद 19(1) (ख)
12	संघ बनाने तथा अपने हितों के संरक्षण हेतु व्यावसायिक संघ का सदस्य बनने का अधिकार	अनुच्छेद 22(1)	अनुच्छेद 19(1) (ग)
13	लोक सेवाओं में प्रवेश का समान अधिकार	अनुच्छेद 25(ग)	अनुच्छेद 16(1)
14	भेदभाव का निषेद्ध	अनुच्छेद 26	अनुच्छेद 15(1)
15	मूलवंश (जातीय), धार्मिक एवं भाषीय अल्पसंख्यकों के अधिकार	अनुच्छेद 27	अनुच्छेद 29 एवं 30

संविधान में समाविष्ट किये गये विभिन्न अधिकारों से यह प्रतीत होता है कि सिविल एवं राजनीतिक अधिकार प्रसंविदा में उपबन्धित कई अधिकार भारत द्वारा अनुसमर्थन किये जाने के पहले ही व्यक्तियों के उपलब्ध थे। इन अधिकारों में से कतिपय अधिकार केवल नागरिकों को तथा कुछ अधिकार सभी व्यक्तियों का उलब्ध हैं। 'व्यक्ति' शब्द में देश के नागरिक तथा गैर–नागरिक (अन्य देशीय) दोनों ही सम्मिलित होते है।

जहाँ तक व्यक्ति के जीवन (प्राण) के अधिकार का सम्बन्ध है **चैयरमैन, रेलवे बोर्ड बनाम चन्द्रिका दास ए.आई. आर. 1996 एस.सी. 1234** के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि–

''यहाँ तक वि वे व्यक्ति भी, जो देशके नागरिक नही है तथा यहाँजो पर्यटक के रूप में अथवा अन्य किसी प्रास्थिति में आये हैं संवैधानिक उपबन्धों के अनुसार अपने जीवन (प्राण) के संरक्षण के अधिकारी होगे।''

(ख) अन्य मूल अधिकार (Other Fundamental Rights)– वर्तमान सन्दर्भ में अन्य मूल अधिकारों से तात्पर्य ऐसे मूल अधिकारों से है जिनका सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा (1966) में उल्लेख किया गया है परन्तु संविधान के भाग तीन में विनिर्दिष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है। प्रश्न यह है कि क्या ये अधिकार भारत में व्यक्तियों का उपलब्ध होंगे? भारतीय न्यायालयों द्वारा यह अभिनिर्धारित किया गया है कि सन्धियाँ न्यायालयों पर तब तक बाध्यकारी नहीं होगी जब तक उनका व्यवस्थापिका द्वारा कार्यान्वयन न कर दिया जाये।

भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व ही उपर्युक्त दृष्टिकोण प्रचलन में था। **बीरमा बनाम राजस्थान राज्य ए.आई.आर. 1251 राज. 127 तथा शिवकुमार शर्मा एवं अन्य बनाम भारत संघ ए.आई.आर 1968 दिल्ली 64** के मामलों में क्रमशः राजस्थान उच्च न्यायालय एवं दिल्ली उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि वे संन्धियाँ जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का भाग होती है देश की विधि का भाग तब तक नहीं होती जब तक विधायी प्राधिकार विधायन द्वारा अभिव्यक्त रूप से उनका समर्थन न कर दिया। **जॉली जार्च वर्गीस बनाम बैंक ऑफ कोचीन ए.आई.आर. 1980 एस. सी. 470** प्रतिवादी की ओर से केएम अय्यर और वीजे फ्रांसिस। कोर्ट का फैसला कृष्णा अय्यर ने सुनाया। जे.–इस मुकदमेबाजी ने हमसे विशेष अनुमति प्राप्त की है क्योंकि इसमें संवैधानिक और अंतर्राष्ट्रीय कानून का एक गहरा मुद्दा शामिल है और यह भारत में मानवाधिकारों के उभरते समर्थकों के लिए एक चुनौती पेश करता है, जिनके

राजनीतिक पूर्वाग्रह ने नागरिक देनदार को त्याग दिया है, जिनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में है। न्यायिक प्रक्रिया द्वारा ही, एस को धन्यवाद। 51 (परन्तु) और ओ. 21, आर. 37, सिविल प्रक्रिया संहिता. यहां फैसले–देनदारों–अपीलकर्ताओं द्वारा एक अपील है–जिनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में है क्योंकि सिविल जेल में गिरफ्तारी और हिरासत के लिए एक अदालत का वारंट उन्हें बैंक के कारण राशि का भुगतान न करने के लिए पीछा कर रहा है–प्रतिवादी, जिसने एक डिक्री में बदल गया और अभी तक उन्मोचित नहीं किया गया है। क्या इस तरह स्वतंत्रता से वंचित करना अवैध है? **मेनका गॉधी बनाम भारत संघ ए.आई'आर. 1978 एस.सी. 597** जो वाद में उच्चतम न्यायलय के न्यायाधीश भगती ने अपने निर्णय में कहा कि अनुच्छेद 21 में प्रयुक्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता शब्द की परिधि बहुत व्यापक है और इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के ऐसे अधिकार भी सम्मिलित है जिनसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सृजन होता है तथा इनमें से कुछ पृथक् मूल अधिकारों की प्रास्थिति दी गयी है।

निम्नलिखित कुछ ऐसे अधिकार है जो संविल एवं राजनीजिक प्रसंविदा के अन्तर्विष्ट किये गये है जो भारतीय संविधान में नागरिकों को विनिर्दिष्ट के रूप में उल्लेखित किये जाने के उपरान्त भी उपलब्ध है–

(1) एकान्तता का अधिकार (Rights to Privacy)– सिविल एवं राजनीतिक अधिकार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनुच्छेद 17 (1) के अन्तर्गत एकान्तता के अधिकार का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार, किसी भी व्यक्ति की एकान्तता, परिवार गृह या पत्राचार के साथ मनमाना हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा तथा न ही उसकी प्रतिष्ठा या सम्मान पर विधि विरूद्ध आक्रमण या हमला किया जायेगा। अनुच्छेद 17(2) में यह उपबन्धित किया गया है कि प्रत्येक को ऐसे हस्तक्षेप या आक्रमणों के विरूद्ध विधि के संरक्षण का अधिकार है। परन्तु भारतीय संविधान इस अधिकार की गारण्टी नहीं दी गयी है। फिर भी **उच्चतम न्यायालय खड़क सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्यों ए.आई. आर 1963 एस.सी. 1295** के वाद में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि एकान्तता का अधिकार अनुच्छेद–21 में सम्मिलित है। **महाराष्ट्र राज्य बनाम मधुकर नारायण मार्डिकर्स ए.आई.आर. 1991 एस.सी. 207** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि यहाँ तक कि एक साधारण चरित्र (जैसे वेश्या) भी एकान्तता की हकदार है और कोई भी उसकी इच्छा के विरूद्ध उसकी एकान्तता में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। **पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ ए.आई.आर. 2004 एस.सी. 1442** फोन टैपिंग अनुच्छेद में समाहित एकान्तता के अधिकार का उल्लंघन है।

(2) विदेश यात्रा का अधिकार (Rights to Travel)– विदेश यात्रा करने का अधिकार सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनुच्छेद 12(2) में वर्णित है। इसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति अपने सहित कोई देश छोड़ने को स्वतन्त्र है। अनुच्छेद 12 (3) के अन्तर्गत इस अधिकार पर लगाये गये प्रतिबन्धों के अतिरिक्त कोई अन्य प्रतिबन्ध नहीं लगाया जायेगा।

मेनका गाँधी बनाम भारत संघ न्यायाधीश भगवती ने कहा कि विदेश जाने का अधिकार एक अत्याधिक मूल्यावान अधिकार है और दैहिक स्वतन्त्रता का एक हिस्सा है।

(3) शीघ्र विचारण का अधिकार (Rights to Speedy Trail)– शीध्र विचारण के अधिकार का वर्णन संविल एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनुच्छेद 9(2) में किया गया है। परन्तु उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया है कि शीघ्र विचारण का अधिकार अनुच्छेद के अन्तर्गत आता है।

हुसैन आरा खातून गृह सचिव, बिहार राज्यों 1980 शीघ्र परीक्षण संविधान 21 में दिये गये प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता के मूल अधिकार का एक अखण्ड आवश्यक भाग है।

(4) विधिक सहायता का अधिकार (Rights to Provide Legal Assistance)– सिविल एवं राजनीतिक अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनुच्छेद 14(3) (घ) के अन्तर्गत विधिक सहायता दिये जाने का प्रावधान किया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39 क के अन्तर्गत निःशुल्क विधिक सहायता को राज्य के नीति निदेशक तत्व के रूप में सम्मिलित किया गया है। **एम.एच. होसकोट बनाम महाराष्ट्र राज्य** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया गया है कि निःशुल्क विधिक सहायता दिये जाने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 में उपलक्षित है। **हुसैन आरा खातून (चतुर्थ) बनाम गृहमंत्री, बिहार राज्य 1979** के वाद में विधिक सहायता के अधिकार को सामान्यतः किसी अपराध के अभियुक्त के लिये अनुच्छेद 21 गारण्टी में निहित स्वीकार किया गया।

(5) कैदियों के साथ का व्यवहार किये जाने का अधिकार (Rights of Prisoners to be Treated with Humanity)– प्रायश्चित्त प्रणाली में कैदियों का उपचार शामिल होगा जिसका अनिवार्य उद्देश्य उनका सुधार और सामाजिक पुनर्वास होगा। किशोर अपराधियों को वयस्कों से अलग किया जाएगा और उन्हें उनकी उम्र और कानूनी स्थिति के अनुसार उचित उपचार दिया जाएगा।

(6) संविदात्मक दायित्व को पूरा करने में असमर्थ होने पर कारावासित न किये जाने का अधिकार (Right not to be imprisoned for being unable to fulfill a contractual obligation)– सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनुच्छेद 11 के अनुसार ''केवल संविदात्मक दायित्व को पूरा करने में असमर्थता के आधार पर कारावास से मुक्ति की गारंटी देता है।''

(7) प्रतिकर का अधिकार (Right to Compensation)– जो कोई भी गैरकानूनी गिरफ्तारी या हिरासत का शिकार हुआ है, उसे प्रतिकर का लागू करने योग्य अधिकार होगा। **श्रीमती नीलबती बहेड़ा बनाम उड़ीसा राज्य मौजूदा मामले** में, श्रीमती द्वारा एक पत्र भेजा गया था। नीलाबती बेहरा ने सुप्रीम कोर्ट में कहा कि उनके बाईस वर्षीय बेटे सुमन बेहरा की कई चोटों के कारण पुलिस हिरासत में मौत हो गई थी। माननीय न्यायालय ने स्वत:

संज्ञान लेते हुए इसे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 के तहत रिट याचिका में परिवर्तित कर दिया। याचिकाकर्ता ने अनुच्छेद 21 के तहत गारंटीकृत अपने बेटे के जीवन के मौलिक अधिकार के उल्लंघन के लिए मुआवजे का दावा किया। उड़ीसा पुलिस ने चोरी के अपराध की जांच के लिए सुमन बेहरा को गिरफ्तार किया था। इसने इस बात पर भी जोर दिया कि सामाजिक–आर्थिक रूप से वंचित व्यक्ति से निजी कानून के तहत सामान्य नागरिक कार्यवाही करने की अपेक्षा करना बेहद अन्यायपूर्ण होगा। और शीर्ष अदालत ने याचिकाकर्ता को 1,50,000 रुपये का प्रतिकर और 10,000 रुपये की राशि सुप्रीम कोर्ट कानूनी सहायता समिति को देने का आदेश दिया।

(7) सूचना का अधिकार (Right to Information)– अनुच्छेद 19(1)(ए) अनुच्छेद 19(1)(ए) के अनुसार सभी नागरिकों को भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार होगा। इसका तात्पर्य यह है कि सभी नागरिकों को अपने विचार और राय स्वतंत्र रूप से व्यक्त करने का अधिकार है। जहां तीसरे पक्ष की जानकारी का खुलासा करने के लिए धारा 11 के तहत, जैसा भी मामला हो, केंद्रीय लोक सूचना अधिकारी या राज्य लोक सूचना अधिकारी द्वारा दिए गए आदेश के खिलाफ अपील की जाती है, संबंधित तीसरे पक्ष द्वारा अपील तीस दिनों के भीतर की जाएगी। आदेश की तारीख से।

प्रश्न न0 9– राष्ट्रीय महिला आयोग के गठन, कार्यों एवं शक्तियों की विवेचना कीजिए। किस सीमा तक यह आयोग अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल रहा।

उत्तर– धारा 3, राष्ट्रीय महिला आयोग गठन– महिलाओं के लिए 'राष्ट्रीय कमीशन अधिनियम'–1990 को संसद द्वारा पारित किया गया। अधिनियम की धारा–3 के अन्तर्गत राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन ढंग से होगा।

अध्यक्ष– जो केन्द्रीय सरकार के द्वारा नामांकित जाएगी।

अन्य सदस्य– 'पाँच' अन्य सदस्य होंगे उन्हें केन्द्रीय सरकार नामांकित करेगी। इन पाँच सदस्यों में से कम–से कम एक सदस्य अनुसूचित–जाति और एक जनजाति का व्यक्ति होगा।

धारा–4, कार्यकाल– अधिनियम की धारा –4(1) के अन्तर्गत अध्यक्ष एवं सदस्यों का कार्यकाल वह होगा जिसे केन्द्रीय सरकार विनिर्दिष्ट करे किन्तु यह 'पाँच' सालों से अधिक नहीं होगा।

आयोग विशेष मामलों से निपटने के लिए समितियाँ नियुक्त कर सकते है (धारा–8)।

धारा–10, राष्ट्रीय महिला आयोग के कार्य एवं शक्तियाँ– राष्ट्रीय महिला आयोग के कार्य निम्नवत् होंगे–

(1) संविधान एवं अन्य विधियों में महिलाओं हेतु सुरक्षाओं से सम्बन्धित सभी मामलों की खोजबीन तथा जाँच करना;

(2) इन सुरक्षाओं के कामकाज की वार्षिक एवं अन्य रिपोर्ट, ऐसे समय में कमीशन उचित समझे, केन्द्रीय सरकार को प्रस्तुत करना;

(3) महिलाओं की दशाओं में सुधार करने के लिए इन रिपोर्ट में उक्त सुरक्षाओं के प्रभावी कार्यान्वयन हेतु संस्तुतियाँ देना;

(4) समय–समय पर महिलाओं को प्रभावित करने वाले संविधान तथा अन्य विधिक उपबन्धों का परीक्षण करना एवं विधायनी उपाय में कमी अथवा अनुपयुक्तता के विषय, संशोधन की संस्तुति देना;

(5) महिलाओं से सम्बन्धित एवं अन्य विधिक उपबन्धों के उल्लंघनों को उपर्युक्त प्राधिकरियों के समक्ष ले जाना या प्रस्तुत करना;

(6) स्वयं निम्नवत् शिकायतों को देखना;

(अ) महिलाओं के अधिकारों को वंचित किये जाना;

(ब) महिलाओं के संरक्षण हेतु बनाई गयी विधियों का कार्यान्वयन न होना एवं समानता तथा विकास के उद्देश्य की प्राप्ति;

(स) महिलाओं के कल्याण को सुनिश्चित करने के हेतु एवं महिलाओं को अनुतोष प्रदान करने के उद्देश्य से सम्बन्धित नीति निर्णय मार्गदर्शनों अथवा निर्देशों का अनुपालन न होना; एवं ऐसे मामलों को उपर्युक्त प्राधिकारियों के पास ले जाना।

(7) महिलाओं के साथ भेदभाव तथा अत्याचारों से उत्पन्न विनिर्दिष्ट समस्याओं अथवा स्थितियों के ऊपर विशेष अध्ययन अथवा खोजबीन करना, जिससे उनके हटाए जाने के लिए रणकौशल की संस्तुतियाँ दी जाए;

(8) प्रोन्नति तथा शिक्षा सम्बन्धी अनुसंधान करना, जिससे सम्पूर्ण क्षेत्रों में महिलाओं के उचित प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित किया जा सके एवं उनकी उन्नति में बाधा पहुँचाने वाले तथ्यों अथवा कारण को पहचाना जा सके;

(9) महिलाओं के सामाजिक–आर्थिक विकास की योजना प्रक्रिया में भाग लेना एवं सलाह देना;

(10) संघ एवं किसी राज्य की महिलाओं के विकास की प्रगति का मूल्यांकन करना;

(11) जेल तथा प्रतिप्रेषण गृह की जाँच करवाना अथवा करना, एवं महिलाओं की संस्था अथवा हिरासत के अन्य स्थान जहाँ महिलाएँ कैदी के रूप में अथवा अन्यथा रखी जाती है, की जाँच करवाना अथवा करना एवं उपचार की कार्यवाही करवाना एवं उपचार की कार्यवाही के लिए मामले को सम्बन्धित अधिकारियों के पास ले जाना;

(12) मुकदमेबाजी से सम्बन्धित मसलों, जिनसे संख्या में महिलायें प्रभावित होती है, उन्हें फंड करना;

(13) महिलाओं से सम्बन्धित किसी भी मामले में, विशेषकर महिलाओं की अनेक कठिनाइयों की आवधिक रिपोर्ट सरकार को सौंपना;

(14) कोई अन्य मामला, जो केन्द्रीय सरकार से निर्देशित करें। (धारा 10(10)।

कमीशन प्रत्येक वित्तीय वर्ष में, अपने कार्यकलापों की विस्तृत रिपोर्ट तैयार करेगी एवं उसकी एक प्रतिलिपि केन्द्रीय सरकार को भेजेगी (धारा–13)। केन्द्रीय सरकार कमीशन की वार्षिक रिपोर्ट तथा लेखा रिपोर्ट संसद के दोनों सदनों में रखवायेगी (धारा–14)। केन्द्रीय सरकार महिलाओं को प्रभावित करने वाली, सभी प्रमुख नितियों के सम्बन्ध में कमीशन से सलाह करेगी (धारा–16)।

राष्ट्रीय महिला आयोग महिलाओं के संरक्षण एवं उत्थान हेतु सदैव तत्पर रहा है एवं यह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में बहुत हद तक सफल भी रहा है। यह एक ऐसी इकाई है, जो शिकायतों अथवा स्वतः संज्ञान के आधार पर महिलाओं के संवैधानिक हितों और उनके विधिक सुरक्षा महिलाओं के संवैधानिक हितों और उनके लिए विधिक सुरक्षा उपायों को लागू कराती है।

<u>प्रश्न न0 10–</u> ''मानवाधिकारों के संरक्षण में भारत के उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।'' निर्णीत वादों की सहायता से व्याख्या कीजिए।

<u>उत्तर–</u> भारत में मानवधिकारों के संरक्षण के विषय में न्यायपालिका की अहम् भूमिका है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत उच्चतम् न्यायालय को मूल अधिकारों एवं मानवाधिकारों की सजग प्रहरी घोषित किया गया है। भारतीय संविधान पर मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषण का स्पष्ट प्रभाव झलकता है तथा इस बात की उच्चतम न्यायालय ने भी स्वीकार किया है। **केशवाननद भारती बनाम केरल राज्य ए.आई.आर. 1973 एस.सी. 1461** के वाद में संविधान के भाग–3 में वर्णित मौलिक अधिकारों के विषय में बोलते हुए न्यायमूर्ति सीकरी ने कहा था ''मैं यह धारित करने में असमर्थ हूँ कि यह अधिकार नैसर्गिक अथवा असंक्रमणीय नहीं है।''

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य ए.आई.आर. 1967 एस.सी. 1643 के वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि '' परम्परागत जिसे नैसर्गिक अधिकार कहते थे उसका आधुनिक नाम मौलिक अधिकार है।'' मानवाधिकारों को लागू करने के लिए व्यक्ति को बन्दी–प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा तथा उत्प्रेषण लेख द्वारा उच्चतम न्यायालय में सीधे जाने का अधिकार प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय ने मानवाधिकारों के विषय में अनेक ऐतिहासिक फैसले दिए हैं एवं इन अधिकारों को संरक्षण प्रदान किया है। **किशोर चन्द्र बनाम हिमाचल प्रदेश (1991), ए.सी.जे. 68 ,76** के वाद में उच्चतम न्यायालय ने मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के निर्वाचनात्क मूल्य को स्वीकार है।''

(क) अनुच्छेद–14 के सन्दर्भ में (In Respect of Article-14) अनुच्छेद–14 मुख्य रूप से समानता की बात का उल्लेख करता है एवं यह वर्गीकरण को निषेध करता है तथा युक्तियुक्त वर्गीकरण को मान्यता प्रदान करता था, परन्तु **ई.पी. रोयप्पा बनाम तमिलनाडु राज्य ए.आई.आर. 1974 एस.सी. 591** के वाद में उच्चतम न्यायालय ने इस पारम्परिक अवधारणा को अस्वीकार करते हुए 'मनमानेपन के विरूद्ध संरक्षण' को अपनाते हुए एक नए सिद्धान्त का प्रातिपादन किया, जिसके उपरान्त **मेनिका गाँधी बनाम भारत संघ ए.आई.आर. 1978 एस.सी. 507** के मामले में 'एक न्यायिक–सूत्र के रूप में स्वीकृत किया गया.।

(ख) अनुच्छेद–21 के सन्दर्भ में (In Respect of Article-21) भारतीय संविधान के अनुच्छेद–21 के अन्तर्गत ''प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता'' का संरक्षण इस प्रकार उपबन्ध किया गया है कि किसी व्यक्ति को उसके प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता से ''विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया'' के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं।

अनुच्छेद–21 का उद्देश्य कार्यपालिका द्वारा दैहिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप को रोकना है। कार्यपालिका विधि के अनुसार एवं विधि के उपबन्धों का पालन करके स्वयं यह स्वतन्त्रता छीन सकती है। यह विचार उच्चतम् न्यायालय द्वारा **ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य (1950) एस.सी. 88** के मामले में व्यक्त किया गया था। यद्यपि कि गोपालन के मामले को उच्चतम न्यायालय ने उलट नहीं दिया, तथापि उसको **मेनिका गाँधी बनाम भारत संघ ए.आई .आर. 1979 एस.सी. 597** के वाद में बदल दिया है एवं यह अभिनिर्धारित किया कि ''अनुच्छेद–21 के अधीन विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को 'सही न्योयोचित' और 'ऋृजु' होनो चाहिए।'' **फैसिस कोरालाई बनाम दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र ए. आई.आर. 1981 एस.सी. 746** के वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि ''कोई कार्य जो किसी व्यक्ति के किसी अंग के उपयोग अथवा कार्यक्षमता को बिगाड़ता अथवा आहत करता है अथवा उसके साथ हस्तक्षेप करता है या स्थायी अस्थायी रूप से भी अनुच्छेद–21 को निषेध के भीतर होगा।''

वर्तमान सन्दर्भ में अनुच्छेद–21 में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए विभिन्न निर्णयों के अनुसार व्यक्ति को मुख्यतः निम्नवत अधिकार प्राप्त हैं–

(1) जीविकोपार्जन का अधिकार (Right to Livelihood)– कुछ पूर्ववर्ती विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अनुच्छेद–21 की परिधि में प्राण के अधिकार के अन्तर्गत जीविकोपार्जन का अधिकार नहीं आता है। किन्तु वाद में उच्चतम न्यायालय ने **ओल्गा टेलिस बनाम मुम्बई नगर निगम ए.आई.आर. 1986 एस.सी. 180** में स्पष्ट रूप से अभिनिर्धारित किया है कि जीविकोपार्जन का अधिकार प्राण के अधिकार के अन्तर्गत आता है, ''क्योकि कोई व्यक्ति जीवित रहने के साधन के बगैर जीवित नहीं रह सकता है।'' अतः किसी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित ऋृजु और न्यायोजित प्रक्रिया के अनुसार ही जीविकोपार्जन के अधिकार से वंचित किया जा सकता है, अन्यथा यह अनुच्छेद–21 के प्रतिकूल होगा।

(2) मरने का अधिकार (Right to Die)– ग्यान कौर बनाम पंजाब राज्य (1996)2 एस.सी. 649 के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि 'जीवन के अधिकार' में मरने का अधिकार' सम्मिलित नहीं है अतएव भारतीय दण्ड संहिता की धारा–309 और धारा–306, संवैधानिक है तथा विधिमान्य है। जीवन के अन्तिम क्षण तक 'गरिमा से मरने'

कर तुलना जीवित की सामान्य अवधि को कम करके अप्राकृतिक रूप में अनुच्छेद के अन्तर्गत 'मरने के अधिकार से नहीं की जा सकती है।'

(3) चिकित्सा का अधिकार **(Right to Medical Aid)– परमानन्द कटारा बनाम भारत संघ ए.आई.आर. 1982 एस. सी. 2039** के वाद में यह अभिनिर्धारित किया गया कि ''राज्यकी अनुच्छेद–21 के अन्तर्गत यह बाध्यता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की रक्षा करे चाहे वह दोषी हो अथवा निर्दोष, प्रत्येक रोगी को तुरन्त चिकित्सा सहायता मिलनी चाहिए। इस बाध्यता के निर्वहन में यदि प्रक्रियात्मक विधियों से बाधा पड़ता है, तो उसकी अवहेलना की जानी चाहिए।

(4) शिक्षा पाने का अधिकार **(Right to Education)**– उच्चतम न्यायालय ने **उन्नीकृष्णन् बनाम आन्ध्र प्रदेश (1993)1 एस.सी.सी. 644** के वाद में अनुच्छेद 21 के अधीन प्राण के अधिकार में शिक्षा के मूल अधिकार को मान्यता दिया है। अनुच्छेद 41 और 45 से सहायता लेते हुए इसने यह अभिनिर्धारित किया है कि '' इस देश के प्रत्येक बालक/नागरिक को जब तक कि वह चौदह वर्ष की आयु पूरा नहीं कर लेता है निःशुल्क शिक्षा का अधिकार है। इसके बाद उसका शिक्षा का अधिकार राज्य आर्थिक क्षमता है और विकास की सीमाओं के अध्यधीन है।''

(5) एकान्तता का अधिकार **(Right to Privacy)– राजगोपाल बनाम तमिलनाडु राज्य (1994)6 एस.सी.सी. 632** के वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह सिद्धान्त अभिकथित किया है कि ''एकान्तता का अनुच्छेद–21 के अधीन एक मूल अधिकार है और कोई भी किसी व्यक्ति के निजी जीवन में विघ्न(बाँधा) नहीं डाल सकता है।''

महाराष्ट्र राज्य बनाम मधुकर नारायन ए.आई.आर. 1991 एस.सी. 207 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि '' एक चरित्रहीन महिला को भी एकान्तता का अधिकार प्राप्त है और उसमें कोई भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

(6) **लोक स्वास्थ्य एवं पर्यावरण का अधिकार**– मानव जीवन के लिए पर्यावरण प्रदूषण से मुक्त रहना अत्यन्त आवश्यक है, जो 'लोक स्वास्थ्य' के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। लोक स्वास्थ्य और पर्यावरण को अनुच्छेद–21 के अन्तर्गत मूल अधिकार माना गया है। उच्चतम न्यायालय ने देश की राजधानी दिल्ली में ऐसे सभी व्यापारिक वाहन ट्रक, बस, टैक्सी एवं ऑटोरिक्शा आदि, जो कि 15 साल अथवा उससे अधिक पुराने हो चुके है, को सड़कों पर चलाने से प्रतिबन्धित कर दिया। (**एम. सी. मेहता बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (1998)6 एस.सी.सी. 63।**

(7) शीघ्र परीक्षण का अधिकार **(Right of Speedy Trial)– हुसेनारा खातून बनाम बिहार राज्य ए.आई.आर. 1979 एस.कैपिटल 1369** के मामले में अभिनिर्धारित किया गया कि 'शीघ्र परीक्षण एवं निःशुल्क विधिक सहायता के अधिकार अनुच्छेद–21 द्वारा प्रदत्त 'दैहिक स्वतन्त्रता' मूल अधिकार का आवश्यक तत्व है।

(8) विदेश यात्रा का अधिकार **(Right to Travel Abroad)– सतबन्त सिंह बनाम असिस्टेंट पासपोर्ट अधिकारी न्यू दिल्ली ए.आई.आर. 1976 एस.सी. 1836** के वाद में उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है कि अनुच्छेद–21 में विदेश भ्रमण का अधिकार एक मूल अधिकार है। अनुच्छेद–21 में प्रयुक्त 'दैहिक स्वतन्त्रता' शब्दावली में संचरण अर्थात् इच्छानुसार कभी भी कहा जाने का अधिकार आता है, जिसके अन्तर्गत विदेश भ्रमण शामिल है।

(9) **अवैध गिरफ्तारी तथा पुलिस अभिरक्षा में मानवीय व्यवहार के विरूद्ध के संरक्षण– नीलावती बहेरा बनाम उड़िसा राज्य** ए.आई.आर. 1993 एस.सी. 1960 के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है '' पुलिस अभिरक्षा में गिरफ्तार व्यक्ति और जेल में कैदियों की रक्षा करना राज्य का दायित्व है तथा यदि पुलिस अभिरक्षा अथवा जेल में उसके मूल अधिकारों क राज्य अथवा उसके सेवक द्वारा उल्लंघन होता है, तो राज्य को ऐसे नागरिक को प्रतिकर देना होगा।''

(10) प्रतिकर पाने का अधिकार **(Right to Compensation)**– दोषमुक्त हो जाने के बाद बनदी को अवैध रूप से कारागार मे रखा जाता है। तो उसे प्रतिकर पाने का अधिकार है। **रून्दल शाह बनाम बिहार राज्य (1983)4 एस. सी.14** के मामले में याची को विचारण के दौरान मुक्त किए जाने पर भी कारागार में उसके पश्चात् 14 वर्ष से अधिक समय तक विरूद्व रखा गया। उसने उच्चतम न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण की याचिका दायर करते हुए अपनी रिहाई का ही दावा नहीं किया बल्कि अवैध निरोध के लिए राज्य प्रतिकर पाने का भी दावा किया। उच्चतम नयायालय द्वारा बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिका के साथ–साथ प्रतिकर का भी दावा स्वीकार कर लिया और बिहार राज्य को 35,000 रूपये प्रतिकर के रूप में देने का निर्देश दिया गया। **भीम सिंह बनाम जम्मू कश्मीर राज्य ए.आई.आर. 1986 एस.सी. 494** के मामले में याची का दुर्भाव से विधान सभा के सत्र में उसे भाग लेने से रोकने के लिए बन्दी बना लिया गया था। याची को अनुच्छेद–21 के अधीन 'दैहिक स्वतन्त्रता' से वंचित किए जाने के कारण 50,000 रूपये की रकम प्रतिकर के रूप में दिए जाने का आदेश दिया गया।

B.A.LL.B.-2nd Sem. Paper-VI Law of Contract-II

प्रश्न न0 1– क्षतिपूर्ति की संविदा को परिभाषित कीजिए एवं इसे स्पष्ट कीजिए। क्षतिपूर्ति संविदा को आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए। ''सभी बीमा संविदा में क्षतिपूर्ति की संविदा होती है। जीवन बीमा संविदा को छोड़कर।'' इसकी विवेचना कीजिए।

उत्तर– परिभाषा– चिट्ठी (Chitty)[1] के अनुसार शब्द ''क्षतिपूर्ति'' (indemnity) का प्रयोग कई भिन्न–भिन्न अर्थों में होता है। विस्तृत अर्थों में, इससे तात्पर्य किसी हानि या उत्तरदायित्व किसी करार के परिणामस्वरूप हुआ अथवा नहीं।

अंग्रेजी विधि में शब्द 'क्षतिपूर्ति' में उन प्रतिज्ञाओं का भी समावेश होता है। जो प्रतिज्ञाग्रहीता (promisee) को किन्हीं घटनाओं अथवा दुर्घटनाओं से हानिरहित रखने के लिए की जाती है तथा जो किसी व्यक्ति के आचरण पर आधारित हो सकती है अथवा नहीं हो सकती है।[2] अंग्रेजी विधि में, क्षतिपूर्ति करने की प्रतिज्ञा व्यक्त (express) अथवा (implied) हो सकती है। इस सम्बन्ध में डगडेल बनाम लोवरिंग (Dugdale v. Lovering)[3] का वाद उल्लेखनीय है। इस वाद में कुछ ट्रकें वादी के कब्जें में थीं। प्रतिवादी तथा एक कम्पनी उनको अपना कहते थे। प्रतिवादी की ट्रकों को माँगने पर, वादी ने उससे एक क्षतिपूर्ति बांड माँगा, परन्तु उसका कोई उत्तर नही मिला। उत्तर न मिलने पर भी उन्होने प्रतिवादी को उक्त ट्रक दे दिये : तत्पश्चात् उक्त कम्पनी (K.P. Co.) ने वादी के विरूद्ध दावा किया। न्यायालय ने वादी के विरूद्ध निर्णय दिया। न्यायालय ने कहा कि वादी उत्तरदायी थे, क्योंकि क्षतिपूर्ति बांड माँगने के परिणामस्वरूप, एक विवक्षित प्रतिज्ञा का जन्म हो गया था।

इसी प्रकार का निर्णय शेफील्ड कारपोरेशन बनाम बर्कले (Sheffield Corpn. V Barclay)[4] के वाद में भी दिया गया।

भारतीय विधि– भारतीय संविदा अधिनियम की धारा 124 में क्षतिपूर्ति की संविदा की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है–

'' कोई संविदा, जिसके द्वारा एक पक्षकार दूसरे पक्षकार को स्वयं प्रतिज्ञाकर्ता के आचरण से या किसी अन्य व्यक्ति के आचरण से हुई हानि के उस दूसरे पक्षकार को बचाने की प्रतिज्ञा करता है, क्षतिपूर्ति की संविदा कहलाती है।'' उदाहरण के लिए, क किन्हीं ऐसी कार्यवाहियों के, जो 200 रूपये की किसी राशि के सम्बन्ध में ग, ख के खिलाफ चलाये परिणामों के लिए ख को क्षतिपूर्ति करने की संविदा करता है। यह क्षतिपूर्ति की संविदा है।

धारा 124 की परिधि (scope) अंग्रेजी विधि की क्षतिपूर्ति की धारणा से संकीर्ण है।[6] अंग्रेजी विधि में हानि की प्रकृति किसी व्यक्ति के आचरण तक सीमित नहीं है। उसमें वह घटनाओं तथा दुर्घटनायें भी शामिल होती हैं। जो किसी पक्षकार के आचरण पर निर्भर नहीं करती हैं। भारत में यह किसी व्यक्ति के आचारण तक ही सीमित होता है। परन्तु धारा 124 निःशेष (exhaustive) नहीं तथा सामान्यतया न्यायालय वही सिद्धान्त लागू करते है जो इंग्लैण्ड के न्यायालय निर्णय करते है।[7]

जहाँ किसी बीमा पालिसी में किश्तें तीन वर्षों तक अदा की गई तथा पालिसी कम धन के लिये भुगतान की गई पालिसी की तरह विद्यमान है, उस पर कोई ब्याज देय नहीं था। उच्चतम न्यायालय ने धारित किया कि किसी अधिनियम या नियम या संविदा सम्बन्धी कोई नियम ऐसी पालिसी पर ब्याज दिये जाने के सम्बन्ध में उपबन्ध नहीं करता हैं। चूंकि उक्त पालिसी पर ब्याज देय नहीं होता है, जिला उपभोक्ता फोरम, प्रदेश उपभोक्ता कमीशन तथा राष्ट्रीय उपभोक्ता कमीशन द्वारा ब्याज प्रदान किये जाने का ओदश त्रुटिपूर्ण होगा।[8]

यहाँ पर नोट करना आवश्यक है कि संविदा अधिनियम की धारा 124 समुद्री बीमें की संविदाओं में लागू नहीं होती है क्योंकि समुद्री बीमें की संविदा में क्षति संविदा के अन्तर्गत ही आती है तथा ऐसी क्षति बीमा कम्पनी या किसी अन्य व्यक्ति के आचरण के कारण नहीं होती है।[9]
वचनबद्ध है।

क्षतिपूर्ति संविदा के आवश्यक तत्व (Essential elements of a contract of indemnity)–क्षतिपूर्ति संविदा के निम्नलिखित तीन आवश्यक तत्व होते हैं–

1. प्रतिज्ञाग्रहीता को आवश्यक रूप से हानि हुई हो (Loss to the Promissess Essential)–धारा 124 के शब्दों से स्पष्ट है कि प्रतिज्ञाग्रहीता को क्षतिपूर्ति संविदा के अन्तर्गत नुकसान हुआ हो। नुकसान का होना किया आकस्मिकता (Contingency) की घटना के होने पर निर्भर करता है जिसके होने पर क्षतिपूर्तिरक्षक का दायित्व उत्पन्न होता है कमीशन ऐजेन्ट की हैसियत से कार्य करेगा। श्बश ने ऐसे सव्यवहारों से उत्पन्न होने वाली हानि से श्अश की हानिपूर्ति का वचन दिया अ, स और द के प्रति 1,000 रुपए तक दायी हो गया। यद्यपि वास्तव में अ ने स और द को अभी तक कोई रकम अदा नहीं की फिर भी अने ब के खिलाफ हानिपूर्ति का वाद दायर किया। अ इन आधारों पर ब से रकम वसूल नहीं कर सकता था।

2. हानिपूर्ति संविदा का प्रतिफल और उद्देश्य वैधानिक होना चाहिए (Consideration and Object of Contract of Indeminty must be Law full)– इसके अलावा यह भी स्मरणीय है कि हानिपूर्ति संविदा का प्रतिफल और उद्देश्य वैधानिक होना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी अपलेख के लेखक द्वारा प्रकाशक और प्रिन्टर्स की हानिपूर्ति का संविदा अवैधानिक होने के कारण लागू नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार एक अभियुक्त और जमानती द्वारा यह करार कि अभियुक्त जमानती को होने वाली हानि की पूर्ति करेगा, लागू नहीं किया जायेगा।

3. हानिपूर्ति संविदा स्पष्ट या उपलक्षित हो सकती है (Contract of Indemnity may be Express of Implied) – यद्यपि **धारा 124** केवल स्पष्ट हानिपूर्ति संविदा के मामलों में ही लागू होती है। परन्तु कभी–कभी ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं जहाँ एक व्यक्ति को दूसरे की हानि की पूर्ति उपलक्षित रूप से करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए धारा **69** के अन्तर्गत कानून की प्रक्रिया द्वारा एक व्यक्ति दूसरे की हानिपूर्ति करने के लिए बाध्य होता है जबकि ऐसा करने का पक्ष में कोई स्पष्ट संविदा भी नहीं होता। **धारा 69** के अन्तर्गत जब एक व्यक्ति दूसरे की ओर बिना उसकी सहमति के उस रकम को जमा करता है जो उसके द्वारा कानूनी तौर पर किसी अन्य को देय थी और जिसके भुगतान करने में वह स्वयं हितबद्ध या तो ऐसी अवस्था में वह इस भुगतान की गई रकम को उस व्यक्ति से वसूल कर सकता है जिसके द्वारा वह कानूनी तौर पर देय थी। जैसे जहाँ किसी संविदा की शर्तों के अनुसार मकान मालिक को बिजली व पानी के बिल का भुगतान करता है परन्तु वह ऐसा नहीं करता तो, ऐसी अवस्था में यदि किरायेदार उस बिल का भुगतान कर देता है तो वह मकान मालिक से बिल की रकम वसूल सकता है।

धारा 124 का विस्तार (Scope of Section 124)– **धारा 124** में परिभाषित हानिपूर्ति की परिभाषा अंग्रेजी विधि की परिभाषा से कम विस्तृत है। **धारा 124** किसी ऐसे नुकसान की पूर्ति तक ही सीमित है जो स्वयं प्रतिज्ञाकर्ता के आचरण या किसी अन्य व्यक्ति के आचरण से हुई हो। यह ऐसी हानि को शामिल नहीं करती जो केवल प्राकृतिक घटनाओं के कारण हुई हो जैसे अग्नि द्वारा दुर्घटना आदि। परन्तु अंग्रेजी विधि में या कोई भी हानि हो सकती है भले ही मानव आचरण से हुई या प्राकृतिक कारण से हुई हो। यही कारण है कि बीमे की सुविधायें जो अंग्रेजी विधि में हानिपूर्ति संविदा के आम उदाहरण हैं भारतीय विधि में शामिल नहीं है। भारतीय विधि में हानिपूर्ति संविदा केवल उन्हीं संविदा की रक्षा का वचन दिया जाता है जो स्वयं वचनदाता के आचरण।

चिट्टी के अनुसार, शब्द 'क्षतिपूर्ति' का प्रयोग भिन्न–भिन्न अर्थों में किया गया है विस्तृत अर्थों में इसका तात्पर्य किसी हानि या उत्तरदायित्व की पूर्ति से होता है, जो एक व्यक्ति से हुआ है, चाहे उक्त–उत्तरदायित्व किसी करार के फलस्वरूप है या अंग्रेजी विधि भारतीय विधि या से अधिक व्यापक है। इसमें उन प्रतिज्ञाओं को भी शामिल किया गया है जो किन्हीं घटनाओं से हुई हानि या दुर्घटनाओं से बचाने के लिए की जाती हैं। ये घटनायें चाहे किसी व्यक्ति के आचरण द्वारा हो या नहीं भारतीय संविदा अधिनियम की **धारा 124** निःशेष (Exhaustive) नहीं है तथा सामान्यतया न्यायालय का सिद्धान्त लागू करते हैं जो इंग्लैण्ड के न्यायालय करते हैं।

क्षतिपूर्तिधारी के अधिकार या क्षतिपूर्तिकर्ता के उत्तरदायित्व (Rights of Indemnity holder or Liability of Indemmnifier)– धारा 125 के अनुसार–

क्षतिपूर्ति की संविदा का प्रतिज्ञाग्रहीता अपने अधिकार की परिधि के भीतर कार्य करता हुआ प्रतिज्ञाकर्ता से निम्नलिखित प्राप्त करने की अधिकारी है–

(1) वे सब नुकसान–धन, जिनकी देनगी के लिए वह किसी ऐसी बात के बारे में, जिसे कि क्षतिपूर्ति करने की प्रतिज्ञा लागू है, किसी वाद में मजबूर किया जाये।

(2) वे सब खर्जे जिनको देने के लिए वह ऐसे किसी वाद से मजबूर किया जाए यदि उसे चलाने या उसका प्रत्युत्तर देने से उसने प्रतिज्ञाकर्ता के आदेशों का उल्लंघन नहीं किया है और वैसा ही कार्य किया जैसा कि

कार्य करना क्षतिपूर्ति की किसी भी संविदा के अभाव में उसके लिए प्रज्ञापूर्ण होता यदि प्रतिज्ञाकर्ता ने उसे वाद चलाने या उसमें प्रतिरक्षा करने के लिए प्राधिकृत किया।

(3) वे सब राशियाँ, जो उसने किसी ऐसे वाद में के किसी समझौते के निबन्धनों के अधीन दी हों, यदि वह समझौता प्रतिज्ञाकर्ता के आदेशों के प्रतिकूल नहीं था और वैसा जैसा करना कि क्षतिपूर्ति की किसी संविदा के अभाव में प्रतिज्ञाग्रहीता के लिए प्रज्ञापूर्ण होता, या यदि प्रतिज्ञाकर्ता ने उसे वाद का समझौता करने के लिए प्राधिकृत किया है, प्रत्युद्धरित करने का अधिकारी है।

सुजीर गनेश नायक एण्ड कं0 क्यूलान बनाम नेशनल इन्श्योरेन्स कं0 लि0 (Sujir Ganesh Nayak & Co. v National Insurance Co. Ltd., Calcutta)[10] के वाद में अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी से दो बीमा पॉलिसी ली। इन पॉलिसियों में प्रावधान था कि यदि दंगा तथा हड़ताल (roit and strike) के कारण अपीलार्थी को क्षति पहुँची तो प्रत्यर्थी उसकी क्षतिपूर्ति करेगा। जनवरी तथा फरवरी 1977 में अपीलार्थी की फैक्टरियों में कच्चा माल काजू (raw cashewnuts) न होने के कारण कोई काम न था अतः फैक्टरियाँ बंद रहीं, अतः इस अवधि के लिये कर्मकारों को वेतन नही दिया गया। इससे कर्मकारों में रोष हुआ था तथा उन्होने हड़ताल कर दी। इसके कारण फैक्टरियों में जो काजू उस समय उपलब्ध था। नष्ट हो गया। इस प्रकार हड़ताल से अपीलार्थी को क्षति पहुँची। केरल उच्च न्यायालय की खण्ड पीठ ने निर्णय दिया कि पॉलिसी में दंगा तथा हड़ताल का समर्थन होने के कारण प्रत्यर्थी कं0 क्षतिपूर्ति करने को बाध्य है।[11]

जहाँ बैंक ने वचन दिया था कि वह प्रतिवादी को बैंक गारण्टी देगा। तत्पश्चात् वादी ने अभिवचन कि प्रतिवादी ने वादी द्वारा निर्मित मशीनों का प्रतिदान लेने से इन्कार किया यद्यपि उसने उनकी जाँच करके उनका अनुमोदन कर दिया, तथा कपटपूर्ण ढंग से बैंक गारण्टी आवाहन किया, विचाराधीन प्रश्न यह था कि क्या प्रतिवादी को बैंक गारण्टी अभिनिश्चित करने से रोका जा सकता था। दिल्ली उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि प्रतिवादी को बैंक गारण्टी को अभिनिश्चित करने से रोका जा सकता। न्यायालय ने कहा वादी का अभिवचन यह नहीं था कि प्रतिवादी ने वादी को कपटपूर्ण रूप से मनाया कि वह बैंक गारण्टी दे। न्यायालय ने कहा कि उसके मतानुसार, वादी द्वारा केरल उक्त अभिवचन प्रतिवादी को बैंक गारण्टी का आवाहन करने से नहीं रोक सकता है। वादी का अभिकथित अभिवचन कि प्रतिवादी मशीनों का परिदान लेने से अस्वीकार कर दिया इस प्रकृति का नहीं है कि इसे कपट कहा जाय। न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि बैंक गारण्टी को एक स्वतंत्र संविदा माना जायगा जो पक्षकारों के मध्य मुख्य संविदा से स्वतंत्र है।[12]

दायित्व का प्रारम्भ (Commencement of Liability)– क्षतिपूर्तिकर्ता के उत्तरदायित्व के प्रारम्भ होने के समय के विषय में उच्च न्यायालयों में आपस में मतभेद है। कलकत्ता, मद्रास, इलाहाबाद तथा पटना के उच्च न्यायालयों के मतानुसार बिना वास्तविक हानि के होने की प्रतीक्षा किये या उसके उन्मोचन करने से पूर्व क्षतिपूतिकर्ता को क्षतिपूर्तिधारी द्वारा क्षतिपूर्ति करने के बाध्य किया जा सकता है। परन्तु लाहौर, नागपुर तथा बम्बई उच्च न्यायालय के मतानुसार वास्तविक हानि होने के पूर्व क्षतिपूतिकर्ता को क्षतिपूर्ति करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। कलकत्ता, मद्रास तथा इलाहाबाद न्यायालयों का मत अधिक उक्ति मालूम पड़ता है तथा यह अंग्रेजी विधि से भी संगत है। गजानन मोरेश्वर बनाम मोरेश्वर मदन (Gajanan Moreshwar v. Moreshwar Madan)[13] में बम्बई उच्च न्यायालय के न्यायाधीश छागला (Chagla, J.) ने भी समर्थन किया है। न्यायमूर्ति छागला (Chagla, J.) के शब्दों "Section 124 and 125, Contract Act are not exhaustive of the law of indemnity and that the court here would apply the same equitable principles that the liability is England do. Therefore, it the indemnified had incurred a liability is absolute he is entitled to call upon the indemnifier to save him from liability and pay it off."[14] न्यायाधीश छागला के इस मत का समर्थन विधि कमीशन ने भी किया है।[15]

<u>प्रश्न न0 2</u>– प्रत्याभूति संविदा को परिभाषित कीजिए। प्रतिभू कौन होता है ? उन परिस्थितियों की विवेचना कीजिए। जिनमें एक प्रतिभू अपने दायित्वों से उन्मोचित हो जाता है।

<u>उत्तर</u>– धारा 126 के अनुसार ''प्रत्याभूति की संविदा किसी अन्य व्यक्ति की चूक की अवस्था में उसकी प्रतिज्ञा का पालन या दायित्व का निर्वहन करने की संविदा है।'' प्रत्याभूति लिखित अथवा मौखिक हो सकती है। वह व्यक्ति जो प्रत्याभूति देता है, ''प्रतिभू'' (Surety) कहलाता है। वह व्यक्ति जिसकी चूक के लिए प्रत्याभूति दी जाती है, ''मूलऋणी'' (Principal debtor) वह व्यक्ति जिसको प्रत्याभूति दी जाती है, ''ऋणदाता (creditor) कहलाता है। धारा 126 में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्याभूति की संविदा के तीन पक्षकार होते हैं–मूलऋणी, प्रतिभू तथा ऋणदाता। ऐसी संविदा के लिए उनका व्यक्त रूप से भाग लेना अथवा विवक्षित सम्मति उस व्यक्ति द्वारा सिद्ध किया जाना आवश्यक है जो इस पर निर्भर करता है या भरोसा करता है।

बैंक गारन्टी का पालन– बैंक गारंटी का प्रवर्तन एक नियम है तथा इसके अपवाद केवल कपट या असुधार्य या अपूर्य (irretrievable) न्याय है तथा न्यायालय गारंटी के पालन में हस्ताक्षेप करना पंसद नहीं करते हैं। उच्चतम न्यायालय ने स्वेन्सका हैन्डेल्सबैन्कन बनाम मेसर्स इण्डियन चार्ज क्रोमे (**Svenska Handelsbanken v. M/s Indian Charge Chrome**) के वाद अपने निर्णय में अपने निर्णय में कहा है कि बैंक गारन्टी से सम्बन्धित विधि में जो पक्षकार बैंक गारन्टी के नकदीकरण के विरूद्ध व्यावेश प्राप्त करना चाहता है उसे प्रथमदृश्ट्या यह दर्शित करना आवश्यक है कि कपट हुआ है तथा अपूर्य क्षति हुई है। जहाँ बैंक द्वारा 26,15,000 रूपये तक भुगतान करने की गारंटी का निबन्धन यह है कि बैंक अपीलार्थी द्वारा लिखित माँग पर या बिना माँग पर अपीलार्थी के धन माँगने पर बिना शर्त देने को बाध्य है तथा गारंटी के दूसरे निबन्धन द्वारा यह भी स्पष्ट है कि अकेला अपीलार्थी यह तय करेगा कि विक्रेता ने उल्लंघन किया है या नहीं, अपीलार्थी की धन की माँग को न्यायालयों या मध्यस्थ के समक्ष विवाद प्रस्तुत करने के आधार पर निलम्बित नहीं किया जा सकता है।

प्रतिभू के लाभान्वित ऋणी होने का दूसरा कारण यह है कि यदि वह मूल ऋणी का दायित्व अदाकर देता है तो उसे कुछ अधिकार प्राप्त जाते है।

प्रतिभू का दायित्व से उन्मोचन (Discharge of Surety from Liablity)– प्रतिभू अपने दायित्व से निम्नलिखित ढंगों से उन्मोचन पा सकता है–

(1) प्रतिसंहरण सूचना द्वारा (By notice of Revocation)– धारा 130 के अनुसार– जब प्रतिभू ने लेनदार यह सूचित कर दिया है कि अपना दायित्व प्रतिसंहरित (Revoke) कर रहा है।

(Case)– **आफोर्ड बनाम डेवीज (offord v. Davies)**–

उदाहरणार्थ– परन्तु मृत्यु यदि क, ख को 10,000 रूपये तक की यह प्रतिभूति देता है कि ग उन सब विनिमय–पत्रों की देनगी करेगा जो कि ख को उसके नाम खिलेगा। ग उस विपत्र को प्रतिग्रहीत करता है। क प्रतिसंहरण की सूचना देता है। ग उस विनिमय पत्र को उसकी परिक्वता पर अनादृत कर देता है। क अपनी प्रत्याभूति के लिए जिम्मेदार है।

(2) चिरगामी प्रत्याभूति की प्रतिभू का मृत्यु द्वारा प्रतिसंहरण (Revocation of continuing Guarantee by Surety's Death)– धारा 131 के अनुसार– ''प्रतिभू की मृत्यु चिरगामी प्रत्याभूति को, प्रतिकूल के अभाव में वहां तक जहां तक कि उसका भविष्य के संव्यवहारों से सम्बन्ध है, प्रतिसंहरित कर देती है।''

(Case)– दुर्गा प्रिया बनाम दुर्गा पद्य, ए0आई0आर0 1923 कलकत्ता 204,206– प्रतिभू की मृत्यु से चिरगामी प्रत्याभूति का प्रतिसंहरण हो जाता है। परन्तु यह केवल भविष्य के संव्यवहारों के सम्बन्ध में ही होता है। परन्तु यदि कोई प्रतिकूल संविदा है तो प्रतिभू अपने दायित्व उन्मुक्त नही होगा।

(3) फेरफार या भिन्नता (Variance)– धारा 133 के अनुसार– ''संविदा के निबन्धनों में मूल ऋणी और ऋणीदाता के बीच प्रतिभू की सम्पति के बिना किया गया कोई फेरफार उस फेरफार के पश्चात्वर्ती संव्यवहारों के बारे में प्रतिभू का उन्मोचन कर देता है।''

उदाहरणार्थ– ग, ख को पहली मार्च 1,000 रूपये उधार देने की संविदा करता है। क उस ऋण के प्रति संदाप की प्रत्याभूति देता है। ग,ख की 1,000 रूपये पहली जनवरी को संविदा में फेरबदल हो गया है।

(4) मूल ऋणी के सम्मोचन या उन्मोचन द्वारा (By Release or Discharge or Principal Debtor)– धारा 134 के अनुसार– ''प्रतिभू ऋणदाता और मूल ऋणी के बीच किसी संविदा से जिससे कि मूल ऋणी सम्मोचित हो जाता है या ऋणदाता के किसी कार्य या कार्य–लोप से जिसका वैध परिणाम मूल ऋणी का उन्मोचन है, उन्मुक्त हो जाता है।''

उदाहरणार्थ– क,ख से यह संविदा करता है कि निर्धारित समय और नियत कीमत पर उसके लिए घर बनाएगा। जिसके लिए लकड़ी की आपूर्ति ख द्वारा की जायेगी। ग, क का प्रतिभू बनता है। ख लकड़ी की आपूर्ति नहीं करता। ग प्रतिभू के दायित्व से उन्मोचित हो गया।

(5) प्रशमन, समय बढ़ाने तथा वाद न चलाने के करार द्वारा (By Composition, Extension of time and Agreement not to sue)– धारा 135 के अनुसार– प्रतिभू अपने दायित्व से निम्नलिखित परिस्थितियों में भी उन्मुक्त हो सकता है–

(क) यदि ऋणदाता तथा ऋण प्रशमन की संविदा करते है (ख) मूल ऋण को अधिक समय देने की प्रतिज्ञा (ग) मूल ऋणी के विरूद्ध दावा करने की प्रतिज्ञा

प्रशमन द्वारा– यदि ऋणदाता तथा मूल ऋणी प्रशमन की संविदा प्रतिभू की सम्मति के बिना करते है, तो प्रतिभू अपने दायित्व से उन्मुक्त हो जाता है।

समय बढ़ाने की प्रतिज्ञा (Promise to Extend Time)– धारा 135 के अनुसार, यदि संविदा द्वारा ऋणदाता मूल ऋणी के ऋण आदयगी के लिए और समय प्रदान करता है तथा उसके लिए प्रतिभू की सम्मति प्राप्त नही करता है, तो प्रतिभू अपने दायित्व से उन्मुक्त हो जाता है। परन्तु यदि और समय देने की संविदा मूल ऋणी से न होकर किसी अन्य या तीसरे व्यक्ति से होती है तो प्रतिभू अपने दायित्व से उन्मुक्त नहीं होता है।

उदाहरणार्थ– क ऐसे वीतकालीन विनिमयपत्र का संधारक है, जिसे ख के प्रतिभू के रूप में क ने लिखा है और जो ख द्वारा प्रतिग्रहीत है। ग, ख को समय देने की ड से संविदा करता है। क का उन्मोचन नही होता है।

दावा न करने की प्रतिज्ञा करना (Promise not to Sue)– प्रतिभू की सम्मति के बिना ऋणदाता मूल ऋणी से संविदा द्वारा दावा न करने की प्रतिज्ञा करता है, तो प्रतिभू का उन्मोचन हो जाता है।

उदाहरणार्थ– ब, स का ऋणी है। ऋणी की अ ने गारंटी की। ऋण देय हो जाता है। ऋण देय होने के एक वर्ष तक स ब पर वाद नही लाता है। धारा 137 के अर्थों में अ अपने दायित्व से उन्मुक्त नही होगा।

(6) ऋणदाता के ऐसे कार्य या कार्य–लोप से जिससे कि प्रतिभू के अन्तिम उधार का हास होता है, प्रतिभू का उन्मोचन (Discharge of Surety by Creditor's Act or Omission impairing Surety's Eventual Remedy)– धारा 139 के अनुसार–जब ऋणदाता के कार्य या लोप द्वारा प्रतिभू उपचार को नकुसान हुआ है।

(7) धारा 141 के अनुसार जब लेनदार ने प्रतिभू खो दी हो।

(8) धारा 142–143 के अनुसार जब मुख्य ऋणी द्वारा कोई महत्वपूर्ण अर्थात् छिपाया गया हो या उसके द्वारा मिथ्याव्यपदेशन किया गया हो।

<u>प्रश्न न0 3–</u> उपनिधााता एवं उपनिहिती प्रत्ययों की परिभाषा दीजिए। उपनिधाता एवं उपनिहिती के कर्तव्यों एवं अधिकारों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

<u>उत्तर–</u> निक्षेप वास्तव में सामान्य विधि का परिभाषिक शब्द है जो फ्रेंच भाषा भाषा की बेलर धातु से बना है जिसका अर्थ होता देना या सौंपना। इस प्रकार निक्षेपण की क्रिया में संविदा है। जिसमें एक व्यक्ति चल सम्पत्ति को दूसरा व्यक्ति उस वस्तु को उद्देश्य पूर्ति के बाद वापस कर देगा।

उदाहरणार्थ– अ अपना कोट ब को उदेश्य से देता है कि ब अ का कोट बनाकर अ को दे दे तो उपनिधान कहलाता है। यहाँ अ उपनिधाता तथा ब उपनिहिती कहलाता हैं।

परिभाषा – 148 के अनुसार–''उपनिधान एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को किसी प्रयोजन के लिये इस संविदा पर वस्तुओं का परिदान करना है कि जब प्रयोजन पूरा जाये, वे लौटा दी जायेगी या परिदान करने वाले व्यक्ति के निर्देशों के अनुसार अन्य व्यक्ति को दे दी जायेगी।''

निक्षेपग्रहीता के कर्त्तव्य एवं दायित्व (Duties and Liabilities of Baliee)– भारतीय संविदा विधि की विभिन्न धाराओं के अन्तर्गत निपक्षग्रहीता के कर्त्तव्स और दायित्व निक्षिप्ति माल के सम्बन्ध में निम्न प्रकार हैं–

(1) माल की देखभाल करना (to take care of goods)– धारा 151 के अनुसार उपनिहिती का यह कर्त्तव्य है कि उसे अपने पास निक्षिप्त वस्तु की उतनी ही देखभाल करनी चाहिये जितनी कि एक सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति वैसी ही परिस्थितियों में किसी मात्रा, किस्म और कीमत की जैसी निक्षिप्त वस्तुयें हैं अपनी वस्तुओं को करता। मार्टिन बनाम लन्दन काउन्सिल, 1947 K.B. 618 वादिनी एक बीमार महिला सशुल्क अस्तपाल में भरती हुई। भारती के समय अस्तपाल के अधिकारियों ने उसके दो सोने के जेवर एक सुनहरा सिगरेट केस अपने कब्जे में लेकर दवाइयों वाले कमरे में बन्द कर दिये (किसी व्यक्ति ने ताला तोड़कर जेवर चुरा लिये। निर्णय हुआ कि अस्पताल उत्तरदायी है क्योंकि अधिकारियों ने माल के मूल्य को देखते हुए आवश्यक सावधानी नहीं बरती।

(2) वस्तु का अनाधिकृत प्रयोग न करना (Not to make unauthorized use of goods)– धारा 154 के अनुसार, निक्षेपग्रहीता का कर्तव्य है कि वह निक्षिप्त माल को निक्षेप की शर्तों के अनुसार ही प्रयोग करे। यदि वह कोई अनाधिकृत प्रयोग करता है तो उससे होने वाली सभी हानियों उसका पूर्ण दायित्व होगा भले ही हानि होने में उसकी को गलती न रही हो। **उदाहरणार्थ**– अ अपना घोड़ा ब को सवारी के लिये देता है। ब उस पर सवारी न करके उसे घोड़ा गाड़ी में जोतता है। इस अवस्था में अ को अधिकार है कि वह निक्षेप को समाप्त करके ब से अपना घोड़ा वापस ले ले।

(3) वस्तओु का मिश्रण न करना (Not to mix the goods)– धारा 155 के अनुसार, उपनिहिती का कर्त्तव्य है कि वह उपनिहित माल को अपनी निजी माल के साथ न मिलाये। यदि वह उसे अपने माल के साथ मिला लेता है तो उसके दायित्व का निर्धारण निम्नप्रकार होगा–

(अ) यदि निक्षेपग्रहीता निक्षेपकर्ता की सहमति से उसके माल को अपने माल के साथ मिलाकर रखता है तो ऐसे मिश्रण में निक्षेक्षग्रहीता और निक्षेपकर्ता अपने–अपने हिस्से तक माल को प्राप्त कर सकते हैं।

(ब) धारा 156 के अनुसार, यदि निक्षेपकर्ता की सहमति के बिना ही अपने माल के साथ निक्षिप्त माल को मिला लेता है और इस प्रकार मिलाया गया माल अलग किये जाने योग्य है तो दोनों ही पक्ष अपने–अपने माल के अधिकारी होगे किन्तु माल को अलग करने में जो खर्चा होगा उसे निक्षेपग्रहीता को सहन करना होगा।

(स) धारा 157 के अनुसार, यदि निक्षेपग्रहीता निक्षेपकर्ता के माल को अपने माल के साथ उसकी सहमति लिये बिना ही मिलाता है और माल को अलग नहीं किया जा सकता तो निक्षेपग्रहीता को सम्पूर्ण माल की क्षतिपूर्ति करनी होगी। **उदाहरणार्थ–** के 20 रूपये प्रति किलो वाले आटे को ब अपने 2 रूपए प्रति किलो वाले आटे के साथ देता है। आटा अलग किये जाने योग्य नहीं है। ब पूरे आटे की हानि के लिये अ के उत्तरदायी है।

(4) माल वापस देना (To Return the goods)– धारा 160 के अनुसार, निक्षेप का उद्देश्य पूरा हो जाये या अवधि बीत जाये तो निक्षेपी का कर्तव्य है, कि बिना माँग के निक्षेपक को माल वापिस कर दे। यदि वह माल नहीं लौटता तो वह को अपने ही जोखिम पर रखेगा। भले ही इस प्रकार जोखिम होने में उसकी असावधानी न रही हो।

(5) वृद्धि वापस करना (To Return of the increase of goods)– धारा 161 के अनुसार, यदि निरपेक्षक की माल निक्षेप की अवधि में बढ़ गया हो तो निक्षेपक की बढ़ोत्तरी माल के साथ वापस करनी होगी।

उदाहरणार्थ– अ अपनी गाय को देख–रेख के लिये कुछ समय के लिये ब के पास छोड़ देता है। इसी दौरान गाय की बछिया होती है। ब निश्चित समय पर बीतने पर अ को गाय के साथ बछिया भी लौटाने के लिये बाध्य है।

(6) निक्षेपक के अधिकार की अवहेलना न करना (Not to sispute with the title of bailor)– धारा 166 के अनुसार, जब निक्षेपक अपना माल वापस माँग तो निक्षेपग्रहीता यह कहकर कि माल किसी अन्य व्यक्ति का है लौटाने से इन्कार नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो निक्षेपक के मुकाबले के माल का स्वामी दिखाई दे तो निक्षेपी को चाहिये कि वह माल निक्षेपक को ही वापस कर क्योंकि वास्तविक स्वामी के प्रति उसका कोई दायित्व नही है।

निक्षेपकर्ता के अधिकार (Right of Bailor)–निक्षेपकर्ता के अधिकार और दायित्व निम्नलिखित हैं–

(1) निक्षेप को समाप्त करने का अधिकार (Right to Terminate the Bailmant)– धारा 153 के अनुसार यदि उपनिहिती उपनिहित की गई वस्तुओं के सम्बन्ध में ऐसा कोई कार्य करता है जो संविदा की शर्तों के विपरीत हो तो निक्षेपकर्ता को यह अधिकार होगा कि वह उपनिधान की संविदा को समाप्त कर दे।

उदाहरणार्थ– क,ख को एक घोड़ा उसकी अपनी सवारी के लिए किराये पर देता है। ख उस घोड़े की अपनी गाड़ी में जोतता है और चलाता है। क के विकल्प पर यह निक्षेप का अन्त है।

(2) क्षतिपूर्ति पाने का अधिकार (Right to Receive Compensation)– धारा 154 के अनुसार यदि उपनिहिती उपनिहित वस्तुओं का ऐसा कोई उपयोग किये जाने से या ऐसे उपयोग करता है। जो उपयोग की शर्तों के अनुकूल नहीं है, तो वह उसके ऐसा उपयोग किये जाने से या ऐसे उपयोग के दौरान में उन वस्तुओं को होने वाले किसी नुकसान के लिए उपनिधाता के प्रतिकार देने के लिए दायित्वाधीन है।

उदाहरणार्थ– क एक घोड़ा उसकी अपनी सवारी के लिए उधार देता हैं ख अपने परिवार के एक सदस्य ग को उस घोड़े पर सवार होने देता है। ग सावधानी से सवारी करता है, किन्तु घटनावंश, घोड़ा गिर पड़ता है और क्षति हो जाती है। ख घोड़े को हुई क्षति के लिए क को प्रतिकर देने के लिए दायित्वाधीन है।

(3) माल को वापस पाने का अधिकार (Right to Restoriation of)– धारा 160 के अनुसार एक उपनिधाता को यह अधिकार है कि उपनिहित है कि उपनिहित को ज्योंही वह समय जिसके लिये वे उपनिहित थी, खत्म हो जायों वह या जिसके लिए उपनिहित थी, पूरा हो जाये, बिना माँग के वापस प्राप्त करें। **इशुफल्ली बनाम इब्राहिम AIR 1971** में यह कहा गया है कि ''भाड़े का उपनिहिती आमतौर से भाड़े की अवधि की समाप्ति पर भाड़े की वस्तु लौटने के लिए बाध्य होता है। लेकिन जब कोई वस्तु भाड़े पर दी जाती है तो उसके साथ एक उपलक्षित आश्वासन रहता है कि वह उस उद्देश्य के लिये इस्तेमाल के काबिल है और इस अध्याभूति के भंग की सूरत में अर्थात् इस्तेमाल के काबिल न होने की सूरत में भाड़ा देने का उत्तरदायित्व नहीं रहता है। ऐसी हालत में उपनिहिती जहाँ वह वस्तु है वहीं उसे छोड़ सकता है

और उपनिधाता को नोटिस दे सकता है कि अध्याभूति के भंग के कारण वह उस वस्तु को उपनिधाता को वापस करने के लिये बाध्य नहीं है।

(4) उपनिधाता उपनिहित वस्तुओं में हुई वृद्धि या उससे हुए लाभ पाने का अधिकारी है। (Bailor Entiltled to incease of Profit from Goods Bailed)– धारा 163 के अनुसार विपरीत संविदा के आभाव में उपनिधाता, उपनिधान की अवधि में उपनिहित वस्तु में हुई वृद्धि या लाभ प्राप्त करने का हकदार है।

उदाहरणार्थ– क एक गाय को देख–रेख किये जाने के लिये ख की अभिरक्षा में छोड़ता है। गाय के बछिया पैदा होती है। ख उस बछिया और गाय को भी क को परिदान करने के लिये बाध्य है।

(5) माल के मिश्रण पर क्षतिपूर्ति पाने पर अधिकार (Right to Get Compensation on the mixing of the Goods)– धारा 156 के अनुसार, यदि उपनिहिती उपनिधाता की सहमति के बिना उपनिधाता की वस्तुओं में मिला लेता है, और वस्तुयें पृथक् या विभावित की जा सकती हैं तो वस्तुओं का स्वस्प क्रमशः–पक्षकारों पर रहता है। किन्तु उपनिहिती पृथक्करण या विभाजन के खर्च और मिश्रण से पैदा होने वाले नुकसान को सहन करने के लिए बाध्य होगा। परन्तु यदि उपनिहिती उपनिधाता की सम्मति के बिना उपनिधाता की वस्तुओं को अपने वस्तुओं में ऐसी रीति में मिश्रित करता है। कि उपनिहित वस्तुओं को अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है और उन्हें आपस में परिदत्त करना असम्भव है तो उपनिधाता उन वस्तुओं का हानि के लिए उपनिहिती से प्रतिकार पाने का अधिकारी है।

उदाहरणार्थ– क एक विशिष्ट से चिन्हित रूई की 100 गाँठे ख को उपनिहित करता है, ख, क की सहमति के बिना उन 100 गाँठों को एक अलग चिन्ह धारण करने वाली अपनी अन्य गाँठों में मिश्रित करता है, क को हक है कि वह अपनी 100 गाँवों को लौटवाने और गाँठों के पृथक्करण में हुए सारे व्यय और अन्य आनुषंगिक नुकसान सहन करने के लिए ख को बाध्य करे।

उपनिधाता के दायित्व (Liabilities of a Bailor)–उपनिधाता के दायित्व निम्नलिखित हैं–

(1) उपनिहित माल के दोषों का प्रकट करना (To Disclose the Faults of Goods Bailed)– धारा 150 के अनुसार, उपनिधाता का प्रमुख कर्त्तव्य है कि उसे उपनिहित हुए माल के जो दोष मालूम हो और जो उनके उपयोग में वस्तुतः अड़चन पैदा करने हों उन दोषों को उपनिहिती को बताना चाहिए या उपनिहिती को असाधारण जोखिमों से अवगत करा देना चाहिए और वह ऐसा प्रकटीकरण नहीं करता तो उन दोषों से प्रत्यक्षतः जो क्षति उपनिहिती को पहुँचती है उसका दायित्व उपनिधाता पर होता है। यदि वस्तुये किराये के लिए उपनिहित की गई है, तो उपनिधाता ऐसे नुकसान के लिए उत्तरदायी है, भले ही ऐसे उपनिहित वस्तुओं में की ऐसी त्रुटियों के अस्तित्व का ज्ञान रहा हो।

उदाहरणार्थ– क,ख को किराये पर साइकिल देता है। क और ख को यह मालूम नही है कि साइकिल का ब्रेक खराब है। ख साइकिल इस्तेमाल करता है तथा ब्रेक खराब होने के कारण गिर जाता है और उसे चोट लग जाती है। क,ख की क्षतिपूर्ति करने के लिए बाध्य है यद्यपि साइकिल किराये पर देते समय उसको इस बात का ज्ञान नहीं था कि साइकिल के ब्रेक खराब हैं।

(2) आवश्यक या असाधारण खर्चों के भुगतान का दायित्व (Liabilties for Fannayment of Neccesary Expenses)– धारा 158 के अनुसार, जब उपनिधान की शर्तों के अनुसार माल रखे जाते या वहन किये जाते है, या उन पर उपनिहिती द्वारा उपनिहिता के लिए काम किया जाता है और उपनिहिती को कोई पारिश्रमिक नही मिलता उपनिधाता उपनिहिती को उसके द्वारा संरक्षण रखने का खर्च तथा यदि उन पर सीधा खर्चा करवाया गया है तो उसका खर्च भुगतान करने के लिए बाध्य होगा।

(3) उपनिहितों के प्रति उपनिधाता का उत्तरदायित्व (Bailor's Responsibility)– धारा 164 के अनुसार, उपनिधाता की ऐसी किसी हानि के लिए है जो उपनिहिती इस कारण उठाये कि उपवनिधाता उपनिधान करने या वस्तुओं कराने या उनमें निदेश देने का हकदार नहीं था अर्थात् उपनिधाता उपनिहिती की हानि को पूरा करने के लिए उत्तरदायी रहेगा जिसे उन वस्तुओं को में का हक उसे नहीं था।

अपेक्षाहीता के अधिकार (Right of Bailee))– एक उपनिहिती को अधिकार प्राप्त होते है–

(1) उपनिहिती का लियन या धारणाधिकार (Bailee's Right or Lien)– लियन या धारणाधिकार उस अधिकार को कहते है जिसके अन्तर्गत उपनिहिती को अधिकार होता है कि वह उपनिहित वस्तुओं को सुधारने के लिये की गयी सेवाओं के लिए देय धन प्राप्ति तक उपनिहित वस्तुओं अपने कब्जे में रखा सकता है। धारणाधिकार दो प्रकार के होते हैं।

(क) विशेष धारणाधिकर (Particular Lien)– धारा 170 के अनुसार, यह वह अधिकार जिसके उपनिहिती उन वस्तुओं को, जिनके प्रति उसने अपने श्रम या कौशल द्वारा सेवाएँ प्रदान की है, अपने कब्जे में तब तक

रखने का अधिकारी है जब तक कि उसे सेवाओं का प्रतिकर नहीं मिल जाता है। वह केवल उन्हीं वस्तुओं को अपने कब्जे में रख सकता है जिनके प्रति उसने अपने श्रम तथा कौशल से सेवाएँ की है।

उदाहरणार्थ– क एक जौहरी ख को खुदरा हीरा काटे और निखारे जाने के लिए देता है। तनदुसार वैसा कर दिया जाता है। ख उस हीरे को तब तक धारण करने का हकदार है जब कि उसे उन सेवाओं के लिए जो उसने की है, देनगी नहीं कर दी जाती।

(ख) सामान्य धारणाधिकर (General Lien)– धारा 171 के अनुसार, सामान्य धारणाधिकार साहूकारों, आढ़तियों, घाट वालों उच्च न्यायालय के प्राभिकर्त्ताओं तथा बीमा दलालों को प्राप्त है। उन्हें यह अधिकार दिया गया है कि वे उस वस्तु का तब तक धारण करते है रहें जब तक कि उनके संविदाओं की संतुष्टि वस्तु के स्वामी द्वारा न कर दी जाये।

(2) दोषकर्त्ताओं के विरूद्ध वाद करने का अधिकार (Right to Sue Against Wrong doer)– धारा 180 के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति उपनिहिती को उपनिहित वस्तुओं पर कब्जे के उपभोग से दोषपूर्ण तरीके से वंचित करता है या उन्हें कोई क्षति पहुँचाता है तो उपनिहिती को ऐसे उपचारों का उपभोग करने का अधिकार है जैसे कि निक्षेपन होने की अवस्था में स्वामी, यदि उपनिधान नहीं किया गया होता, तो उपयोग में ला सकता और ऐसी बचत या क्षति के लिए व्यक्ति के विरूद्ध या तो उपनिधाता या उपनिहिती वाद चला सकेगा।

धारा 181 के अनुसार ऐसे किसी वाद में अनुतोष या प्रतिकर के रूप में जो भी प्राप्त किया जाता है उसे जहाँ तक कि उपनिधाता और उपनिहिती के बीच में सम्बन्ध है उनके मागत हितों के अनुसार बरता जायेगा।

<u>प्रश्न न0 4–</u> गिरवी को परिभाषित कीजिए। तथा इसके आवश्यक तत्वों की व्याख्या की कीजिए। गिरवी कौन रख सकता है? बताइए।

<u>उत्तर–</u> गिरवी की परिभाषा भारतीय संविदा अधिनियम की धारा 172 में दी गई है। इसके अनुसार किसी ऋण की देनगी के लिए या किसी प्रतिज्ञा के पालन के लिए प्रतिभूति के रूप में वस्तुओं का उपनिधान गिरवी कहलाता है। इस अवस्था में उपनिधाता आढ़कर्ता कहलाता है। उपनिहिती आढ़ग्रहीता कहलाता है। वास्तव में गिरवी धारणाधिकार तथा बन्धक के बीच की एक प्रत्याभूति है जिसमें संविदा द्वारा वस्तुओं का उपनिधान ऋण की प्रत्याभूति के लिए किया जाता है और जहाँ तक ऋण को सुरक्षित करने के लिए आवश्यक है वहाँ तक सम्पत्ति का अधिकार गिरवी रखने वाले व्यक्ति में निहित हो जाता है है। अतः जब व्यक्ति ऋण लेता है तो ऋण लेने वाला व्यक्ति उस ऋण की सुरक्षा के लिए अपनी कुछ वस्तु जैसे जेवरात इत्यादि ऋण देने वाले के पास प्रतिभूति के रूप में रख देता है तो कहा जाता है कि उसने आमुक ऋण के बदल अमुक वस्तु को गिरवी रख दिया है। जब ऋण चुकता हो जाता है वह वस्तु भी ऋणग्रहीता को वापसमिल जाती है। इस संव्यवहार को गिरवी का संव्यवहार कहा जाता है।

उदाहरणार्थ– क, ख से 10,000 रूपया ऋण लेता है और इसके बदले में जमानत के रूप में अपनी मोटर साइकिल ख के पास रख देता है तो यह कहा जायेगा कि क ने अपनी मोटर साइकिल गिरवी रख दी है।

गिरवी के आवश्यक तत्व (Essentails of Pledges)– गिरवी के निम्नलिखित चार आवश्यक तत्व हैं–

(1) गिरवी सम्पत्ति के कब्ज का परिदान, वास्तविक या आन्वयिक होना चाहिए (There must be Delivery of Possession, Actual or Constructive of the Property Pledged)– गिरवी का पहला आवश्यक तत्व गिरवी सम्पत्ति के कब्जे का परिदान वास्तविक या आन्वयिक हो सकता है।

उदाहरणार्थ– रीब्ज बनाम कैपर (1939) में जहाज के कप्तान ने अपने क्रोनोमीटर को कप्तान के पास गिरवी रख दिया। यात्रा के उद्देश्य से क्रोनोमीटर को कप्तान के पास ही रहने दिया गया। बाद में कप्तान ने एक अन्य व्यक्ति के पास इसे फिर गिरवी रख दिया। न्यायालय ने निर्णय दिया कि पहली गिरवी वैध थी तथा इसमें आन्वयिक प्रतिदान था।

इसी प्रकार चित्तौर बैंक बनाम नरसिमबालू **AIR** 1966 में बैंक ने आड़कर्ता के पास गिरवी सम्पत्ति (सिनेमा प्रोजेक्टर आदि) रहने दी जिसे उसने एक अन्य व्यक्ति के हाथ बेच दी। न्यायालय ने निर्णय दिया कि पहली गिरवी वैध थी तथा इसमें आन्वयिक परिदान था।

कभी–कभी ऐसा भी सकता है परिदान गिरवी से पहले ही कर दिया जाये। **उदाहरणार्थ– ब्लैन्डेल ली बनाम अटेनबारों, 1921** में वादी ने अपने जेवरात एक व्यक्ति एम को उसके मूल्यांकन तथा यह जानने के लिये दिये कि वह उस पर कितना धन अग्रिम दे सकता था। वह व्यक्ति अग्रिम धन देने पर जेवरात प्रतिभूति के रूप में अपने रख सकता था। वह व्यक्ति अग्रिम धन देने पर जेवरात प्रतिभूति के रूप में अपने रख सकता था। एम0 के मध्य वैध गिरवी नहीं थी। परन्तु कोर्ट ऑफ अपील के इस निर्णय को उलट दिया

तथा निर्णय दिया कि यद्यति मूल परिदान एक आनुग्रहिक उननिधान था, यह वैध गिरवी में उस समय परिणत हो गया जब कि एम0 ने उसके लिए धन दे दिया।

दस्तावेजों के परिदान से भी वैध गिरवी हो सकती है। सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय **मौरवी मर्केन्टाइल बैंक बनाम भारतीय संघ AIR 1965 SC** 1954 मे दिया। इसमें एक बैंक ने तीन रेलवे–रसीदों पर, जो बैंक के नाम पृष्ठांकित की गयी थी, 20,000 रूपये दिये वस्तुयें जिनका मूल्य 35,000 रूपये था, रेलवे द्वारा खो गयी। बैंक ने वस्तुओं की हानि के लिए रेलवे के विरूद्ध वाद पेश किया। बहुमत से उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि बैंक पूरा धन पाने का अधिकारी है, यद्यपि उसने गिरवी में वस्तुओं के लिए कम धन दिया था।

(2) वस्तुओं का परिदान ऋण के लिए किया जाना चाहिये (The Delivery of goods must be made for security of Debt)– वस्तुओं का परिदान ऋण प्राप्त करने या किसी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये किया जाना चाहिये न कि किसी अन्य उद्देश्य के लिए।

(3) आड़ग्रहीता का विशेष हित होना चाहिये (There must be Special Interest of the Pawnee)– गिरवी सम्पत्ति में आड़ग्रहीता का विशेष हित होना चाहिये। सम्पत्ति आड़कर्ता की ही रहती और ऋण लौटाने के बाद उसे पुनः प्राप्त हो जाती है।

(4) ऋण के भुगतान न होने तक गिरवी सम्पत्ति रखने का अधिकार (Right to Retain the Pledged property till the payement of Debt)– जब कि ऋण का भुगतान नहीं होता है, आड़ग्रहीता आड़कर्ता की सम्पत्ति को अपने पास रख सकता है।

वाणिज्यिक अभिकर्ता द्वारा गिरवी (Pledge by Mercantile Agent)– धारा 178 के अनुसार जहाँ कि कोई वाणिज्यिक अभिकर्ता, स्वामी की सम्मत्ति से वस्तुओं पर या वस्तुओं के हक दस्तावेजों पर कब्जा रखता है, वहाँ अपने वाणिज्यिक अभिकर्ता के कारबार के मामूली अनुक्रम में कार्य करते हुये उसके द्वारा की गई गिरवी ऐसे मान्य होगी मानो कि वस्तुओं के स्वामी द्वारा वह वैसा करने के लिये अभिव्यक्तरूपेण अधिकृत हो, परन्तु यह तब जब कि आड़ग्रहीता सद्भावानापूर्वक कार्य करता है। और गिरवी के समय उसने यह अवेक्षित नहीं किया है कि आड़कर्ता को गिरवी रखने का अधिकार नहीं है।

सामान्य नियम है कि केवल वस्तुओं का स्वामी या उसका अधिकृत एजेण्ट वस्तुओं को गिरवी रख सकता है। वाणिज्यिक अभिकर्ता द्वारा गिरवी इस सामान्य नियम का अपवाद है।

धारा 178 के लागू होने के लिये निम्नलिखित तत्व हैं–

(1) आड़कर्ता एक वाणिज्यिक अभिकर्ता होना चाहिये। (2) वस्तुएं या विलेख वाणिज्यिक अभिकर्ता के कब्जे में होने चाहिए।

(3) यह कब्जा स्वामी की सम्मति से होना चाहिये। (4) गिरवी रखते हुये, ऐसे वाणिज्यिक अभिकर्ता को साधारण व्यवसाय के दौरान कार्य करना चाहिए। (5) आड़ग्रहीता को सद्भाव में कार्य करना चाहिये तथा उसे यह सूचना नहीं होनी चाहिये कि आड़कर्ता को गिरवी रखने का अधिकार नहीं है।

शून्यकरणीय संविदा के अधीन कब्जा रखने वाले व्यक्ति द्वारा गिरवी रखना (Pledge by person in possession under Voidable Contract)– धारा 178 के अनुसार जबकि आडऋकर्ता ने अपने द्वारा गिरवी रखी वस्तुओं का कब्जा, धारा 19 या 19–क के अधीन शून्यकरणीय संविदा के अधीन अभिप्राय किया है, किन्तु संविदा गिरवी के समय विखंडित नहीं की गयी है तो आड़ग्रहीता उन वस्तुओं के प्रति उचित हक अर्जित कर लेता है, परन्तु यह तब जब कि वह सद्भावनापूर्वक और आड़कर्ता की त्रुटि की सूचना बिना कार्य करता है।

धारा 178–क के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं–

(1) आड़कर्ता ने धारा 19 या 19–क के अधीन शून्यकरणीय संविदा के अन्तर्गत कब्जा अभिप्राप्त किया है। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी वाद फिलिप्स बनाम ब्रुक्स लि0 **(Philips v Brooks Ltd.)** का उल्लेख वांछनीय होगा। इस वाद में एक जेवरात की दूकान पर गया तथा उसने कपटपूर्वक व्यपदेशन करते हुए कहा कि वह सर जी0बी0 है और अंगूठी लेकर चेक द्वारा भुगतान किया। तत्पश्चात् उसने उस अंगूठी को प्रतिवादी के पास गिरवी रखा। प्रतिवादी ने सद्भाव तथा आड़कर्ता के हक की त्रुटि की सूचना बिना अंगूठी गिरवी रखी थी। न्यायालय ने निर्णय दिया कि यद्यपि गिरवी एक ऐसे व्यक्ति ने रखी थी उसे शून्यकरणीय संविदा के अधीन प्राप्त किया था, फिर भी गिरवी वैध थी। धारा 178–क में सिद्धान्त को अपनाया गया है।

(2) ऐसे शून्यीकरण संविदा विखंडित नही की गई है।

(3) बशर्ते कि आड़ग्रहीता सद्भावनापूर्वक और आड़कर्ता के हक के त्रुटि की सूचना के बिना कार्य करता है।

आड़कर्ता का सीमित या मर्यादित हित (**Limited interest of the Pawner**)– जहाँ कि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तुओं को गिरवी रखता है, जिनमें कि वह केवल सीमिति हित रखता है, वहाँ गिरवी उस हित की सीमा तक ही मान्य होती है।

<u>प्रश्न न0 5–</u> अभिकरण सम्बन्ध के सृजन के विभिन्न तरीके क्या है? समझाइए। अनुसमर्थन द्वारा अभिकरण के सृजन से सम्बधित विधि की विवेचना कीजिए।

<u>उत्तर–</u> अभिकरण (Agency)– ऐनसन के अनुसार "यद्यपि सामान्य नियम यह है कि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से संविदा करके उस अन्य व्यक्ति को न तो अधिकार दे सकता है और न उस पर कोई दायित्व लाद सकता है परन्तु नियोजित किये जाने पर वह इस उद्देश्य से उस नियोजित व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कर सकता है कि वह तीसरे पक्षकार से उसके विधिक सम्बन्ध स्थापित करे। इस उद्देश्य के लिये किये गये नियोजन को 'एजेन्सी' कहते हैं।"

पोलक एवं मुल्ला के अनुसार, विधि में एजेन्सी के अर्थ होते हैं कि एक व्यक्ति में मालिक या स्वामी की स्थिति वाले व्यक्ति तथा तीसरे पक्षकारों के मध्य विधिक सम्बन्ध उत्पन्न करने का प्राधिकार या क्षमता। एजेन्सी का परीक्षण यह है कि क्या व्यक्ति मालिक के एवज में संव्यवहार करने में तात्पर्यित है अथवा नहीं।

अभिकरण के आवश्यक तत्व (Essentails of Agency)– अभिकरण आवश्यक तत्व अग्रलिखित हैं–

(1) कोई भी व्यक्ति अभिकर्ता हो सकता है (Any person may be a agent)– धारा 148 के अनुसार जहाँ तक स्वामी और तृतीय पक्ष के बीच का प्रश्न वहाँ कोई भी व्यक्ति अभिकर्ता हो सकता है। अतः एक नाबलिक को भी अभिकर्ता नियुक्त किया जा सकता है। किन्तु एक नाबलिक को भी नियुक्त किया जा सकता है। किन्तु एक नाबालिक स्वयं के लिये अभिकर्ता नियुक्त नहीं कर सकता है। क्योंकि नाबालिक द्वारा की गई नियुक्त शून्य होती है।

(2) स्वामी अभिकर्ता नियुक्त करने के लिये सक्षम होना चाहिए (Princiopal must be comptent to appoint agent)– धारा 183 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति स्वयं पर लागू विधि के अनुसार, बालिग और स्वस्थ मस्तिष्क का है तो वह अभिकर्ता नियुक्त कर सकता है। अतः पागल व नाबालिग व्यक्ति अभिकर्ता नियुक्त करने की सामर्थ्य नहीं रखते है।

(3) अभिकरण संविदा के प्रतिफल आवश्यक नहीं होता (Consideration is not necessary for the contract of Agency)– यद्यपि संविदा का प्रतिफल अभिकर्ता को वेतन या कमीशन के रूप में दिया जाता है। तथापि धारा 185 के अनुसार, अभिकरण संविदा के लिये प्रतिफल होना आवश्यक नही है।

अभिकरण की उत्पत्ति (Creation of Agency)– अभिकरण को उत्पत्ति निम्नलिखित तरीकों से की जा सकती है–

(1) प्रत्यक्ष नियुक्ति से (By direct appointment)– अभिकरण की स्थापना या उत्पत्ति का सबसे सामान्य ढंग यह है कि मालिक अभिकर्ता को संविदा करने का स्पष्ट प्राधिकार देता है। जब प्राधिकार संविदा लिखित शब्दों में दिया जाता है तब उसे प्रत्यक्ष नियुक्ति द्वारा प्राधिकार (Authority by direct appointment) कहते हैं। जैसे– राम, मोहन को लिखित करके अपना अभिकर्ता नियुक्त करता है!

(2) विवक्षित रूप से (By implication)– जब मामले की परिस्थितियों से या व्यवहार के सामान्य क्रम से अभिकरण का अनुमान किया जाता है तब उसे विवक्षित अभिकरण कहते हैं।– (धारा 186)

उदाहरण– 'क', जो स्वयं कलकत्ते में रहता है, श्रीरामपुर की एक दुकान का स्वामी है और यहाँ की दुकान पर वह कभी–कभी जाता है। दुकान का प्रबन्ध 'ख' द्वारा किया जाता है और वह दुकान के प्रयोजनों के लिए 'क' के नाम से 'ग' से वस्तुएँ आदिष्ट करने और 'क' की जानकारी से 'क' के कोष में उसके लिए देनगी करने का अभ्यस्त है। 'ख' दुकान के प्रयोजनों के लिए 'क' के नाम पर 'ग' से वस्तुएँ आदिष्ट करने का 'क' से विवक्षित करने का प्राधिकार रखता है।

कमिश्रर कम सेक्रेटरी पशुपालन विभाग बनाम श्रीमति के.रिनजिंग मे में सिक्किम उच्च न्यायालय द्वारा भारतीय संविदा अधिनियम की धारा 186 के सम्बन्ध में अपने निर्णय में कहा कि–

धारा 186 के अनुसार, एजेन्सी की स्थापना वास्तविक, अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से की जा सकती है। अतः जहाँ नियुक्ति पत्र में यह लिखित है कि नियुक्ति सरकार के अनुमोदन से की गई है, वादी को नियुक्ति के प्राधिकार हेतु और साक्ष्य देने की आवश्यकता नहीं है।

जिस व्यक्ति को अटर्नी या मुख्तार की सामान्य शक्ति दी गई है उसे मालिक की वर्तमान सम्पत्ति तथा शक्ति दी जाने के पश्चात् अर्जित की जाने वाली सम्पत्ति दोनों को बेचने का अधिकार है, अतरू संविदा का इस प्रकार रद्द किया जाना कि धारक को प्राधिकार नहीं है उचित नहीं है।

इस सम्बन्ध में चेयरमैन लाइफ इन्श्योरेन्स कॉरपोरेशन बनाम राजीव कुमार भास्कर में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय का उल्लेख करना वांछनीय होगा। इस वाद में मुख्य प्रश्न यह था कि नियोजक (Employer) जीवन बीमा निगम की वेतन वचत योजना के अन्तर्गत क्या जीवन बीमा निगम का एजेन्ट होगा। प्रश्न यह था कि नियोजक की चूक पर जीवन बीमा निगम का क्या दायित्व होगा? नियोजक ने यह जिम्मेदारी पूर्णरूप से स्वीकार की थी कि वह अपने कर्मचारियों से बीमा किश्त लेकर या जमा करके चेक द्वारा जीवन बीमा निगम को देंगे। योजना के अन्तर्गत प्रत्येक कर्मचारी को नोटिस भेजना आवश्यक नहीं था तथा उन्हें कोई रसीद भी दी जानी आवश्यक नहीं थी, नियोजक को कर्मचारियों के अभियोजन के समाप्त होने की सूचना भी देनी थी। उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि यद्यपि जीवन बीमा निगम के नियमों के अनुसार नियोजक एजेन्ट नहीं है, परन्तु धारा 186 को ध्यान में रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि नियोजक को एजेन्ट के रूप में कार्य करने का परिलक्षित अधिकार (implied authority) है। अतरू नियोजक द्वारा किश्त अदा करने में चूक या असफलता होने पर जीवन बीमा निगम बीमाकृत धन का भुगतान करने के लिए दायित्वाधीन होगा।

(3) आवश्यकतावश (By necessity)– एक अभिकरण का सृजन आवश्यकतावश भी हो सकता है, कोई व्यक्ति खास परिस्थितियों में दूसरे व्यक्ति के अभिकर्ता के रूप में कार्य कर सकता है। जब एक पति अपनी पत्नी का भरण–पोषण नहीं करता है तो पनि उसकी साख गिरवी रखके उन वस्तुओं को प्राप्त कर सकती है जो कि भरण–पोषण के लिए आवश्यक है और उनका मूल्य चुकाना पति के लिए बन्धनकारी होगा।

(क) कानून आवश्यकता द्वारा (By Legal Necessity)– कुछ अवस्थाओं में कानून दो पक्षों के बीच उनकी सहमति के बीच स्वामी तथा अभिकर्ता का सम्बन्ध स्थापित करता है।

(ख) आपातकालीन आवश्यकता द्वारा (By Emergent Necessity)– कुछ परिस्थितियों स्वयं पक्षों द्वारा मालिक तथा अभिकर्ता के सम्बन्ध स्थापित होने के बावजूद भी कानून अभिकर्ता को अत्यन्त आपात की दशा में स्वयं को प्राप्त अधिकार की सीमा का अतिक्रमण करने की अनुमति देता है।

(4) विबन्ध से (By estoppel)– विबन्ध द्वारा भी अभिकरण (egency) की उत्पत्ति हो सकती है।

(5) अनुसमर्थन द्वारा (By Ractification)– अभिकरण की उत्पत्ति अनुसमर्थन से भी हो सकती है। धारा 496 के अनुसार जहाँ कार्य एक व्यक्ति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के निमित्त किन्तु उसके ज्ञान के अधिकार के बिना किये जाते हैं, वहाँ वह परिवरण कर सकेगा कि ऐसे कार्यों का अनुसमर्थन करें या अस्वीकार करें। यदि वह उनका अनुसमर्थन करता है तो उसके वैसे ही प्रभाव होंगे मानो कि वे उसके प्राधिकार से किये गये हों। अतरू यदि कोई अभिकर्ता मालिक के प्राधिकार के बिना कोई कार्य करता है तो मालिक उसके उस कार्य का अनुसमर्थन करके ऐसी संविदा से उत्पन्न अधिकारों तथा दायित्वों को स्वीकार कर सकता है। अनुसमर्थन अभिव्यक्त हो सकेगा या उस व्यक्ति के जिसकी ओर से कार्य किये जाते हैं, आचरण से विवक्षित हो सकेगा।

उदाहरण– (क) 'क' प्राधिकार बिना 'ख' के लिए वस्तुएँ खरीदता है, तत्पश्चात् 'ख' उन्हें अपने लेख्ने से ही 'ग' को बेच देता है। 'ख' के आचरण से विवक्षित है कि उसने 'क' द्वारा उसके लिए किये गये क्रय का अनुसमर्थन किया है।

(ख) 'क', 'ख' के प्राधिकार के बिना 'ख' का धन 'ग' को उधार देता है। तत्पश्चात् 'ख' उस धन पर 'ग' से ब्याज प्रतिग्रहीत करता है। 'ख' के आचरण से विवक्षित है कि उसने उस उधार का अनुसमर्थन किया है।

प्रश्न न0 6– दृष्टानों की सहायता से उन परिस्थितियों की व्याख्या कीजिए, जिनके अन्तर्गत अभिकरण सम्बन्ध समाप्त हो जाते है तथा उन परिस्थितियों का भी उल्लेख कीजिए। जब अभिकरण सम्बन्ध को समाप्त नहीं किया जा सकता है।

उत्तर–एजेंसी की समाप्ति–एजेंसी का अर्थ है एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच का रिश्ता, जहां पहला व्यक्ति दूसरे उल्लेखित व्यक्ति को दूसरों के साथ कानूनी रिश्ते में लाता है। एजेंसी के निर्माण और एजेंसी की समाप्ति के विभिन्न तरीके हैं।

एजेंट वह व्यक्ति होता है जिसे अपने प्रिंसिपल की ओर से कोई कार्य करने या दूसरों (तीसरे पक्ष) के साथ संविदात्मक संबंध में प्रवेश करने के लिए नियुक्त किया जाता है। एक एजेंट अपने प्रमुख और तीसरे पक्ष के बीच एक संपर्क कड़ी के रूप में कार्य करता है।

अपने प्रिंसिपल का प्रतिनिधित्व करते समय, एक एजेंट अपने प्रिंसिपल की तरह ही कार्य करता है। एक एजेंट को उसके प्रिंसिपल द्वारा उसकी ओर से कार्य करने के लिए अधिकृत किया जाता है। एक एजेंट अपने एजेंसी संबंधों के कारण तीसरे पक्षों के साथ व्यापारिक लेनदेन में अपने प्रिंसिपल को कानूनी रूप से बाध्य करता है।

भारतीय अनुबंध अधिनियम, 1872 की धारा 201 के अनुसार, एजेंसी की समाप्ति निम्नलिखित परिस्थितियों में होती है: –

(1) प्रतिसंहरण द्वारा (By Revocation)– जब मालिक अपने प्राधिकार को प्रतिसंहारित करता है। तो ऐसे एजेन्सी समाप्त हो जाती है। प्रतिसंहरण अभिव्यक्त या मालिक के आचारण से विवक्षित हो सकता है। क गृह को स्वयं किराये पर उठाने के लिये प्राधिकृत करता है, तत्पश्चात क गृह को स्वयं किराये पर उठाता है। यह ख के प्राधिकार का विवक्षित प्रतिसंहरण है।

इसके अतिरिक्त प्राधिकार का प्रतिसंरण निम्नलिखित शर्तों के अधीन है–

(क) जहाँ अभिव्यक्त या विवक्षित संविदा है कि ऐजेन्सी समय की किसी कालावधि के लिये चालू रहती है, वहाँ पर्याप्त कारण के बिना किसी पूर्वतर अपखण्डन या छोड़ देने के लिये यथास्थिति मालिक द्वारा एजेण्ट द्वारा मालिक को प्रतिकर दिया जाना चाहिये।

(ख) मालिक अपने एजेन्ट को दिये गये प्राधिकार को , उस प्राधिकार के भागतः उपयोग में लाये जाने के पश्चात् वहाँ तक प्रतिसंहरित नहीं कर करता है जहाँ तक ऐसे कामों और आभारों को सम्बन्ध है जोकि ऐजेन्सी में पहले ही कर दिये गये कार्यों से पैदा होते है।

(ग) ऐसे अपखण्डन या छोड़ देने की युक्तियुक्त सूचना देनी पड़ेगी, अन्यथा उससे यथास्थिति मालिक या एजेन्ट को होने वाली नुकसान की भरपाई एक द्वारा दूसरे के प्रति करनी पड़ेगी।

(2) एजेन्ट द्वारा एजेन्सी का कारबार छोड़ दिये जाने से (Renunciation of the business of Agency by Agent)– धारा 201 के अनुसार एजेन्ट द्वारा एजेन्सी का कारबार छोड़ दिये जाने से एजेन्सी समाप्त हो जाती है। यह अभिव्यक्त या एजेन्ट के आचारण से विवक्षित किया जा सकता हैं।

(3) एजेन्सी के कारबार के पूरे हो जाने से– जब एजेन्सी का कारबार पूर्ण हो जाता है, तो एजेन्सी समाप्त हो जाती है।

(4) मालिक या एजेन्ट की मृत्यु या उन्मत्तता से (By the death or insanity of principal of Agent)– यहाँ पर यह नोट करना आवश्यक है कि ऐसी अवस्था में एजेंट के सभी दायित्व समाप्त है। धारा 209 के अनुसार, जबकि मालिक के मर जाने या उन्मत्त हो जाने से एजेन्सी समाप्त हो जाती है तब एजेन्ट अपने को न्यस्त हितों के संरक्षण और परिरक्षण के लिये सभी युक्तियुक्त कदम अपने भूतपूर्व मालिक के प्रतिनिधियों के निमित्त उठाने के लिये बाध्य है।

(5) मालिक के दिवालियेपन से (By Insolvency of Principal)– मालिक के दिवालिया घोषित हो जाने से एजेंसी समाप्त हो जाती है।

जब एजेंसी को समाप्त नहीं किया जा सकता है, तो इसे एक अपरिवर्तनीय एजेंसी के रूप में जाना जाता है। कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जब प्रिंसिपल द्वारा किसी एजेंसी को रद्द करना संभव नहीं होता है, जो इस प्रकार है:–

जब एजेंसी को रुचि के साथ जोड़ा जाता है तो यह एक ऐसा मामला है जहां एक एजेंट को ऐसी एजेंसी की विषय वस्तु में रुचि होती है। जहां एजेंसी हित से जुड़ी होती है, वहां मूलधन की मृत्यु या पागलपन या दिवालिया होने की स्थिति में भी यह समाप्त नहीं होता है।

जब किसी एजेंट पर व्यक्तिगत दायित्व आ जाता है, तो प्रिंसिपल एजेंसी को रद्द नहीं कर सकता, एजेंसी अपरिवर्तनीय हो जाती है। उदाहरण के लिए – अ ब को अपना एजेंट नियुक्त करता है। अ, ब के निर्देशानुसार अपने व्यक्तिगत नाम पर कुछ गेहूं खरीदता है। अब ऐसे मामले में पी एजेंसी को रद्द नहीं कर सकता.

जहां एजेंट ने आंशिक रूप से अधिकार का प्रयोग किया है, और यह प्रदर्शन किए गए कार्यों से उत्पन्न होने वाली देनदारियों के संबंध में अपरिवर्तनीय है। (धारा 204) उदाहरण के लिए – मिस्टर एक्स, मिस्टर वाई को अपना एजेंट नियुक्त करता है। मिस्टर एक्स के निर्देश पर, मिस्टर वाई अपने प्रिंसिपल शमिस्टरश के नाम पर 100 किलो अनाज खरीदते हैं। एक्सश। अब, ऐसे मामले में मिस्टर एक्स एजेंसी को रद्द नहीं कर सकते।

जब समाप्ति प्रभावी होती है किसी एजेंसी की समाप्ति तब प्रभावी होती है जब इसकी जानकारी किसी एजेंट को हो जाती है। जब प्रिंसिपल एजेंसी को रद्द करता है, तो यह तभी प्रभावी होता है जब एजेंट को इसकी जानकारी हो। हालाँकि, तीसरे पक्ष के मामले में, समाप्ति तभी प्रभावी होती है जब एजेंसी की ऐसी समाप्ति की जानकारी उनकी जानकारी में आती है।

भारतीय अनुबंध अधिनियम, 1872 की धारा 210 के अनुसार एक एजेंट के अधिकार की समाप्ति से एजेंट द्वारा नियुक्त उप–एजेंट का अधिकार भी समाप्त हो जाता है। भारतीय अनुबंध अधिनियम, 1872 की धारा 209 के अनुसार एक एजेंट का कर्तव्य है कि वह अपने प्रिंसिपल के हितों की रक्षा करे, यदि उसका प्रिंसिपल मानसिक रूप से अस्वस्थ हो जाता है या मर जाता है। एक एजेंट का यह कर्तव्य है कि प्रिंसिपल की मृत्यु या उसके पागल हो जाने के कारण किसी एजेंसी की समाप्ति पर, अपने दिवंगत प्रिंसिपल या मरने वाले प्रिंसिपल की ओर से उसके द्वारा सौंपे गए हितों की रक्षा के लिए सभी उचित कदम उठाए। .

प्रश्न न0 7– शर्त एवं वारण्टी प्रत्ययों को दृष्टान्तों की सहायता से समझाइए। शर्त एवं वारण्टी में अन्तर में स्पष्ट कीजिए। किन परिस्थितियों में एक शर्त के उल्लंघन को एक वारण्टी का उल्लंघन माना जाता हैं।

उत्तर– किसी शर्त और वारंटी के बीच सबसे महत्वपूर्ण अंतर उल्लंघन के परिणामों में निहित है। जब शर्तें पूरी हो जाती हैं, तो अनुबंध का उद्देश्य पूरा हो जाता है। हालाँकि, शर्त का उल्लंघन पीड़ित पक्ष को अनुबंध समाप्त करने और क्षति का दावा करने का अधिकार देता है। पीड़ित पक्ष के लिए यही उपाय उपलब्ध है। इसके विपरीत, वारंटी का उल्लंघन केवल पीड़ित पक्ष को नुकसान का दावा करने की अनुमति देता है, लेकिन अनुबंध वैध रहता है। जब अनुबंध और कानूनी आधार की बात आती है, तो इस्तेमाल की जाने वाली शर्त बार–बार पेचिदा और समझ में मुश्किल हो सकती है। ऐसे दो शब्द जो बार–बार उत्पन्न होते हैं वे हैं 'शर्त' और 'वारंटी'। यह लेख आपको शर्त और ठंड के बीच के अंतर को समझने में मदद करेगा। इस अनुबंध कानून से जुड़े लोगों के लिए, विशेष रूप से माल की बिक्री अधिनियम, 1930 के तहत काम करना आसान हो जाएगा।

शर्त और वारंटी के बीच अंतरः–शर्तें किसी भी अनुबंध या बिक्री का आधार होती हैं जबकि वारंटी अतिरिक्त आश्वासन या गारंटी प्रदान करती हैं। यदि कोई शर्त पूरी नहीं होती है, तो इसे भौतिक उल्लंघन माना जाता है। दूसरी ओर, वारंटी का पालन न करना महत्वपूर्ण उल्लंघन नहीं माना जाता है। यहां स्थिति और वारंटी के बीच अंतर पर एक सारणीबद्ध तुलना दी गई हैः–

पैरामीटर	शर्त	वारंटी
परिभाषा	अनुबंध का आधार बनती है।	वारंटी अनुबंध में एक द्वितीयक शर्त या वादा है।
महत्व	यह एक प्राथमिक दायित्व है और अनुबंध के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।	यह एक गौण वादा है और किसी शर्त जितना महत्वपूर्ण नहीं है।
उल्लंघन के परिणाम	समाप्ति और क्षतिपूर्ति का दावा करने का अधिकार।	अनुबंध को अमान्य किये बिना क्षतिपूर्ति का दावा करने का अधिकार।
उदाहरण	कार खरीद अनुबंध में, कार का विशिष्ट मॉडल एक शर्त होगी।	उसी अनुबंध में, यह वादा कि डिलीवरी से पहले कार की सर्विसिंग की जाएगी, एक वारंटी होगी।

एक शर्त क्या है?

माल विक्रय अधिनियम की धारा 12 के अनुसार, शर्त एक मौलिक शब्द है जो अनुबंध का आधार बनता है। यह एक प्राथमिक दायित्व है और अनुबंध के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि निर्धारित तथ्य वास्तविक हैं और शर्तें पूरी होती हैं, तो अनुबंध का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

उदाहरण के लिए, बिक्री के अनुबंध में, यदि आप एक कार खरीद रहे हैं और व्यक्त शर्त यह है कि यह एक विशिष्ट मॉडल होना चाहिए, तो एक अलग मॉडल प्राप्त करना अनुबंध का उल्लंघन माना जाएगा। शर्त का यह उल्लंघन पीड़ित पक्ष को कार को अस्वीकार करने और अनुबंध को रद्द करने का अधिकार देता है।

शर्तों के लाभ

निम्नलिखित बिंदु एक अनुबंध के भीतर शर्तों के लाभों पर प्रकाश डालते हैंः

शामिल पक्षों को सुरक्षा का एक स्तर प्रदान करें। यदि कोई शर्त पूरी नहीं होती है, तो पीड़ित पक्ष को अधूरे वादों के खिलाफ सुरक्षा प्रदान करते हुए, अनुबंध समाप्त करने की अनुमति दी जाती है।

अनुबंध के आवश्यक तत्वों को स्पष्ट करने में सहायता करें, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि प्रत्येक पक्ष क्या करने के लिए बाध्य है, जो विक्रेता का कर्तव्य है।

शर्तों के नुकसान
निम्नलिखित बिंदु शर्तों के नुकसान की व्याख्या करते हैं:
यदि छोटी शर्त का उल्लंघन किया जाता है तो शर्तों की सख्त प्रकृति कभी–कभी अनुचित परिणाम दे सकती है। यदि इस बात पर असहमति है कि कोई शब्द एक शर्त है या नहीं, तो इससे कानूनी विवाद हो सकता है।
केस स्टडीजः बेटिनी बनाम गे (1876) इस मामले में, एक ओपेरा गायक (बेटिनी) को तीन महीने की अवधि के लिए प्रदर्शन करने के लिए अनुबंधित किया गया था, लेकिन रिहर्सल के लिए प्रदर्शन से छह दिन पहले पहुंचना आवश्यक था। बेटिनी बीमार पड़ गईं और रिहर्सल से चूक गईं लेकिन पहले प्रदर्शन के लिए तैयार थीं। अदालत ने माना कि रिहर्सल में भाग लेने की आवश्यकता एक शर्त नहीं बल्कि एक वारंटी थी। इसलिए, अनुबंध समाप्त नहीं किया जा सका, और गायक को प्रतिस्थापित नहीं किया जा सका।
वारंटी क्या है?
वारंटी अनुबंध में एक द्वितीयक शर्त या वादा है। यह एक शर्त जितना महत्वपूर्ण नहीं है। वारंटी के उल्लंघन से अनुबंध समाप्त नहीं होगा। इसके बजाय, आमतौर पर उल्लंघन की भरपाई के लिए नुकसान होता है। वारंटी अक्सर विक्रेता द्वारा दी गई गारंटी होती है, जो अनुबंध के मुख्य उद्देश्य के लिए संपार्श्विक होती है।
उदाहरण के लिए, बिक्री के उसी अनुबंध में, यह वादा कि डिलीवरी से पहले कार की सर्विसिंग की जाएगी, एक वारंटी होगी। यदि कार बिना सर्विस कराए डिलीवर की जाती है, तो यह वारंटी का उल्लंघन होगा। हालाँकि, यह अनुबंध को अमान्य नहीं करेगा। आपको अभी भी कार स्वीकार करनी होगी, लेकिन आप संभावित रूप से कार की सर्विसिंग की लागत के लिए मुआवजे का दावा कर सकते हैं।
वारंटी के लाभ– निम्नलिखित बिंदु अनुबंध के भीतर वारंटी के लाभों पर प्रकाश डालते हैंरू
वारंटी अनुबंध की आवश्यक शर्तों से परे अतिरिक्त आश्वासन प्रदान करती हैं, जो अक्सर वस्तुओं या सेवाओं की गुणवत्ता या प्रदर्शन से संबंधित होती हैं। वारंटी के उल्लंघन की स्थिति में, पीड़ित पक्ष किसी भी नुकसान के लिए मुआवजे का एक रूप प्रदान करते हुए, नुकसान का दावा कर सकता है।
वारंटी के नुकसान– निम्नलिखित बिंदु एक अनुबंध के भीतर वारंटी के नुकसान के बारे में विस्तार से बताते हैंरू
वारंटी का उल्लंघन केवल क्षति की अनुमति देता है और पीड़ित पक्ष को अनुबंध समाप्त करने का अधिकार नहीं देता है।
चूंकि वारंटी द्वितीयक वादे हैं, इसलिए कभी–कभी उन्हें अनदेखा किया जा सकता है या शर्तों पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता है, जिससे संभावित रूप से उल्लंघन हो सकता है।
केस स्टडीः हांगकांग फिर शिपिंग कंपनी लिमिटेड बनाम कावासाकी किसेन कैशा लिमिटेड (1962)
इस मामले में, एक जहाज को 24 महीने के लिए पट्टे पर दिया गया था, और अनुबंध में एक वारंटी शामिल थी कि जहाज पूरे पट्टे की अवधि के दौरान समुद्र में चलने योग्य रहेगा। हालाँकि, इंजन की समस्याओं के कारण जहाज 5 सप्ताह के लिए और चालक दल की अक्षमता के कारण 15 सप्ताह के लिए सेवा से बाहर था। अदालत ने माना कि समुद्री योग्यता की वारंटी कोई शर्त नहीं थी। इसलिए, पट्टेदार अनुबंध को समाप्त नहीं कर सका, खासकर जब से जहाज पट्टे की अधिकांश अवधि के लिए उपलब्ध था।
शर्त बनाम वारंटीः कौन सा बेहतर है?
किसी शर्त और वारंटी के बीच का चुनाव काफी हद तक विशिष्ट परिस्थितियों और अनुबंध में वादे के महत्व पर निर्भर करता है।
शर्त– यदि वादा समझौते के लिए महत्वपूर्ण है, तो इसे एक शर्त बनाना बेहतर है। यह इस तथ्य के कारण है कि शर्त का उल्लंघन आपको एक मजबूत सुरक्षा प्रदान करते हुए अनुबंध को समाप्त करने का अधिकार देता है। यदि वादा कम महत्वपूर्ण है और इसे पूरा न करने पर मुआवजा प्राप्त करना आपके लिए ठीक है, तो इसे वारंटी बनाना बेहतर है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वारंटी का उल्लंघन अनुबंध को समाप्त नहीं करता है बल्कि नुकसान की अनुमति देता है।
गारंटी–वारंटी अधिक लचीलापन प्रदान करती है क्योंकि वे अनुबंध का उल्लंघन होने पर भी उसे जारी रखने की अनुमति देते हैं। यह उन स्थितियों में फायदेमंद हो सकता है जहां अनुबंध को बनाए रखना अधूरे वादे से अधिक महत्वपूर्ण है। दूसरी ओर, शर्तें इस बात की मजबूत गारंटी देती हैं कि अनुबंध के महत्वपूर्ण वादे पूरे किए जाएंगे। वे ई को एक मजबूत तंत्र प्रदान करते हैं।

प्रश्न न0 8– असंदत्त विक्रेता कौन है? समझाइए कानून प्रावधानों एवं दृष्टानों की सहायता से माल विक्रय अधिनियम 1930 के अदत्त विक्रेता के अधिकारों की विवेचना कीजिए।

उत्तर– भारतीय अनुबंध अधिनियम की धारा 2(एफ) के अनुसार, विक्रेता को बेचे गए माल को हस्तांतरित करना होगा, और खरीदार को बिक्री के अनुबंध के तहत बदले में आवश्यक राशि का भुगतान करना होगा। इसे पारस्परिक प्रतिज्ञा के नाम से जाना जाता है। दूसरे शब्दों में, किए गए वादों का कोई भी सेट जो एक दूसरे के लिए प्रतिफल या प्रतिफल का हिस्सा बनता है, पारस्परिक वादे कहलाते हैं और माल की बिक्री के प्रत्येक अनुबंध में पारस्परिक वादे शामिल होते हैं।

वह विक्रेता है जिसेरू–

1. पूरी कीमत का भुगतान नहीं किया गया है
2. सशर्त भुगतान

विक्रेता को विनिमय बिल/प्रॉमिसरी नोट/चेक प्राप्त हो गया है लेकिन वह अनादरित हो गया है। तक विनिमय बिल/प्रॉमिसरी नोट/चेक विक्रेता के पास है, इसलिए उस समय तक वह है केवल विक्रेता के रूप में बुलाया जाता है, लेकिन जब उल्लिखित उपकरणों में से कोई भी अस्वीकार कर देता है तो इसके बाद विक्रेता को असंदत्त विक्रेता कहा जाता है।

असंदत्त विक्रेता की विशेषताएं

1. विक्रेता को सामान नकद आधार पर बेचना चाहिए और भुगतान नहीं किया जाना चाहिए (नकद लेनदेन में)।

भुगतान तुरंत देय हो जाता है)

2. विक्रेता को या तो पूरी तरह से या पार्टी द्वारा भुगतान नहीं किया जाना चाहिए
3. निर्धारित अवधि समाप्त हो गई है और विक्रेता को कीमत का भुगतान नहीं किया गया है
4. विक्रेता को भुगतान स्वीकार करने से इंकार नहीं करना चाहिए
5. जहां कीमत का भुगतान परक्राम्य लिखत (विनिमय पत्र/प्रॉमिसरी) के माध्यम से किया जाता है नोट/चेक) और उसे अनादरित कर दिया गया है

उदाहरण : अपनी बाइक बी को रुपये में बेचता है। 60,000 और कीमत का एक चेक प्राप्त होता है। इस समय तक विक्रेता को विक्रेता ही कहा जायेगा। लेकिन जब इसके बाद चेक अनादरित हो जाता है बी के बैंक खाते में धन की अपर्याप्तता, तभी ए एक असंदत्त विक्रेता बन जाता है।

माल के विरुद्ध असंदत्त विक्रेता के तीन महत्वपूर्ण अधिकार–

1. धारणाधिकार का अधिकार
2. अभिवहन में रोकने का अधिकार
3. पुनर्विक्रय का अधिकार

असंदत्त विक्रेता का धारणाधिकार का अधिकार– असंदत्त विक्रेता के महत्वपूर्ण अधिकारों में से एक धारणाधिकार का अधिकार है। धारणाधिकार का तात्पर्य सामान पर कब्जा बनाए रखने के अधिकार से है जब तक कि खरीदार द्वारा पूरी कीमत का भुगतान नहीं कर दिया जाता। एक असंदत्त विक्रेता इस अधिकार का प्रयोग कर सकता है यदि सामान उधार पर बेचा गया है और खरीदार ने अभी तक पूरी कीमत का भुगतान नहीं किया है।

विक्रेता भुगतान होने तक सामान पर कब्जा बनाए रख सकता है और खरीदार को सामान तब तक देने से इनकार कर सकता है जब तक कि कीमत का पूरा भुगतान न कर दिया जाए। धारणाधिकार के अधिकार का उपयोग विक्रेता द्वारा तब भी किया जा सकता है, भले ही सामान पारगमन में हो, यानी, उन्हें भेज दिया गया है लेकिन अभी तक खरीदार को वितरित नहीं किया गया है।हालाँकि, कुछ शर्तें हैं जिन्हें विक्रेता को ग्रहणाधिकार के अधिकार का प्रयोग करने के लिए पूरा करना आवश्यक है। माल विक्रय अधिनियम, 1930 की धारा 47 के अनुसार, विक्रेता द्वारा धारणाधिकार के अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है यदिः

(क) माल बिना किसी ऋण शर्त के बेचा गया है, यानी, बिक्री नकद आधार पर थी।

(ब) खरीदार दिवालिया हो जाता है, यानी, देय होने पर अपने ऋण का भुगतान करने में असमर्थ होता है।

(ग) माल उधार पर बेचा गया है, लेकिन उधार की अवधि समाप्त हो गई है और विक्रेता को अभी तक पूरी कीमत नहीं मिली है। यदि ये शर्तें पूरी होती हैं, तो विक्रेता धारणाधिकार के अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है और पूरी कीमत का भुगतान होने तक माल पर कब्जा बनाए रख सकता है।

ग्राइस बनाम रिचर्डसन के मामले में, विक्रेताओं ने चाय के तीन पार्सल का एक हिस्सा वितरित किया था जो बिक्री का हिस्सा था, लेकिन शेष हिस्से के लिए भुगतान नहीं किया गया था। कीमत का भुगतान होने तक उन्हें सामान अपने पास रखने की अनुमति थी। हालाँकि, यदि वितरित माल के लिए धारणाधिकार को माफ करने का समझौता है, तो विक्रेता शेष को बरकरार नहीं रख सकता है। एक मामले में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि एक असंदत्त विक्रेता को माल पर धारणाधिकार का प्रयोग करने और खरीदार द्वारा कीमत का भुगतान करने तक उन्हें वितरित करने से इनकार करने का अधिकार है। अदालत ने आगे कहा कि विक्रेता का धारणाधिकार का अधिकार इस तथ्य से प्रभावित नहीं होता है कि माल खरीदार को ट्रांसमिशन के लिए वाहक को दिया गया है या विक्रेता ने खरीदार के दिवालियापन के परिणामस्वरूप माल में रुचि का दावा किया है।

भागिक परिदान– (धारा 48) इसके अलावा, धारा 48 में कहा गया है कि यदि कोई असंदत्त विक्रेता माल की भागिक परिदान करता है, तो वह शेष पर धारणाधिकार के अपने अधिकार का प्रयोग कर सकता है। यह तब तक वैध है जब तक खरीदार और विक्रेता के बीच भागिक परिदान के तहत धारणाधिकार को माफ करने के लिए कोई समझौता नहीं होता है।

मौरडौन्ट ब्रदर्स बनाम ब्रिटिश आयल केक मिल्स लिमिटेड में संविदा विक्रय तेल के कुछ भाग का था जो विक्रेता के पास एकत्रित था। क्रेता ने उक्त तेल कुछ भाग का विक्रय वादी को कर दिया और उसके पक्ष से एक डिलिवरी नोट लिख दिया जिसमें कि विक्रेता को निर्देश दिया कि वह तेल वादी को दे दे। विक्रेता ने वादी को तेल का कुछ भाग परिदान किया परन्तु बाद में उसे रोक दिया। क्योंकि तब तक क्रेता ने तेल कीमत अदा नहीं थीं। वादी ने क्रेता के विरूद्ध तेल को प्राप्त करने के लिए वाद किया जिसे कि न्यायालय ने खारिज कर तथा निर्णय दिया कि विक्रेता को माल धारणाधिकार था।

धारणाधिकार की समाप्ति (धारा 49)–

धारणाधिकार की समाप्ति को धारा 49 में परिभाषित किया गया है – (1) माल का असंदत्त विक्रेता उस पर अपना धारणाधिकार खो देता है – (क) जब वह अधिकार सुरक्षित किए बिना खरीदार को ट्रांसमिशन के उद्देश्य से माल को वाहक या अन्य जमानतदार को सौंपता है माल का निपटानय (ख) जब खरीदार या उसका एजेंट कानूनी रूप से माल का कब्जा प्राप्त कर लेता हैय (ग) उसके छूट द्वारा.

(2) माल का असंदत्त विक्रेता, उस पर धारणाधिकार रखते हुए, केवल इस कारण से अपना धारणाधिकार नहीं खोता है कि उसने माल की कीमत के लिए डिक्री प्राप्त कर ली है।

धारणाधिकार कब्जे से जुड़ा हुआ है और कब्जा खो जाने पर खो जाता है। तदनुसार धारा 47 में प्रावधान है कि माल का असंदत्त विक्रेता निम्नलिखित मामलों में अपना धारणाधिकार खो देता है – (1) जब वह माल के निपटान का अधिकार सुरक्षित किए बिना खरीदार को ट्रांसमिशन के उद्देश्य से माल को वाहक या अन्य जमानतदार को सौंपता हैय (2) जब क्रेता या उसका एजेंट कानूनी रूप से माल का कब्जा प्राप्त कर लेता हैय (3) धारणाधिकार की छूट द्वारा।

हालाँकि, उप–धारा (2) यह प्रावधान करती है कि असंदत्त विक्रेता केवल इस कारण से अपना धारणाधिकार नहीं खोता है कि उसने माल की कीमत के लिए डिक्री प्राप्त कर ली है।

वाहक को डिलीवरी द्वारा–खरीदार को ट्रांसमिशन के उद्देश्य से किसी वाहक को माल की डिलीवरी स्वयं खरीदार को डिलीवरी के रूप में संचालित होती है, और इसलिए, धारणाधिकार का अधिकार खो जाता है। किसी वाहक को डिलीवरी से धारणाधिकार समाप्त हो जाता है, लेकिन विक्रेता के पास अभी भी पारगमन में रुकने का अधिकार है। यदि विक्रेता पारगमन में रुकने के अपने अधिकार का प्रयोग करके वाहक से माल का कब्जा पुनः प्राप्त कर लेता है, तो उसका धारणाधिकार पुनर्जीवित हो जाता है। लेकिन यदि वह किसी अन्य उद्देश्य के लिए वाहक से माल वापस लेता है, तो धारणाधिकार पुनर्जीवित नहीं होता है। इस प्रकार, वाल्पी बनाम गिब्सन में, बेचा गया सामान खरीदार के शिपिंग एजेंटों को सौंप दिया गया था, जिन्होंने उन्हें जहाज पर रखा था। लेकिन सामान दोबारा पैकिंग के लिए विक्रेताओं को लौटा दिया गया। जबकि वे अभी भी विक्रेताओं के साथ थे, खरीदार दिवालिया हो गया और विक्रेताओं ने, अभी भी असंदत्त होने के कारण, अपने धारणाधिकार के अभ्यास में माल को बनाए रखने का दावा किया।

यह माना गया कि, शिपिंग एजेंटों को डिलीवरी द्वारा अपना धारणाधिकार खो देने के बाद, डिलीवरी से इनकार करना गलत था। जहां विक्रेता ने माल के निपटान का अधिकार सुरक्षित रखा है, उसका ग्रहणाधिकार पारगमन के अंत तक जारी रहता है।

खरीदार को डिलीवरी द्वारा–

जब सामान क्रेता या उसके एजेंट को सौंप दिया जाता है तो धारणाधिकार का अधिकार भी समाप्त हो जाता है। खरीदार को डिलीवरी का प्रभाव ब्लैकबर्न द्वारा इस प्रकार बताया गया है – जब विक्रेता ने बिक्री

के अनुबंध के तहत खरीदार को कब्जा दे दिया है, तो माल पर उसके सभी अधिकार पूरी तरह से खत्म हो जाते हैंय उसे कीमत ठीक उसी तरह वसूल करनी होगी जैसे वह किसी अन्य ऋण की वसूली करेगा और अब किसी अन्य लेनदार से बेहतर बेची गई वस्तुओं पर उसका कोई दावा नहीं है। कब्जे की डिलीवरी और स्वीकृति बिक्री को पूरा करती है, और खरीदार को बेची गई चीजों पर संपत्ति और कब्जे का पूर्ण, अयोग्य और अपरिहार्य अधिकार देती है, भले ही कीमत असंदत्त हो और खरीदार दिवालिया हो।

जहां सामान किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए विक्रेता को वापस दिया जाता है, जैसे बेची गई मशीन की मरम्मत, तो इससे विक्रेता का धारणाधिकार पुनर्जीवित नहीं होता है। हालाँकि, विक्रेता का धारणाधिकार समाप्त नहीं होता है, जहाँ खरीदार ने विक्रेता की सहमति के बिना कब्जा प्राप्त कर लिया है, उदाहरण के लिए किसी गलत कार्य से या किसी अस्थायी उद्देश्य के लिए, जैसे परीक्षण। खरीदार को कानूनी रूप से और अनुबंध के तहत कब्जा प्राप्त करना होगा। जहां कब्जा सहमति से प्राप्त किया जाता है, लेकिन सहमति स्वयं चालाकी या धोखाधड़ी से प्रबंधित की जाती है, वहां प्रभाव इस प्रकार पी.एस. द्वारा बताया गया है।

हालाँकि यह कहना थोड़ा अजीब हो सकता है कि चोरी की परिस्थितियों में प्राप्त कब्जा श्कानूनी रूप सेश प्राप्त किया जा सकता है, यह प्रस्तुत किया गया है कि यह बाकी अधिनियम के साथ अधिक सुसंगत है, और इस निर्माण को संभवतः अपनाया जाएगा। लेकिन यदि खरीदार विक्रेता की सहमति के बिना माल का कब्जा प्राप्त कर लेता है, तो धारणाधिकार समाप्त नहीं होता है, और भले ही संपत्ति खरीदार के पास चली गई हो, ऐसा प्रतीत होता है कि वह धारणाधिकार से मुक्त एक तिहाई भाग के लिए एक अच्छा शीर्षक पारित नहीं कर सकता है।

छूट से

विक्रेता के लाभ के लिए बिक्री के प्रत्येक अनुबंध में कानून के निहितार्थ के अनुसार धारणाधिकार का अधिकार जुड़ा हुआ है। इसलिए, यदि विक्रेता चाहे तो अपना अधिकार छोड़ सकता है। छूट विक्रेता के आचरण से व्यक्त या निहित हो सकती है। एक निहित छूट तब होती है जब विक्रेता माल के संदर्भ में कुछ गलत कार्य का दोषी होता है, ष्जैसे कि माल के साथ उस पर कब्जा करने के अधिकार के साथ असंगत तरीके से व्यवहार करना, जैसे कि गलत तरीके से उन्हें दोबारा बेचना या उनका उपभोग करना, या अपने धारणाधिकार के अधिकार के अलावा किसी अन्य आधार पर उन्हें रखने का दावा करना।" इस प्रकार, जहां विक्रेता ने घास के ढेर को काट दिया और उसका उपयोग किया, जिसे उसने बेचा था और जिसका कुछ हिस्सा खरीदार ने ले लिया था, उसे डिलीवरी में विफलता के लिए खरीदार को नुकसान के लिए उत्तरदायी ठहराया गया था।

कीमत की निविदा द्वारा

जब खरीदार माल के लिए कीमत बताता है, तो विक्रेता एक अवैतनिक विक्रेता नहीं रह जाता है, और इसलिए, कीमत स्वीकार करने से स्वैच्छिक इनकार करके, खुद को एक असंदत्त विक्रेता में परिवर्तित नहीं कर सकता है और धारणाधिकार का दावा नहीं कर सकता है।

<u>प्रश्न न0 9–</u> भागीदारी को भारतीय अधिनियम, 1932 की धारा 4 अनुसार परिभाषित कीजिए। इसके (भागीदारी के) आवश्यक तत्व क्या है? बताइए क्या लाभ में हिस्सा भागीदारी का निश्चयात्मक सबूत है? विवेचना कीजिए।

<u>उत्तर–</u> साझेदारी की परिभाषा

भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1932 (1932 का प) की धारा 4 साझेदारी को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित करती है:

''साझेदारी उन व्यक्तियों के बीच का संबंध है जो सभी के लिए कार्य करने वाले या उनमें से किसी एक द्वारा किए गए व्यवसाय के मुनाफे को साझा करने के लिए सहमत हुए हैं।''

हेल्सबरी साझेदारी को ''उस संबंध के रूप में परिभाषित करता है जो लाभ की दृष्टि से सामान्य रूप से व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों के बीच कायम रहता है।''

साझेदारी पर कहानी में, इस शब्द को दो या दो से अधिक सक्षम व्यक्तियों के बीच अपने धन, प्रभाव, श्रम, कौशल या कुछ या सभी को वैध वाणिज्य या व्यवसाय में इस समझ के साथ रखने के लिए एक स्वैच्छिक अनुबंध के रूप में परिभाषित किया गया है कि एक साम्य होगा। उनके बीच के मुनाफे का.

साझेदारी अधिनियम, 1932 की धारा 4 के अनुसार साझेदारी का क्या अर्थ है? उदाहरण सहित बताइये।

भागीदार, फर्म, फर्म का नाम – धारा 4

जो व्यक्ति एक–दूसरे के साथ साझेदारी में प्रवेश करते हैं उन्हें व्यक्तिगत रूप से श्साझेदारश और सामूहिक रूप से 'एक फर्म' कहा जाता है और जिस नाम के तहत उनका व्यवसाय चलता है उसे श्फर्म का नामश कहा जाता है।

धारा 58.– एक फर्म नाम में निम्नलिखित शब्दों में से कोई भी शामिल नहीं हो सकता है, अर्थात् ताज, सम्राट, महारानी, साम्राज्य, शाही राजा। क्वीन रॉयल या सरकार की मंजूरी, अनुमोदन या संरक्षण को व्यक्त करने या लागू करने वाले शब्द।

वर्तमान अधिनियम की धारा 4 भारतीय अनुबंध अधिनियम की निरस्त धारा 239(सी) से मेल खाती है जिसमें निम्नलिखित उदाहरण शामिल हैं:

(1) 'ए' और 'बी' कपास की गांठें खरीदते हैं जिन्हें वे अपने संयुक्त खाते के लिए बेचने के लिए सहमत होते हैं। ऐसे कपास के संबंध में 'ए' और 'बी' भागीदार हैं।

(2) 'ए' और श्बीश कपास की 100 गांठें खरीदते हैं और इसे आपस में साझा करने पर सहमत होते हैं। 'ए' और 'बी' भागीदार नहीं हैं।

(3) 'ए' एक सुनार के साथ सोना खरीदने और उसे बेचने के लिए 'बी' को देने के लिए सहमत है और वे परिणामी लाभ या हानि में हिस्सा लेंगे। 'ए' और 'बी' भागीदार हैं।

(4) 'ए' और 'बी' बढ़ई के रूप में एक साथ काम करने के लिए सहमत हैं, लेकिन 'ए' को सभी लाभ प्राप्त होंगे और 'बी' को मजदूरी का भुगतान करना होगा। 'ए' और 'बी' भागीदार नहीं हैं।

(5) 'ए' और 'बी' जहाज के संयुक्त मालिक हैं। यह परिस्थिति उन्हें भागीदार नहीं बनाती.

साझेदारी की अनिवार्यताएँ

साझेदारी फर्म बनाने के लिए क्या आवश्यक हैं? प्रासंगिक उदाहरणों और केस–कानूनों के साथ समझाइए।

धारा 4 के अनुसार साझेदारी बनाने के लिए निम्नलिखित आवश्यक बातें आवश्यक हैं–

(अ) जो व्यक्ति भागीदार बनना चाहते हैं उनके बीच एक समझौता होना चाहिए।

(ब) साझेदारी बनाने का उद्देश्य व्यवसाय को आगे बढ़ाना होना चाहिए।

(स) साझेदारी के निर्माण का मकसद मुनाफा कमाना और साझा करना होना चाहिए।

(द) फर्म का व्यवसाय उन सभी द्वारा चलाया जाना चाहिए या उनमें से किसी एक द्वारा सभी के लिए कार्य किया जाना चाहिए अर्थात, पारस्परिक एजेंसी है।

(1) रघुनाथ साहू बनाम त्रिनाथदास में, MANU/OR/0002/1985: AIR 1985 Ori 8 (10)। उड़ीसा उच्च न्यायालय की एक खंडपीठ ने साझेदारी के तीन आवश्यक तत्वों की ओर इशारा कियारू

(2) संबंधित व्यक्तियों के बीच एक समझौता,

(3) यह समझौता लाभ के बंटवारे के लिए होना चाहिए,

(4) व्यवसाय या तो सभी द्वारा चलाया जाना चाहिए या उनमें से किसी को सभी की ओर से चलाया जाना चाहिए।

(5) प्रतिभा रानी बनाम सरोज कुमार, MANU/SC/0090/1985 : (1985) 2 SCC 370 (384), में, सुप्रीम कोर्ट ने साझेदारी के दो आवश्यक तत्वों की ओर इशारा किया–

(ए) व्यवसाय शुरू करने के लिए दो व्यक्तियों द्वारा किया गया कोई वास्तविक या बाहरी शारीरिक कार्य।

(बी) यदि सभी या उनमें से कोई एक व्यवसाय करता है, तो साझेदार समझौते के तहत उन्हें आवंटित शेयरों के आधार पर लाभ साझा करेंगे।

(3) सुप्रीम कोर्ट ने हेल्पर गिरधरभाई बनाम सैय्यद मोहम्मद हीरासाहब कादरी, MANU/SC/0381/1987: AIR 1987 SC 1782 में कहा, ''कुछ मामलों में साझेदारी थी या नहीं, यह कानून या तथ्य का मिश्रित प्रश्न है।''यह समझ कि किसी विशेष मामले में साझेदारी के कानून में सन्निहित साझेदारी के तत्व मौजूद थे या नहीं, इसका निर्णय साझेदारी पर लागू सिद्धांतों के आलोक में किया जाना चाहिए।''

(1) **करार**–साझेदारी अधिनियम की धारा 5 के अनुसार साझेदारी का संबंध अनुबंध से उत्पन्न होता है न कि हैसियत से। इस प्रकार, व्यवसाय चलाने वाले हिंदू संयुक्त परिवार के सदस्य, या व्यवसाय के सह–मालिक 'साझेदार' नहीं हैं क्योंकि एचयूएफ और सह–स्वामित्व कानून के संचालन द्वारा बनाए जाते हैं, अनुबंध द्वारा नहीं। साझेदारी का समझौता व्यक्त या निहित हो सकता है।

साझेदारी का पहला आवश्यक घटक यह है कि साझेदारी बनाने वाले व्यक्तियों के बीच एक करार होना चाहिए। भारतीय अनुबंध अधिनियम, 1872 की धारा 2 के खंड (ई) के तहत 'करार' शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–

वादों के समूह के रूप में प्रत्येक वादा जो एक दूसरे के लिए प्रतिफल बनता है, एक करार है। करार साझेदारी का एक अनिवार्य हिस्सा है और इसके बिना कोई भी साझेदारी अस्तित्व में नहीं आ सकती है। साझेदारों के बीच संबंध स्थापित करने के लिए किसी भी समझौते को व्यक्त या निहित रूप में साबित किया जाना चाहिए।

धारा 4 यह स्पष्ट करती है कि साझेदारी उन व्यक्तियों के बीच का संबंध है जो लाभ साझा करने के लिए सहमत हुए हैं। बिना करार के कोई साझेदारी नहीं हो सकती. धारा 5 इसे यह कहकर स्पष्ट करती है कि साझेदारी का संबंध अनुबंध से उत्पन्न होता है न कि स्थिति से। डिप्टी कमिश्नर सेल्स (लॉ) बनाम मेसर्स के0के0 केलुकुट्टे, MANU/SC/0313/1985: AIR 1985 SC 1143 में सुप्रीम कोर्ट ने माना है कि साझेदारों के बीच संबंध एक करार पर आधारित होते हैं उन दोनों के बीच। अतः साझेदारी एवं फर्म का आधार साझेदारी करार है।

(2) कारबार– साझेदारी केवल किसी व्यवसाय को चलाने के उद्देश्य से ही बनाई जा सकती है। साझेदारी अधिनियम की धारा 2(बी) कहती है कि 'व्यवसाय' शब्द में प्रत्येक व्यापार, व्यवसाय या पेशा शामिल है। इस प्रकार, मुख्य रूप से धर्मार्थ, धार्मिक और सामाजिक उद्देश्यों के लिए बनाए गए संघ को साझेदारी नहीं माना जाता है। इसी तरह, जब दो या दो से अधिक व्यक्ति संयुक्त संपत्ति की आय को साझा करने के लिए सहमत होते हैं, तो यह साझेदारी की श्रेणी में नहीं आता हैय ऐसे रिश्ते को सह–स्वामित्व कहा जाता है।

लिंडले के अनुसार– "एकल वाणिज्यिक लेनदेन एक व्यवसाय बन सकता है, यह आवश्यक नहीं है कि व्यवसाय दीर्घकालिक और स्थायी प्रकृति का हो। यदि व्यक्ति पहले से ही भागीदार नहीं हैं, किसी विशेष लेनदेन के लाभ या हानि को साझा करते हैं, तो वे उक्त विशेष लेनदेन के लिए भागीदार हो सकते हैं।''कोट्टापल्ली जग्गैया बनाम कोकुमनु वेंकटसत्यनारायण में, MANU/AP/0163/1984: AIR 1984 AP 149: आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने कहा कि परीक्षण यह है कि क्या ऐसी कोई गतिविधि है जिसे उस लेनदेन के लिए व्यवसाय कहा जा सकता है। इसलिए सरकार के साथ एकल अनुबंध साझेदारी का विषय–वस्तु हो सकता है।

(3) लाभ का बँटवारा– लाभ का बंटवारा साझेदारी फर्म का एक अनिवार्य तत्व है। इस पर चर्चाः–

साझेदारी का यह भी एक अनिवार्य तत्व है कि समझौता साझेदारों के बीच लाभ के बंटवारे का प्रावधान करता है। साझेदारी अधिनियम की धारा 4 यह प्रावधान नहीं करती है कि लाभ वास्तव में भागीदारों द्वारा साझा किया जाना चाहिए। प्रत्येक साझेदारी का उद्देश्य लाभ के लिए व्यवसाय को आगे बढ़ाना और उसे साझा करना होना चाहिए। यद्यपि अधिनियम में लाभ शब्द को परिभाषित नहीं किया गया है, इसका अर्थ है शुद्ध लाभ अर्थात परिव्यय से अधिक रिटर्न।

'केस कॉक्स बनाम हिकमैन, (1860) 8 एचएलसी 268',125 आरआर 148": इस संबंध में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाया। फैसला सुनाते हुए हाउस ऑफ लॉर्ड्स के लॉर्ड क्रैनवर्थ ने कहा कि मुनाफे का दोहरा बंटवारा इस बात का अच्छा सबूत है कि जिस व्यवसाय में मुनाफा हुआ है, वह उन व्यक्तियों की ओर से किया जा रहा है जो मुनाफा बांट रहे हैं। इस ऐतिहासिक निर्णय का कुल परिणाम यह है कि कोई भी व्यक्ति तब तक भागीदार नहीं है जब तक उसे व्यवसाय के लाभ को साझा करने का अधिकार न

(4) आपसी एजेंसी– कॉक्स बनाम हिकमैन में निर्धारित सिद्धांत पर चर्चा करें।

साझेदारी के गठन के लिए पारस्परिक एजेंसी का अस्तित्व भी आवश्यक है। साझेदारी अधिनियम, 1932 की धारा 4 के अनुसार साझेदारी व्यवसाय को सभी या उनमें से किसी एक द्वारा सभी के लिए कार्य करते हुए चलाया जाना चाहिए। यह किसी भी भागीदार को दूसरों की ओर से व्यवसाय चलाने में सक्षम बनाता है। इसलिए, प्रत्येक साझेदार फर्मों की ओर से अकेले अपने कार्य से अन्य साझेदारों को बाध्य कर सकता है। प्रत्येक भागीदार किसी अन्य भागीदार का एजेंट हो सकता है और संबंध पारस्परिक एजेंसी का होता है।

'ए' अपने नाम पर एक लिमिटेड कंपनी के वैगनों की लोडिंग और अनलोडिंग का व्यवसाय करता है। 'ए' व्यवसाय के प्रबंधन के लिए 'बी' को नियुक्त करता है। उनके बीच यह सहमति हुई कि श्बीश को पारिश्रमिक के रूप में शुद्ध लाभ में से 75 पैसे का हिस्सा मिलेगा और 'ए' को 25 पैसे मिलेंगे लेकिन नुकसान के लिए उत्तरदायी नहीं होगा। क्या 'ए' और 'बी' भागीदार हैं?

इस उदाहरण में, ए और बी के बीच समझौता है, समझौता व्यापार को आगे बढ़ाने के लिए है और समझौते का उद्देश्य या मकसद मुनाफे को विभाजित करना है लेकिन चौथा तत्व यानी आपसी एजेंसी अनुपस्थित है। इसलिए, ए और बी भागीदार नहीं हैं। तथ्य यह है कि ए नुकसान के लिए उत्तरदायी नहीं है, यह दर्शाता है कि कोई पारस्परिक एजेंसी नहीं है।

यह किसी भी भागीदार को दूसरों की ओर से व्यवसाय चलाने में सक्षम बनाता है। इसलिए, प्रत्येक भागीदार फर्म की ओर से किए गए अपने कार्य से अन्य भागीदारों को बाध्य कर सकता है। प्रत्येक भागीदार किसी अन्य भागीदार का एजेंट हो सकता है और संबंध पारस्परिक एजेंसी का होता है।
यह कॉक्स बनाम हिकमैन, (1860) 8 एचएलसी 268 का सिद्धांत है।
"एस और एस साझेदारी में लोहे के व्यापारी थे। वे आर्थिक रूप से शर्मिंदा हो गए और इसलिए, उन्होंने अपने ऋणदाताओं के साथ समझौता कर लिया। समझौते के तहत फर्म की संपत्ति ट्रस्टी के रूप में चुने गए कुछ लेनदारों को सौंपी गई थी। उन्हें लेनदारों के बीच शुद्ध आय को उचित अनुपात में विभाजित करने के लिए व्यवसाय जारी रखने का अधिकार दिया गया था और ऋण चुकाने के बाद, व्यवसाय को एस और एस को वापस कर दिया जाना था। कॉक्स ट्रस्टी में से एक था, हालांकि उसने कभी काम नहीं किया। दूसरे ट्रस्टी ने व्यवसाय जारी रखा। उन्होंने वादी हिकमैन से कोक की एक मात्रा खरीदी और उसे कीमत के बदले में एक बिल दिया। बिल का भुगतान बाकी है. हिकमैन ने कीमत के लिए कॉक्स सहित ट्रस्टी के खिलाफ कार्रवाई की।

<u>प्रश्न 10–</u> क्या एक अवयस्क भागीदारी फर्म में भागीदारी हो सकता है? भागादारी (साझेदारी) में अवयस्क की स्थिति वर्णन कीजिए। एक अवयस्क जिसे भागीदार फर्म में लाभ में हिस्सा प्राप्त करने के लिए सम्मिलित किया गया, के अधिकारों एवं दायित्वों की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

<u>उत्तर–</u> भारतीय वयस्कता अधिनियम की धारा 3 के अनुसार, जिस व्यक्ति ने वयस्कता की आयु अर्थात 18 वर्ष प्राप्त नहीं की है, उसे नाबालिग कहा जाता है।

भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1932 की धारा 4, साझेदारी और साझेदार को इस प्रकार परिभाषित करती है–
'साझेदारी उन व्यक्तियों के बीच का संबंध है जो सभी के लिए काम करने वाले या उनमें से किसी एक द्वारा किए गए व्यवसाय के मुनाफे को साझा करने के लिए सहमत हुए हैं। जिन व्यक्तियों ने एक–दूसरे के साथ साझेदारी की है उन्हें व्यक्तिगत रूप से 'साझेदार' और सामूहिक रूप से एक 'फर्म' कहा जाता है, और जिस नाम के तहत उनका व्यवसाय चलता है उसे 'फर्म का नाम'कहा जाता है।
सरल शब्दों में, साझेदारी किसी व्यवसाय के मुनाफे को साझा करने के लिए व्यक्तियों के बीच एक समझौता है और जो व्यक्ति इस समझौते में प्रवेश करते हैं उन्हें भागीदार कहा जाता है।
जैसा कि हमने भारतीय अनुबंध अधिनियम, 1872 में देखा है, नाबालिग किसी समझौते में पक्षकार नहीं हो सकते। किसी नाबालिग से जुड़ा समझौता आरंभ से ही शून्य होता है। हालाँकि, भारतीय साझेदारी अधिनियम में नाबालिगों के संबंध में कानूनी नियमों का अपना सेट है।

नाबालिग ने साझेदारी से लाभ प्राप्त करना स्वीकार किया

एक साझेदारी फर्म का गठन किसी नाबालिग को एकमात्र अन्य सदस्य के रूप में करके नहीं किया जा सकता है। साझेदारी का संबंध एक अनुबंध से उत्पन्न होता है। श्रीराम सरदारमल डिडवानी बनाम गौरीशंकर मामले में, यह माना गया कि एक नाबालिग अनुबंध करने में अक्षम है और इसलिए, एक नाबालिग के साथ साझेदारी का अनुबंध नहीं किया जा सकता है।
सीआईटी बनाम द्वारकादास एंड कंपनी में, सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि एक नाबालिग किसी मौजूदा फर्म में पूर्ण भागीदार नहीं बन सकता है। धारा 30 जो एकमात्र रियायत देती है वह यह है कि एक नाबालिग को मौजूदा फर्म के लाभों में प्रवेश दिया जा सकता है। माननीय न्यायाधीश ने फिर निरीक्षण करना जारी रखा–
"भारतीय भागीदारी अधिनियम की धारा 30 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि एक नाबालिग भागीदार नहीं बन सकता है, हालांकि, वयस्क भागीदारों की सहमति से, उसे साझेदारी के लाभों में शामिल किया जा सकता है। कोई भी दस्तावेज जो इस धारा से आगे जाता है उसे पंजीकरण के उद्देश्य के लिए वैध नहीं माना जा सकता है।''
एस.सी. मंडल बनाम कृष्णधन में यह माना गया था कि साझेदारी अधिनियम की धारा 4 के तहत, एक फर्म का अर्थ उन लोगों का एक समूह है जिन्होंने आपस में साझेदारी का अनुबंध किया है और इसे अनुबंध अधिनियम की धारा 11 के साथ पढ़ा जा सकता है। यह समझा जाए कि कोई नाबालिग अनुबंधित साझेदारी का हिस्सा नहीं हो सकता। किसी नाबालिग को केवल साझेदारी के लाभों में प्रवेश दिया जा सकता है, और वह साझेदारी स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में होनी चाहिए। साथ ही, दो नाबालिगों के बीच अनुबंध नहीं हो सकता। संक्षेप में, किसी नाबालिग को इसके लाभों में प्रवेश देने से पहले दो प्रमुख साझेदारों के बीच साझेदारी होनी चाहिए।

नाबालिग के अधिकार

(1) साझेदारी के लाभों के लिए स्वीकृत एक नाबालिग के पास पूर्ण साझेदार के सभी अधिकार हैं।

(2) ऐसा नाबालिग संपत्ति के अपने सहमत शेयरों और फर्म के मुनाफे का हकदार है।

(3) ऐसे नाबालिग को फर्म के खातों की किताब तक पहुंचने और उसकी प्रतियां लेने का अधिकार है। इसका मतलब यह है कि उसे फर्म की उन अन्य पुस्तकों तक पहुंच का कोई अधिकार नहीं है जिनमें खाते के मामले शामिल नहीं हैं। धारा 30(2),

(4) ऐसा नाबालिग फर्म के ऋणों के लिए तीसरे पक्ष के प्रति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं है, लेकिन उसकी देनदारी केवल साझेदारी परिसंपत्तियों और मुनाफे में उसके शेयरों तक ही सीमित है।

उदाहरण के लिए, यदि साझेदारी की संपत्ति फर्म के ऋणों को अलग करने में कम पड़ती है तो ऋण के भुगतान के लिए नाबालिग की अलग निजी संपत्ति का उपयोग नहीं किया जा सकता है।

(1) ऐसा नाबालिग फर्म की संपत्ति या मुनाफे में अपने हिस्से के खाते या भुगतान के लिए भागीदारों के खिलाफ कोई मुकदमा नहीं ला सकता जब तक कि वह पहले फर्म के साथ अपना संबंध पूरा नहीं कर लेता। ख्धारा 30(4),

(2) ऐसा नाबालिग व्यवसाय के संचालन में भाग लेने का हकदार नहीं है क्योंकि उसके पास फर्म को बाध्य करने की कोई प्रतिनिधि क्षमता नहीं है।

(3) जहां नाबालिग अपनी पसंद से या निर्दिष्ट समय के भीतर यानी वयस्क होने के छह महीने के भीतर साझीदार बनने में विफल रहता है, तो वह अपनी तिथि से पूर्वव्यापी रूप से फर्म के सभी ऋणों के लिए तीसरे पक्ष के प्रति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हो जाता है। साझेदारी के लाभों में प्रवेश.

यदि नाबालिग भागीदार न बनने का चुनाव करता है तो उसके अधिकार–

(1) सार्वजनिक सूचना देने की तारीख तक उसके अधिकार और दायित्व एक नाबालिग के समान बने रहेंगे।

(2) नोटिस की तारीख के बाद किए गए फर्म के किसी भी कार्य के लिए उसका हिस्सा उत्तरदायी नहीं होगा

(3) वह संपत्ति और मुनाफे में अपने हिस्से के लिए साझेदारों पर मुकदमा करने का हकदार होगा।

यदि वयस्क होने की आयु प्राप्त करने के बाद, लेकिन भागीदार बनने का चयन करने से पहले, नाबालिग प्रतिनिधित्व करता है और जानबूझकर खुद को फर्म में भागीदार के रूप में प्रतिनिधित्व करने की अनुमति देता है, तो वह व्यक्तिगत रूप से किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी होगा जिसने इस तरह के प्रतिनिधित्व के विश्वास पर फर्म को क्रेडिट दिया हो। 'पकड़ने' के आधार पर।

अल्पवयस्कता के दौरान दायित्व धारा 30(3),

धारा 30 की उपधारा 3 कहती है कि ''ऐसे नाबालिग का हिस्सा फर्म के कृत्यों के लिए उत्तरदायी है, लेकिन नाबालिग ऐसे किसी भी कृत्य के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं है।''

अडेपल्ली नागेश्वर राव और ब्रदर्स बनाम सीआईटी में, आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने कहा कि–

"यदि वह पूंजी का योगदान देता है या फर्म के मुनाफे में लाभ पाने का हकदार है, तो यह उस सीमा तक है कि दायित्व नाबालिग पर तय किया जा सकता है। लेकिन किसी भी मामले में, नाबालिग के व्यक्ति या उसकी अन्य संपत्ति, जिसे वह साझेदारी की संपत्ति में नहीं लाया है, को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। यह भारतीय साझेदारी अधिनियम की धारा 30(3) का उद्देश्य और दायरा है।''

वयस्कता की आयु प्राप्त करने के बाद दायित्व–

भारतीय साझेदारी अधिनियम की धारा 30 की उप–धारा (5) से (9) एक नाबालिग साझेदार के वयस्क होने के परिणामों से संबंधित है–

(1) उसे यह तय करने के लिए छह महीने का समय दिया जाता है कि क्या उसे कंपनी छोड़ देनी चाहिए या पूर्ण भागीदार बनकर इसमें बने रहना चाहिए। इसे नाबालिग की पसंद कहा जाता है, अर्थात् फर्म से बाहर निकलने या उसमें बने रहने का अधिकार। ख्धारा 30(5),

(2) जहां नाबालिग का दावा है कि उसे अपने प्रवेश के बारे में कोई जानकारी नहीं थी और इसलिए, उसे जानकारी की तारीख से छह महीने की अनुमति दी जानी चाहिए, यह साबित करने का भार नाबालिग पर है कि उसे कोई जानकारी नहीं थी। धारा 30(6),

जब नाबालिग साझीदार बन जाता है–

(1) उसके साथ एक सामान्य भागीदार के रूप में व्यवहार किया जाएगा, लेकिन वह साझेदारी के लाभों के लिए पहली बार स्वीकार किए जाने के बाद से किए गए फर्म के सभी कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी बन जाता है। ख्धारा 30(7)(ए),

(2) फर्म की संपत्ति और मुनाफे में उसका हिस्सा वही रहेगा जो उसके अल्पमत के दौरान था। ख्धारा 30(7)(बी),

जहां नाबालिग भागीदार न बनने का चुनाव करते हैं।

(1) उसके अधिकार और दायित्व उस समय तक वही बने रहेंगे जब तक वह सार्वजनिक सूचना नहीं देता। ख्धारा 30(8)(ए),

सार्वजनिक सूचना की तारीख से, फर्म के किसी भी भविष्य के कार्य के लिए उसके शेयर का दायित्व समाप्त हो जाता है। धारा 30(8)(बी),

(2) वह संपत्ति और मुनाफे में अपना हिस्सा वापस पाने के लिए फर्म के साझेदारों पर मुकदमा करने का हकदार हो जाता है। धारा 30(8)(सी),

(3) जहां नोटिस के बावजूद, नाबालिग कोई कार्य करता है जो यह दर्शाता है कि वह फर्म में भागीदार है, धारा 28 यानी इस कृत्य को रोकना तुरंत अस्तित्व में आता है और फर्म को क्रेडिट देने वाले किसी भी व्यक्ति के प्रति दायित्व उत्पन्न होगा प्रतिनिधित्व पर अपना विश्वास रखना। धारा 30(9),

प्रश्न 11. विक्रय को परिभाषित कीजिए। विक्रय के आवश्यक तत्त्वों की व्याख्या कीजिए। विक्रय तथा विक्रय करार में अन्तर कीजिए। अथवा बिक्री को परिभाषित करें। बिक्री के आवश्यक तत्वों पर चर्चा करें। बिक्री और बिक्री के लिए समझौते के बीच अंतर बताएं।

उत्तर–विक्रय की परिभाषा (Definition of Sale)– किसी वस्तु का विक्रय एक प्रकार की संविदा है। इस संविदा में किसी निश्चित मूल्य पर एक पक्षकार किसी वस्तु का स्वामित्व दूसरे पक्षकार को अन्तरित करता है या अन्तरित करने का करार करता है।

वस्तु विक्रय अधिनियम, 1930 (जो पहले संविदा अधिनियम, 1872 का एक अंग था) की धारा 4 विक्रय की परिभाषा देती है। धारा 4 के अनुसार वस्तु के विक्रय की संविदा एक ऐसी संविदा है जिसमें विक्रेता किसी वस्तु में सम्पत्ति का अन्तरण क्रेता को एक मूल्य के लिए करता है या अन्तरित करने का करार करता है।

इस प्रकार, विक्रय एक प्रकार की संविदा है जिसमें किसी मूल्य के लिए एक वस्तु (माल) में स्वामित्व वस्तु के स्वामी (विक्रेता) द्वारा किसी अन्य व्यक्ति (क्रेता) को अन्तरित किया जाता है या भविष्य में वस्तु का स्वामित्व अन्तरित करने का करार (Agreement) किया जाता है विक्रय में संविदा के सभी आवश्यक तत्त्व विद्यमान होते हैं।

विक्रय के आवश्यक तत्त्व (Essential Elements of Sale)–माल का विक्रय स्वयं अपने में पूर्ण नहीं होता। उसके लिए कुछ आवश्यक प्रतिबन्धों की पूर्ति करनी होती है। इन उपबन्धों की पूर्ति के बिना माल का विक्रय पूरा नहीं हो पाता सामान्यतः माल के विक्रय के लिए निम्नलिखित तत्व आवश्यक हैं–

(1) माल विक्रय की संविदा करने वाले दो पक्ष (Parties competent to contract)–बिना दो व्यक्तियों के माल का विक्रय पूरा नहीं होता। एक ही व्यक्ति क्रेता और विक्रेता दोनों ही नहीं हो सकता। यदि एक ही व्यक्ति स्वयं अपना माल खरीद लेता है तो वह किसी प्रकार भी नहीं माल बेचता। इस धारा की परिभाषा ऐसी स्थिति में लागू नहीं होती। यदि स्वयं क्रेता, किसी माल का विक्रय होने से पहले ही सेवा स्वामी है तो माल के स्वामित्व का हस्तांतरण विक्रय नहीं कहा जायेगा। इस सन्दर्भ में भी कुछ अपवाद होते हैं। यह अपवाद अग्रलिखित हैं–

(क) जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी माल को दूसरे को बेचता है उसी प्रकार एक भागीदार यह अधिकार होता है कि वह अपने ही फर्म को कोई माल अथवा फर्म का भाग अन्य भागीदार बेच दे। इस सन्दर्भ में न्यायालय द्वारा फैसला हो चुका है।

एक क्लब के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। सम्भव है कि कोई क्लब किसी सदस्य भोजन या और कुछ प्रदान करे और उसके लिए सदस्य से वह मूल्य भी प्राप्त करे। यद्यपि इस प्रकार का लेन–देन एक विक्रय जैसा ही होगा, किन्तु न्यायालय की दृष्टि में ऐसा नहीं माना जाता वहाँ यह स्वीकार किया जाता है किसी क्लब अथवा स्वेच्छित संस्था के सदस्य उसके संयुक्त स्वामी होते हैं, आंशिक नहीं। इस दृष्टि से क्लब और भागीदारी के फर्म में अन्तर होता है।

(ख), जब, नियमतः अथवा न्यायालय के आदेश के अनुसार, यदि किसी व्यक्ति को, जिसे अन्य व्यक्ति के माल को बेचने का अधिकार होता है तो उस माल के स्वामी को अपने माल को ही खरीदने का अधिकार

होता है। उदाहरणार्थ, दिवालिया हो जाने के कारण यदि किसी व्यक्ति का माल बिक रहा है तो उस माल का मालिक न्यासधारियों (Trusstees) से अपना माल खरीद सकता है।

(2) परस्पर सहमति (Mutual consent)— माल की बिक्री के लिए यह आवश्यक है कि क्रेता विक्रेता दोनों ही माल को खरीदने और बेचने के लिए तैयार है और स्वीकृति प्रदान की है।

(3) माल की सम्पत्ति का हस्तांतरण (Transfer of the property) — माल की बिक्री के लिए यह आवश्यक है कि सम्पत्ति का वास्तविक हस्तांतरण (Actual transfer) हों। ऐसा भी हो सकता है कि संविदा कर ली जाय कि भविष्य में, कुछ शर्तों की पूर्ति पर माल का परिदान (Delivery of goods) हो जायेगा किन्तु ऐसी स्थिति में, यह देख लेना होगा कि माल वास्तव में बेच दिया गया है अथवा विक्रयार्थ संविदा की गयी।

(4) मूल्य का मुद्रा अथवा धन के रूप में अदा किया जाना (Transfer for consideration of money)— बिक्री में, माल की सम्पत्ति या स्वामित्व का हस्तांतरण, सामान्यतः धन (Money) का प्रतिफल लेकर (Consideration) अथवा बदले में होता है। धन का प्रतिफल नहीं होता, तो सम्पत्ति के हस्तान्तरण को बिक्री नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में सम्पत्ति का हस्तान्तरण नहीं होगा और होगा भी तो वह भेंट है और दान (Gift) कहलायेगा।

(5) बिक्री के लिए प्रस्ताव अथवा निवेदन (Offer) और उसकी स्वीकृति— बिक्री में यह आवश्यक है कि विक्रेता अपने माल की बिक्री के लिए प्रस्ताव अथवा निवेदन करे या बिक्री के लिए अपने माल को पेश करे और क्रेता उसे खरीदे। इन तत्वों की पूर्ति के बिना विक्रय की प्रतिक्रिया पूर्ण नहीं की जायेगी। आवश्यक है कि इन बातों की पूर्ति करा दी जाय।

विक्रय तथा विक्रय के करार में अन्तर

(बिक्री और बिक्री के लिए समझौते के बीच अंतर)

विक्रय तथा विक्रय के करार के प्रभाव भिन्न होंते हैं। अतः माल विक्रय अधिनियम की धारा 4(3) में इन दोनों के मध्य अन्तर स्पष्ट किया गया है। इस धारा के अनुसार जहाँ वस्तु से स्वत्व (Title) या सम्पत्ति विक्रेता से क्रेता को तुरन्त अन्तरित हो जाती है वहाँ संव्यवहार विक्रय कहलाता है परन्तु यदि क्रेता को स्वामित्व का अन्तरण किसी करार के अन्तर्गत निहित किसी शर्त के पूरा होने के पश्चात् होना है उस संव्यवहार को विक्रय का करार कहते हैं।

विक्रय तथा विक्रय के करार में निम्नलिखित अन्तर हैं—

क्रसं	विक्रय (Sale)	विक्रय का करार (Agrrement to Sale)
1	विक्रय में, माल में स्वामित्व का अन्तरण विक्रेता से क्रेता को तुरन्त विक्रय के समय ही हो जाता है।	विक्रय के करार में माल में स्वामित्व का अन्तरण तुरन्त न होकर करार में निर्धारित किसी शर्त को पूरा होने पर होता है।
2	विक्रय में क्रेता विक्रय की विषय—वस्तु का स्वामी तुरन्त हो जाता है तथा वह स्वामित्व के सभी अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।	विक्रय के करार में क्रेता विषय—वस्तु (माल) का स्वामी तुरन्त नहीं होता परन्तु करार में निर्धारित शर्त के अनुसार स्वामित्व प्राप्त होता है।
3	विक्रय में प्राप्त अधिकार को (Jus in rem) या सर्वसम्बन्धी अधिकार कहते हैं।	विक्रय के करार में प्राप्त अधिकार (Jus in personam) व्यक्तिवादी अधिकार होता है।
4	विक्रय हो जाने पर माल की हानि का जोखिम क्रेता पर होता है।	विक्रय के करार में जब तक विक्रय पूर्ण नहीं होता माल में जोखिम विक्रय में ही निहित होता है।
5	विक्रय में यदि क्रेता मूल्य नहीं देता तो विक्रेता मूल्य प्राप्त करने के लिए वाद ला सकता है।	विक्रय के करार में विक्रेता मूल्य के लिए नहीं परन्तु संविदा भंग के लिए प्रतिकर के लिए वाद ला सकता है।

प्रश्न 12. व्यपदेशन द्वारा भागीदारी से आप क्या समझते हैं? कब एक व्यक्ति इस रूप में उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? ऐसे दायित्व का क्या आधार है?

उत्तर—व्यपदेशन का सिद्धान्त (Theory of Holding out)— साझेदारी अधिनियम की **धारा 28** व्यपदेशन के सिद्धान्त (Doctrine Holding out) का उल्लेख करती है। इसे प्रयुक्त प्रदर्शन का सिद्धान्त भी कहते हैं। इस धारा का आधार प्राकृतिक न्याय (Natural justice) का वह प्रचलित सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत अगर कोई व्यक्ति अपने आपका किसी पक्षकार के सामने मिथ्या प्रदर्शन प्रतिनिधित्व करता है या करने के लिए स्पष्ट आचरण से इजाजत देता है, ऐसे मिथ्या प्रदर्शन या प्रतिनिधित्व से तीसरे पक्षकार की स्थिति में कुछ परिवर्तन आ जाता है मिथ्या प्रदर्शन व प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति अपने कथन के लिए उत्तरदायी है।

धारा 28 में वर्णित व्यपदेशन का सिद्धान्त (Holding out) भारतीय साक्ष्य अधिनियम की **धारा 115** में निहित विबन्ध के सिद्धान्त (Doctrine of Estoppel) का एक रूप है। उपर्युक्त धारा के अनुसार कोई व्यक्ति मौखिक या लिखित कथन या अपने आचरण (Conduct) के द्वारा अपने आपको किसी फर्म का साझेदार होना निरूपित करता है या जान–बूझकर किसी अन्य व्यक्ति को ऐसा निरूपण (Representation) कर देता है तो वह उस फर्म के रूप में ऐसे किसी व्यक्ति के प्रति दायी है जिसने कि ऐसे किसी निरूपण के विश्वास पर फर्म ऋण दिया है, चाहे अपने को साझेदार निरूपित (represented) करने वाला या किये जाने वाले व्यक्ति की यह जानकारी हो अथवा न हो कि वह निरूपण ऋणदाता तक भी पहुँचा है।

उपर्युक्त सिद्धान्त तृतीय पक्ष के प्रति दायित्व के सम्बन्धों का ही वर्णन करता है तृतीय पक्ष के प्रति फर्म ऐसे ऋण के लिए उत्तरदायी है जो कि साझेदार नहीं है फिर भी उसका उत्तरदायित्व है। किसी भी व्यक्ति को व्यपदेशन (Holding out) के आधार पर दायी ठहराने के लिए निम्न तथ्यों को पूरा होना आवश्यक है–

(1) जान–बूझकर इस प्रकार का व्यपदेशन करने दिया जाये– जहाँ पर कि व्यक्ति अपने आपको किसी फर्म का साझेदार बताता है या दूसरे के द्वारा साझेदार के रूप में नाम प्रस्तावित करने पर कोई एतराज नहीं करता, व्यपदेशन की परिभाषमें आता है क्योंकि इन दोनों कार्यों का परिणाम एक ही है। परन्तु जहाँ पर एक व्यक्ति का ज्ञान नहीं रखता पर कि उसको दूसरा व्यक्ति कहीं पर मिथ्या साझेदार के रूप में प्रस्तावित कर रहा है, उस व्यक्ति पर किसी प्रकार का दायित्व नहीं डालता। कहने का तात्पर्य है जिस व्यक्ति को फर्म के साझेदार के रूप में प्रतिनिधि बनाया गया है उसके इस तथ्य की जानकारी होने पर ही दायी ठहराया जा सकता है।

(2) उसने लिखित या मौखिक कथन या अपने आचरण (Conduct) द्वारा किसी फर्म का साझेदार होना व्यपदेशित (Represent) किया है– व्यपदेशन के लिए किसी निश्चित प्रकार का स्रोत ही इस्तेमाल करना आवश्यक नहीं है। ऐसा व्यपदेशन (representation) परोक्ष या अपरोक्ष दोनों ही रूप में हो सकता है। **तुलसीदास बनाम लेयन एण्ड कम्पनी, ए. आई. आर. 1925 सिन्ध 225** के वाद में कहा गया कि व्यपदेशन (Holding out) के मामले में साक्ष्य बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए। व्यक्ति के द्वारा जो प्रतिनिधित्व किया जाये उससे फर्म का साझेदार प्रकट होना चाहिए। अबार उससे साझेदार बनने की इच्छा की अभिव्यक्ति की जाये तो वह धारा 28 को लागू नहीं करती।

(3) व्यपदेशन पर विश्वास करके ऋण (Debt) दिया गया हो– व्यपदेशन के किसी वाद के लिए या आवश्यक है कि जिस व्यक्ति को यह सम्बोधित किया गया हो उस व्यक्ति ने इस प्रतिनिधित्व पर विश्वास का ऋण (Debt) प्रदान कर दिया हो। यही सिद्धान्त साक्ष्य में विबन्ध (estoppel) का है। अगर कथन से दूसरे पक्षकार की पूर्व स्थिति में अन्तर नहीं आता तो यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। कोई ऐसा व्यक्ति जिसे व्यपदेशन की जानकारी नहीं है, फर्म के साथ कोई व्यवसाय सम्बन्धी कार्य करता है तो वह इस व्यपदेशन का लाभ नहीं प्राप्त कर सकता है। केवल वही व्यक्ति लाभ प्राप्त करते हैं जिनको कि ऐसा व्यपदेशन सम्बोधित किया जाता है। ऐसे सम्बोधन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्यक्ष रूप से किया गया हो। अगर अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा सम्बोधन इस इरादे से किया गया है कि दूसरा व्यक्ति उसे बार–बार दोहराये ताकि वह तृतीय पक्षकार के लिए सत्य या विश्वास का आधार बन जाये।

किसी भी व्यक्ति को साझेदार के रूप में दायी के रूप में दायी ठहराने के लिए केवल उसके द्वारा व्यपदेशन देना ही आधार नहीं बनाया जा सकता है, परन्तु उस व्यपदेशन पर विश्वास कर दूसरे पक्षकार ने फर्म को ऋण दिया हो। अगर वह व्यक्ति जिस पर व्यपदेशन का निरूपण किया जाता है उसे सत्य नहीं मानता या उस पर किसी प्रकार का आचरण नहीं करता है तो व्यपदेशन करने वाले व्यक्ति पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं आता।

यह सिद्धान्त साझेदार (retire partner) पर भी लागू होता है। अगर निवृत्त साझेदार ने अपनी निवृत्ति की सार्वजनिक सूचना नहीं दी है और कोई व्यक्ति फर्म को इस आधार पर ऋण दे देता है कि निवृत्त साझेदार वस्तुस्थिति में साझेदार ही है, निवृत्त साझेदार को उत्तरदायी बनाता है। **धारा 32(3)** में भी यह आवश्यक है कि निवृत्त साझेदार अपनी निवृत्ति की सूचना उचित तरीके से दे।

व्यपदेशन के सिद्धान्त के अपवाद– व्यपदेशन के सिद्धांत निम्नलिखित मामलों में लागू नहीं होते हैं–

(1) मृत साझेदार–चूँकि मृत्यु स्वयं लोक सूचना होती है, मृतक साझेदारी की सम्पत्ति या साझेदारी फर्म में उसके हिस्से के सम्बन्ध में व्यपदेशन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। **धारा 28(2) के अनुसार,** ''जहाँ कि किसी साझेदार की मृत्यु के पश्चात् नहीं।''

(2) दिवालिया (Insolvent partner)– धारा 45(1) के अनुसार ''फर्म के विघटन हो जाने पर भी, जब तक विघटन की लोक सूचना न दे दी जाये, साझेदारी उसमें से किसी ऐसे कार्य के लिए जो विघटन से पहले किया जाने पर फर्म का कार्य होता पर व्यक्तियों के प्रति साझेदार के नाते दायी नहीं रहेंगे।'' परन्तु यह सिद्धान्त दिवालिया साझेदार के मामले में लागू नहीं होता है। **धारा 45 (1) के परन्तुक के अनुसार**, ''परन्तुक साझेदार मर जाता है या दिवालिया न्याय निर्णीत कर दिया जाता है, या जो साझेदार उसका साझेदार होना फर्म के साथ व्यवहार करने वाले व्यक्ति को ज्ञान न होते हुये, से निवृत्त हो जाता है, उसकी सम्पदा उसके साझेदार न रहने की तिथि के पश्चात् किए गये कार्यों के लिए इस धारा के अधीन दायी न होगी।''

(3) निष्क्रिय साझेदार (Dormant Partner) – निष्क्रिय साझेदार से तात्पर्य ऐसे साझेदार से होता है जिसका साझेदार होना फर्म के साथ व्यवहार करने वाले व्यक्ति को सामान्यतया ज्ञात नहीं होता है। **धारा 45 (1) के परन्तुक**, में निष्क्रिय साझेदार को सम्मिलित किया गया है। दूसरे शब्दों में मृतक तथा दिवालिया साझेदार के समान निष्क्रिय साझेदार के मामले में भी व्यपदेशन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। अतः उस निवृत्त होने की सार्वजनिक सूचना देना आवश्यक है। परन्तु यदि कुछ ग्राहकों को फर्म में उसके साझेदार होने का ज्ञान है, तो उन्हें सार्वजनिक सूचना देना आवश्यक होगा।

यही सिद्धान्त उस दशा में भी लागू होगा जहाँ निवृत्त होने वाले साझेदार के बारे में वादी को ज्ञान नहीं है। अर्थात् वादी फर्म के साथ व्यवहार करता है परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं है कि निवृत्त होने वाला साझेदार फर्म में साझेदार है। ऐसी दशा में व्यपदेशन का प्रश्न ही नहीं उठता है। **धारा 32(3) के परन्तुक के अनुसार**, जहाँ निवृत्त होने वाले साझेदार अपने निवृत्त होने के बारे में लोक सूचना देने में असफल रहता है, निवृत्त होने वाला पक्षकार व्यपदेश के लिए दायी नहीं होगा। यदि फर्म से व्यवहार करने वाले तीसरे पक्षकार को इस बात का ज्ञान नहीं है कि वह फर्म में पक्षकार था। अतः प्रत्यर्थी संख्या में निवृत्त होने के पश्चात् लोक सूचना न देने के बावजूद भी दायी नहीं होगा।

प्रश्न 13. 'क्रेता सावधान' सिद्धान्त को समझाइए और इसमें अपवादों की यदि कोई हो, विवेचना कीजिए

उत्तर–Careat Emptor शब्द लैटिन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'क्रेता सावधान रहे' (Let the buyer beware)। यह सामान्य सिद्धान्त की बात है कि क्रेता माल खरीदते समय सावधान रहे अर्थात् वह अपने हितों की स्वयं ही रक्षा करें।

यह नियम अधिनियम की धारा–16 के प्रारम्भिक शब्दों में दिया गया हो। इसके अनुसार–इस अधिनियम तथा किसी अन्य कानून के प्रावधान के अधीन, विन्क्रय–अनुबन्ध के अन्तर्गत बेचे गये माल के गुण अथवा किसी उद्देश्य के लिए उपयुक्तता सम्बन्धी कोई गर्भित शर्त अथवा आश्वासन नहीं होता।

इस प्रकार, क्रेता को सावधानीपूर्वक क्रय करना चाहिए। वह माल को अच्छी तरह से ही देखभाल करके ही खरीदे। यदि यह खराब, अनुपयुक्त एवे दोषपूर्ण माल खरीद लेता है इसमें विक्रेता को दोष नहीं होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार–क्रेता का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह माल क्रय करते समय पूर्णतः सावधान रहे तथा अपने विवेक एवं चतुराई से काम लें। उसे माल अच्छी तरह से जाँच कर लेनी चाहिए। यदि क्रेता माल को क्रय करते समय अपनी स्वयं की बुद्धि, विवेक व कौशल पर निर्भर करता है और भी माल दोषपूर्ण निकल जाता है तो इसके लिए क्रेता ही उत्तरदायी होगा।

जोन्स बनाम जस्ट के वाद में यह स्पष्ट कर दिया गया कि यदि विक्रेता द्वारा कोई कपट नहीं किया गया है तो क्रेता द्वारा क्रय किये गये माल के दोषों के लिए विक्रेता को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है।

'क्रेता सावधान' नियम के अपवाद–क्रेता सावधान के सिद्धान्त से अधिक महत्वपूर्ण इसके अपवाद हैं। वर्तमान समय में व्यावसायिक जगत् में यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक क्रेता वस्तु को स्वयं जाकर परीक्षण कर संविदा को पूर्ण कर सके। अतः अत्यधिक क्रय व विक्रय पत्रों द्वारा व विवरण के आधार पर किये जाते हैं।

(1) गुणवत्ता हेतु उपलक्षित शर्त (Implied comptition as to quality or fitness)–धारा–16 (1) के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि विक्रेता द्वारा प्रदाय (नचचसल) माल क्रेता के उद्देश्य हेतु उपयोग होनी चाहिए। इस तथ्य को प्रभावित करने हेतु निम्न बातें आवश्यक हैं–

(क) क्रेता द्वारा विक्रेता के क्रय की जाने वाली वस्तु की विशिष्ट उपयोग की जानकारी दी जानी चाहिए।

(ख) क्रेता के द्वारा विक्रेता के विवेक व निर्णय पर विश्वास किया जाना चाहिए।

(ग) माल ऐसे वर्णन (Discription) का होना चाहिए जो विक्रेता के व्यापार के क्रम हो।

लार्ड राइट ने विशिष्ट उद्देश्य की व्याख्या करते हुए कहा कि धारा के शब्दों में इसका कोई महत्व नहीं है। क्रेता किसी वस्तु को खरीदता है तब उसका एक उद्देश्य अवश्य होता है। उसको विक्रेता को बताने या न बताने से किसी प्रकार का अन्तर डालना अधिक न्यायोचित नहीं है।

राघव मेनन बनाम फुईटापन नैयर—एक व्यक्ति घड़ीसाज को खराब घड़ी वापस देने के लिए न्यायालय द्वारा स्वीकृत कर दिया गया व विक्रेता के इस तर्क को नहीं माना गया कि क्रेता ने विशिष्ट उद्देश्य की जानकारी नहीं दी थी।

(2) वाणिज्योपयोगी गुणवत्ता (Merchantable Quality) — उपर्युक्त सिद्धान्त का एक अन्य अपवाद वाणिज्योपयोगी गुणवत्ता है। इसकी मुख्य शर्त यह है कि वस्तु विक्रेता के द्वारा वर्णनानुसार प्रदाय (Supply) की जानी चाहिए। कई स्थानों पर केवल मात्र वस्तु की माँग करने पर ही उत्पन्न हो जाते हैं। यह कहा गया कि काउण्टर पर किया जाने वाला विक्रय उसी प्रकार वर्णानुसार विक्रय में आता है जैसे कि सूची के आधार पर संविदा किया गया हो। **(गाडले बनाम पेरी (1960) आल इंग्लैण्ड रिपोर्ट (36)** विलियम एल. प्रोफेसर के द्वारा यह कहा गया है 'वर्णानुसार' अत्यंत ही विवादास्पद शब्द है। जिसके तथ्यों के आधार पर विभिन्न अर्थ निकाले जा चुके हैं व निकाले जा सकते हैं।

(3) व्यावसायिक क्रियाएँ (Usges of Trade)– धारा–16 की उपधारा (3) व्यावसायिक प्रथाओं को विधिक महत्व प्रदान करती हैं। यह पूर्व निश्चित सिद्धान्त है कि जहाँ संविदा के उपबन्ध स्पष्ट नहीं हो वहाँ पर व्यावसायिक प्रथाओं को बाहर से प्रवेश दिया जा सकता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ऐसी प्रथा संविदा के उपबन्धों के प्रतिकूल होने पर लागू नहीं की जा सकती।

अतः केवल तर्क संगत प्रथाओं को ही मान्यता दी जायेगी।

(4) कपट से सहमति (Consent by Fraud) — जहाँ विक्रेता के द्वारा कपटपूर्वक या मिथ्या व्यपदेशन से क्रेता की सहमति माल विक्रय करने में ली गई हो वहाँ विक्रेता श्क्रेता सावधानश के सिद्धान्त का लाभ नहीं कर सकता। अतः क्रेता को इसका लाभ प्राप्त होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'क्रेता सावधान' के सिद्धान्त के अत्यधिक महत्वपूर्ण उसके अपवाद हैं। भारत में पूर्व में इस सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता प्राप्त की थी क्योंकि व्यवसाय व व्यापार का विकास स्वतंत्रता से पूर्व अत्यन्त धीमी गति से हुआ था। वर्तमान में माल विक्रय अधिनियम की धारा–16 में स्पष्ट रूप से इसके अपवाद उल्लिखित किये गये हैं। व्यवसाय की प्रगति ने भारत में इस सिद्धान्त के अपवादों को अत्यधिक सक्षम पाया है व न्यायालय के तथ्य के आधार पर उपलक्षित (Implied) शर्त व प्रत्याभूति को ही अत्यधिक महत्व देते हैं।

प्रश्न 14. ऋणदाता, मूलऋणी तथा सहप्रतिभू के विरुद्ध प्रतिभू के कौन–से अधिकार हैं? प्रत्याभूति की संविदा तथा क्षतिपूर्ति की संविदा में अन्तर बताइये।

उत्तर–प्रतिभू के मूलऋणी, ऋणदाता और सहप्रतिभू के विरुद्ध अधिकार–एक प्रतिभू को मूलऋणी ऋणदाता तथा सहप्रतिभू के प्रति निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं–

मूलऋणी के विरुद्ध अधिकार (Right against principal debtor) — एक प्रतिभू को मूलऋणों के विरुद्ध निम्नलिखित अधिकार हैं–

1. प्रत्यासन का अधिकार (Right of Subrogation) — धारा 140 के अनुसार प्रत्यासन का तात्पर्य यह है कि जो ऋणदाता के अधिकार मूल ऋणों के विरुद्ध होते हैं वही अधिकार प्रतिभू की मूल ऋणी के विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि प्रतिभू ऋणदाता को भुगतान अदा करने के पश्चात् वह ऋणदाता का स्थान ग्रहण कर लेता है। उक्त सिद्धान्त को अनुमोदन हरिगोपाल अग्रवाल बनाम दी **स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ए. आई. आर. 1976 मद्रास 211** में किया गया। इस वाद में यह निर्णय दिया गया कि यदि ऋणदाता को रास्ते में माल रोकने का अधिकार है, अथवा विक्रेता को धारणाधिकार है तो प्रतिभू ने ऋणदाता के प्रति यदि अपना दायित्व पूरा कर दिया है तो यह ऋणदाता का स्थान प्राप्त कर लेगा और उन सभी अधिकारों का प्रयोग कर सकता है जिन्हें ऋणदाता कर सकता है।

2. क्षतिपूर्ति का अधिकार (Right of Indemnity) — धारा 145 के प्रत्याभूत के क्षतिपूर्ति के अधिकार का वर्णन किया गया है। प्रत्याभूत सम्बन्धी प्रत्येक कारण मूलबाजारों द्वारा प्रतिभू की क्षतिपूर्ति के लिए उपलक्षित प्रतिज्ञा (Implied promise) करनी होती है। इस प्रतिज्ञा के अन्तर्गत जिसकी भी धनराशि प्रतिभू द्वारा प्रत्याभूत के अधीन ऋणदाता को अदा करनी पड़ी है उसने रशि प्रतिभू मुख्य ऋणट से प्राप्त कर सकता है।

ऋणदाता के विरुद्ध अधिकार (Right against Creditor) — एक प्रतिभू का ऋणदाता के विरुद्ध निम्नलिखित अधिकार हैं–

1. प्रतिभूतियों का अधिकार (Right to securities) — धारा 141 के अन्तर्गत प्रतिभू ऐसी प्रत्येक प्रतिभूति का फायदा उठाने का हकदार है जो उस समय जब कि प्रतिभू की संविदा की जाती है, ऋणदाता का मूल ऋणी के विरुद्ध प्राप्त है भले ही प्रतिभू ऐसी प्रतिभू के अस्तित्व को जानता है या नहीं। ऋणदाता ऐसी प्रतिभूति के मूल्य के बराबर ऋण के दायित्व से मुक्त हो जायेगा।

मध्यप्रदेश बनाम कालूराम ए. आई. आर. 1967 सु. को. 1105 में राज्य सरकार ने सूखे पेड़ों का बेचान किया जिस एक व्यक्ति ने खरीदा। माल की कीमत खरीदार को चार बराबर किस्तों में चुकानी थी, भुगतान की प्रतिभूति सरकार का प्रतिवादी ने दी। भुगतान करने में चूक करने पर सरकार को अधिकार था कि माल का परिवहन रोक ले परन्तु सरकार ने ऐसा नहीं किया तथा सरकार माल के मूल्य के लिए प्रतिभू ने प्रतिवादी पर वाद दायर किया। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि चूँकि राज्य सरकार ने भुगतान में चूक की अवस्था में माल परिवहन नहीं रोका अतः प्रतिभू प्रत्याभूति के दायित्व से मुक्त हो गया।

2. प्रतिपूर्ति का अधिकार (Rights of Set-off) – यदि ऋणदाता प्रतिभू पर वाद दायर करता है तो प्रतिभू को प्रतिभूति का लाभ दिया जाएगा। प्रतिपूर्ति का तात्पर्य है ऋणी अपने दावों को यदि कोई निकलता है तो ऋणदाता को ऋण में समायोजित कर सकता था। प्रतिभू प्रतिदावा आदि का बचाव ले सकता है।

सह–प्रतिभू के विरुद्ध अधिकार (Rights against Co-surety) – एक प्रतिभू का सह–प्रतिभू के विरुद्ध निम्नलिखित अधिकारी है

जहाँ ऋणदाता ने ऋण एक से अधिक प्रतिभूओं की प्रतिभूति पर दिया है वह सभी प्रतिभू परस्पर सह–प्रतिभू (Co-surets) कहलायेंगे।

1. एक प्रतिभू की मुक्ति का प्रभाव (Effect of Releasin Co-surety)– ऋणदाता अपनी इच्छा से किसी भी सह–प्रतिभू को ऋण के दायित्व मुक्त कर सकता है यदि ऋणदाता ने यह सह–प्रतिभू को मुक्त किया तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य प्रतिभू भी उस दायित्व से मुक्त हो जायेंगे। इसी प्रकार की सह–प्रतिभू मुक्त हो गया है वह ऋणदाता द्वारा मुक्त किए जाने पर भी अन्य सह–प्रतिभूति के प्रति उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं होता है।

2. बकाया अंशदान का अधिकार (Right to Contribution)– जहाँ ऋणी के एक से अधिक प्रतिभू हैं वे परम्परा पर प्रतिभू कहलायेंगे। ऐसे व्यवहार में यदि मूल ऋणी ने भुगतान में चूक कर दी है तो ऐस सह–प्रतिभू ऋणदाता को बराबर–बराबर ऋण चुकायेंगे। उदाहरण के लिए।

परन्तु **धारा 147** के द्वारा यदि वे प्रतिभू अलग–अलग राशियों के लिए बाध्य हैं तो वे अपने क्रमागत आधारों (Successive obligations) की सीमाओं के अन्दर रहते हुए बराबर–बराबर भुगतान के लिए दायी होंगे।

प्रत्याभूति तथा क्षतिपूर्ति की संविदाओं में अन्तर

क्रसं	प्रत्याभूति (Gurantee)	(क्षतिपूर्ति)
1	इसमें तीन पक्षकार होते हैं मूलऋणी ऋणदाता तथा प्रतिभू। परन्तु वह आवश्यक नहीं होता है कि मूलऋणी व्यक्त रूप से प्रत्याभूति की संविदा के विलख का पक्षकार हो। इतना काफी है कि वह विवक्षित रूप से पक्षकार है। ("But it is not necessary of sine qua non that the principal debtor must eÛpressty be a party to the document of gurantee as it is adequate if the principal debtor is a party by implication-")	इसमें दो पक्षकार होते हैं– क्षतिपूर्तिः शारी तथा क्षतिपूर्तिकर्त्ता।
2	प्रत्याभूति की संविदा ऋणदाताओं की सुरक्षा के लिए होती है।	क्षतिपूर्ति की संविदा केवल हानि की पूर्ति के लिये होती है।
3	इसके अन्तर्गत तीन संविदायें विवक्षित होती हैंकृ(क) ऋणदाता तथा ऋणों के मध्य (ख) ऋणदाजा तथा प्रतिभू के मध्य, तथा (ग) ऋणी तथा प्रतिभू के मध्य ।	इसमें केवल एक संविदा होती है–क्षतिपूर्तिकर्ता तथा क्षतिपूर्तिधारी के मध्य ।
4	प्रत्याभूति की संविदा केवल एक पारिमाणिक संविदा होती है। मौलिक संविदा ऋणदाता तथा ऋणी के मध्य होती है।	यह क्षतिपूर्तिकर्त्ता तथा क्षतिपूर्तिधारी के मध्य एक मौलिक तथा प्रत्यक्ष संविदा होती है।
5	प्रतिभू का उत्तरदायित्व प्राथमिक न होकर द्वितीयक होता है। अतः यदि मूल ऋणी उत्तरदायी नहीं होता है तो प्रतिभू भी उत्तरदायी नहीं होगा।	क्षतिपूर्ति की संविदा में क्षतिपूर्तिकर्ता की प्राथमिक जिम्मेदारी होती है।
6	यदि प्रतिभू मूल ऋणों का ऋण अदा कर देता है, तो वह ऋणदाता का स्थान ग्रहण कर लेता है तथा भुगतान किये हुए धन को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।	क्षतिपूर्तिकर्ता।

प्रश्न–15 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –

उत्तर–(1) क्षतिपूर्तिधारी के अधिकार (Rights of Indemnity Holder)–धारा–125 के अधिकार से तात्पर्य–क्षतिपूर्ति की संविदा वर्ष 2019 प्रतिग्रहीता अपने अधिकार की परिधि के भीतर कार्य करता हुआ प्रतिज्ञाकर्त्ता से निम्नलिखित प्राप्त करने का अधिकारी है–

(1) वे सब नुकसान–धन, जिनकी देनगी के लिए वह किसी ऐसी बात के बारे में, जिसकी क्षतिपूर्ति करने की प्रतिज्ञा लागू है, किसी वाद में मजबूर किया जाये।

(2) वे सब खर्चे जिनको देने के लिए वह किसी ऐसे वाद से मजबूद किया जाये यदि उसे चलाने से उसने प्रतिज्ञाकर्त्ता के आदेशों का उल्लंघन नहीं किया है और वैसा ही कार्य किया है, जैसा कि कार्य करना क्षतिपूर्ति की किसी संविदा के अभाव में उसके लिए प्रज्ञापूर्ण होता है यदि प्रतिज्ञाकर्ता ने उसे वाद चलाने या उसमें प्रतिरक्षा करने के लिए प्राधिकृत किया।

(3) वे सब राशियाँ, जो उसने किसी ऐसे वाद में किसी समझौते के निबन्धनों के अधीन दी हो या यदि प्रतिज्ञाकर्ता ने उसे वाद का समझौता करने के लिए प्राधिकृत किया है।

(2) एजेन्ट और नौकर में अन्तर –(Difference between an Agent and a Servant)– एजेन्ट और सेवक में प्रमुख अंतर यह है कि अभिकर्ता को मालिक के लिए अन्य व्यक्तियों के साथ विधिक सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से नियुक्त किया जाता है जबकि नौकर मालिक के निकटतम नियंत्रण तथा निर्देशों के अन्तर्गत कार्य करने के लिए रखा जाता है सेवक तथा अन्य व्यक्ति के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करता है।

प्रमुख दूसरा अन्तर यह है कि मालिक सेवक की उसकी सेवा के अवधि में उसकी दृष्कृतियों के लिए उत्तरदायी होता है चाहे उनके काम से लाभ हुआ है या नहीं परन्तु मालिक एजेन्ट के दृष्कृतियों के लिए उत्तरदायी नहीं है।

लक्ष्मीनारायण, रामगोपाल एण्ड संस बनाम हैदराबाद गवर्नमेंट के वाद में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि श्एक अभिकर्ताश अपने मालिक द्वारा समय–समय पर उसके लिए दिये गये सभी निर्देशों के अनुसार– अपने प्राधिकार का प्रयोग करने के लिए बाध्य है। इस प्रकार एक अभिकर्ता सेवक नहीं है, किन्तु एक सेवक सामान्यतया कतिपय अभिप्रायों के लिए अपने स्वामी का विवाक्षित अभिकर्ता होता है, अभिकरण का विस्तार सेवक के कर्त्तव्यों अथवा स्थिति पर निर्भर होता है।

(3) सतत् प्रत्याभूति (Continuous Guarantee) –कभी–कभी गारण्टी एक सौदे के बारे में न होकर (भविष्य में होने वाले अनेक सौदे के बारे में हाती है। इसलिए इसे चालू रहने वाली गारण्टी कहते हैं। संविदा अधिनियम 129 के अनुसारकृप्रत्याभूति जिसका विस्तार संव्यवहारों (Transactions) की किसी श्रृंखला (Series) पर हो 'चलत प्रत्याभूति' कहलाती है।

उदाहरणार्थ–कई महीनों की आवली के लिए आतक का संदाय करने की प्रत्याभूति एक चलत प्रत्याभूति है। 'क' इस बात के प्रतिफल स्वरूप कि 'ख' अपनी जींदारी के भातकों का संग्रह करने के लिए 'ग' को नौकर रखेगा, 'ग' उनको भातकों के सम्यक संग्रह और संदाय के लिए 5,000 रुपए की रकम तक उत्तरदायी होने का 'ख' को वचन देता है। यह चलत प्रत्याभूति है।

कोई प्रत्याभूति चलत है या साधारण इस बात का अवधारण संव्यवहार की प्रकृति, पक्षकारों की स्थिति एवं परवर्ती परिस्थितियों के आधार पर किया जाता है।

किसी व्यक्ति द्वारा अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वहन करने की प्रत्याभूति चलत प्रत्याभूति नहीं है, अपितु एक नियुक्ति की प्रत्याभूति है।

इसी प्रकार एक निश्चित समय के भीतर किश्तों में धन का संदाय करने के लिए प्रत्याभूति चलत प्रत्याभूति न होकर, ऋण की प्रत्याभूति है।

(4) सह–प्रत्याभू के दायित्व (Liability of Surety)– सह–प्रतिभु के दायित्वों का उल्लेख संविदा अधिनियम की धारा 146 एवं 147 में किया गया है। इसके दो प्रकार के दायित्व हैं–

(1) सामान अभिदाय करने का अधिकार–सह–प्रतिभुओं की दशा में यह सुस्थापित है कि यदि लेनदार सह–प्रतिभु को अंशदान (contribution) प्राप्त करने का हक होता है, ऐसा अंशदान करना ही सह–प्रतिभुओं का दायित्व है।

उदाहरणार्थ– 'ङ' को उधार दिये गये 3,000 रुपए के लिए 'घ' के 'क' 'ख' तथा 'ग' प्रतिभू 'ङ' संदाप में व्यतिक्रम करता है। 'क' 'ख' और 'ग' उनके बीच का सम्बन्ध है, हर एक '1000' रुपए संदत्त करने के लिए दायी है।

(2) विभिन्न राशियों के लिए सह–प्रतिभुओं का दायित्व – धारा–147 में यह उपबंधित किया गया है जहाँ कई प्रतिभू अपने को एक ऋण के लिए उत्तरदायी बनाते हैं, लेकिन परिसीमित राशि तक उनकी प्रत्याभूति द्वारा निश्चित सीमा के अधीन प्रत्येक प्रतिभू के बराबर अंशदान करने के लिए दायी होता है।

उदाहरण–'घ' के प्रतिभुओं के रूप में 'क' 'ख' 'ग' इस शर्त पर आश्रित है कि 'ङ' को 'घ' सम्यक् रूप से लेखा देगा, पृथक् पृथक् तीन बंधपत्र लिख देते हैं जिनमें से हर एक भिन्न शास्ति वाला है, अर्थात् 'क' का 10,000 रु. की 'ख' का 20,000 रु. की और 'ग' का 40,000 रुपय की शास्ति वाला है। 'घ' 30,000 रुपय का लेखा नहीं देता। 'क' 'ख' 'ग' हर एक 10,000 रुपय संदाय करने के लिए दायी है।

(5) निष्क्रिय भागीदार (Sleeping Partner)– जब कोई व्यक्ति फर्म में भागीदारी हो, परन्तु उसके भागीदार होने के तथ्य को न तो कोई ग्राहक और न कोई बाहरी व्यक्ति जानता हो, तो उस भागीदार को निष्क्रिय भागीदार या सुसप्त भागीदार कहते हैं। यद्यपि कि यह भागीदार फर्म के कारोबार में भी निष्क्रिय भूमिका निभाते हैं, परन्तु इनके दायित्व एवं कर्त्तव्य वही होते हैं जो सक्रिय भागीदार के होते हैं, लेकिन बस इन्हें इतनी छूट होती है कि जब ये फर्म को त्यागते या छोड़ते हैं या अवकाश ग्रहण करते हैं इन्हें पब्लिक नोटिस **धारा–72** के अनुसार नहीं देनी पड़ती है क्योंकि इनके भागीदार होने के तथ्य को कोई व्यक्ति नहीं जानता और यह भी स्मरणीय बिन्दु है कि निष्क्रिय भागीदार मामलों में **व्यपदेशन का सिद्धान्त (धारा–28)** भी नहीं लागू होता है।

कार्टर बनाम एण्ड अदर्स के वाद में न्यायालय ने कहा कि वहाँ निष्क्रिय भागीदारी को फर्म से हटने की सार्वजनिक नोटिस देना आवश्यक हो जाता है जहाँ उसके भागीदार होने का तथ्य को कुछ ग्राहक या बाहरी व्यक्ति जानते हैं।

(6) असंदत्त विक्रेता का माल रोकने का अधिकार(Right of unpaid seller to retain goods)– धारा–47 के अनुसार इस अधिनियम के प्रावधानों के अध्याधीन एक असंदत्त विक्रेता का जिसके कब्जे में विक्रय की गई वस्तु (माल) वह तब तक वस्तु पर कब्जा बनाये रखने का अधिकार रखता है जब तक मूल्य का भुगतान न हो जाये। इस सम्बन्ध में उसे निम्न मामलों में धारणाधिकार प्राप्त होगा–

(1) जहाँ माल उधार की शर्त पर नहीं बेचा गया है,

(2) जहाँ क्रेता दिवालिया हो गया है।

(3) जहाँ माल उधार बेचा गया था, परन्तु उधार की शर्तें समाप्त हो गईं।

धारा–47 की उपधारा (2) असंदत्त विक्रेता के धारणाधिकार को स्पष्ट करते हुए प्रावधान करती है यदि विक्रेता विक्रय किये गये माल पर क्रेता के एक अभिकर्त्ता या उपनिहिती के रूप में कब्जा रखता है तो भी उसे मूल्य के भुगतान तथा धारणाधिकार प्राप्त होगा।

यह उल्लेखनीय है कि कब्जे के अधिकार से जुड़ा हुआ है न कि स्वामित्व के अधिकार से। इस प्रकार विक्रेता ने माल पर स्वामित्व (Title of Goods) के दस्तावेज को प्रदान कर दिया है परन्तु माल पर उसका कब्जा बना है तो भी उसे माल के मूल्य के भुगतान तक रोके रखने का अधिकार है जिसके मूल्य का अंशतः पूर्णतः भुगतान नहीं किया गया है।

(7) गुडविल (साख) का विक्रय (Sale of Goodwill)–फर्म का गुडविल (कीतिस्व) फर्म की आस्ति है। इस बात की पुष्टि न्यायालय अनेक बार क्या कर चुके हैं। भारतीय भागिता अधिनियम की धारा 55 में इस तथ्य की पुष्टि की गई है। इस धारा में कहा गया है भंजन के पश्चात् फर्म के लेखा परिनिर्धारण करने में गुडविल भागीदारों के बीच की संविदा के अधीन रहते हुए आस्तियों के अन्तर्गत किया जायेगा और वह या तो पृथक रूप से या फर्म के अन्य सर्मपत्त के साथ बेचा जायेगा और वह तो पृथक् रूप से या फर्म की अन्य सम्पत्ति के साथ बेचा जा सकेगा।

यदि किसी के विघटन के पश्चात् फर्म कीतिस्व का विक्रय हुआ है तो फर्म का भागीदार उस व्यक्ति के विरुद्ध प्रतिस्पर्धा कर सकता है पर ऐसा करने में क्रेता और उसके बीच होने वाली संविदा को ध्यान में रखते हुए वह (1) फर्म के नाम का प्रयोग न करे (2) वह मिथ्याख्यापन करे वह फर्म का व्यापार कर रहा है। (3) यह भागिता से अलग होने के पहले फर्म के साथ व्यापार करने वाले व्यापारियों को आकृष्ट न करेगा।

फर्म की प्रतिष्ठा के विक्रय के पश्चात् विक्रय के पश्चात् बिक्रेता के साथ कोई भागीदार वह संविदा कर सकता है कि वह ऐसे व्यापार जैसे कि फर्म कर रहा था कि एक निश्चित अवधि निश्चित सीमा में न कर सकेगा।

(8) फर्म की सम्पत्ति (Property of the Firm)–फर्म की सम्पत्ति जिसे भागीदारी सम्पत्ति, संयुक्त भण्डार (श्रवपदज ेजवबा), सामान्य भण्डार कहते हैं, उन सभी अधिकारों एवं हितों को सम्मिलित करती है जिसके लिए फर्म अर्थात् सब साझेदार समान रूप से अधिकारी हैं।

साझेदारी अधिनियम की धारा–14 उन सम्पत्तियों का उल्लेख करती हैं जिन्हें विपरीत आशय के अनुबन्ध की अनुपस्थिति में फर्म की सम्पत्ति माना जायेगा।

फर्म की सम्पत्ति के अन्तर्गत तीन प्रकार की सम्पत्तियाँ सम्मिलित हैं

(i) जो सम्पत्ति, अधिकार या हित फर्म के स्टॉक में आरम्भ में डाल दिये जाते हैं, वह उसके विरुद्ध कोई संविदा न हो फर्म की सम्पत्ति हो जाती है।

(ii) जो सम्पत्ति फर्म के कारोबार के लिए फर्म द्वारा खरीदी जाती है, फर्म की सम्पत्ति हो जाती है।

(iii) यदि फर्म के कारोबार के दौरान किसी भागीदार द्वारा अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति फर्म के लिए छोड़ दी जाती है तो वह फर्म की सम्पत्ति हो जाती है।

(9) विक्रय और विक्रय करार में अंतर (Difference between and Agreement to Sell)

विक्रय और विक्रय करार में अंतर निम्नलिखित हैं–

क्रसं	विक्रय	विक्रय का करार
1	विक्रय में, माल में स्वामित्व का अंतरण विक्रेता से क्रेता को तुरन्त विक्रय के समय से ही हो जाता है।	विक्रय के करार में माल में स्वामित्व का अंतरण तुरन्त न होकर करार में निर्धारित किसी शर्त के पूरा होने पर होता है।
2	विक्रय में क्रेता की विषय–वस्तु का स्वामी तुरन्त हो जाता है वह स्वामित्व के सभी अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।	विक्रय के करार में क्रेता विषय–वस्तु (माल) का स्वामी तुरन्त नहीं होता परन्तु करार में निर्धारित शर्त के अनुसार स्वामित्व प्राप्त होता है।
3	विक्रय में प्राप्त अधिकार को (Jus in run) या सर्वसम्बन्धी अधिकार कहते हैं।	विक्रय के करार में प्राप्त अधिकार (Jus in Personam) व्यक्तिवादी अधिकार होता है।
4	विक्रय हो जाने पर माल की हानि का जोखिम क्रेता पर होता है।	विक्रय के करार में जब तक विक्रय पूर्ण नहीं होता माल में जोखिम विक्रय में ही निहित होता है।

(10) प्रतिभू के दायित्व का विस्तार (Extent of Surity's Liability)–संविदा अधिनियम की धारा–128 के अनुसार–प्रतिभू का उत्तरदायित्व जब तक संविदा द्वारा अन्यथा उपबन्धित न हो, मुख्य थी दायित्व के समविस्तीर्ण (Co-extinsire) है। अतः यदि प्रतिभू पूर्ण ऋण के लिए उत्तरदायित्व होता है तो वह मुख्य ऋणी द्वारा पूर्ण ऋण के लिए उत्तरदायी होगा। उदाहरण के लिए 'क' एक विनिमय–पत्र की प्रतिग्रहीता (च्तवउपेमम) 'ग' द्वारा देनगी की 'ख' को प्रत्याभूति देता है। वह विनिमय–पत्र 'ग' द्वारा अनादृत (क्पीवदवनत) कर दिया जाता है। 'क' ने केवल विनिमय–पत्र की रकम के लिए बल्कि उन ब्याज और प्रभारों के लिए भी जो कि उसके ऊपर शोध्य हो गये हो दायी है।

इस प्रकार अधिनियम की **धारा 128** के दायित्व की सीमा के बारे में जो बताती है उसके अनुसार जब तक कि कोई विपरीत संविदा ने हो, प्रतिभू के दायित्व की सीमा मूल ऋण के दायित्व के समान होती है। फिर भी यदि प्रतिभू ने संविदा करते समय अपने दायितव की सीमा के बारे में बता दिया है तो ऐसे मामले में उसका दायित्व वर्णित दायित्व से अधिक नहीं होता, प्रमुख ऋणी का दायित्व भले ही कितना क्यों न हो। उदाहरणार्थ–क, ग, को ख के 10,000 रुपए के ऋण के दायित्व लेता है। ख को ग 50,000 रुपए देता है जो वह लौटाने में असफल रहता है। यहाँ क, ख के 10,000 ऋण के लिए था यदि उस कोई ब्याज हो तो 10,000 ऋण के लिए दायी होगा।

(11) पड़ा हुआ माल पाने का अधिकार (Rights of Finder of Goods)–विधि में पड़े माल को पाया जाना भी उपनिधान का एक नया रूप माना गया है। एक ऐसा व्यक्ति जिसे कोई माल उपनिहित नहीं किया जाता है लेकिन उसे पड़ा मिलता है यदि उसे उठा लेता है तो वह माल का उपनिहिती हो जाता है और उसके वही कर्त्तव्य एवं दायित्व हो जाते हैं जो एक उपनिहिती के होते हैं। **धारा–168** की व्यवस्था के अनुसार

(1) एक वस्तु को जिसकी उसने खोज की है अपने आधिपत्य में उस समय तक रख सकता है जब तक कि उसका स्वामी उस वस्तु की खोज लगाने वाले को इसकी खोज लगाने की प्रति किये गये व्ययों तथा असुविधाओं का प्रतिकर न दे दे।

(2) यदि खोई हुई वस्तु के स्वामी ने खोई हुई वस्तु के खोज के लिए इनाम घोषित कर रखा है तो उस वस्तु का खोज लगाने वाला–(क) इस इनाम की वसूली के लिए वस्तु को स्वामी पर मुकदमा कर सकता है, तथा

(ख) खोई हुई वस्तु को उस समय तक अपने आधिपत्य में रख सकता है जब तक कि उसे इनाम घोषित न मिल जाये।

धारा–169 के अनुसार– यदि किसी व्यक्ति ने कोई वस्तु पाई है और साधारण खोज के पश्चात् भी उसके स्वामी का पता नहीं चल रहा है या यदि पता चल भी रहा है तो उसे लेने से इन्कार कर रहा है तो ऐसी परिस्थिति वस्तु पाने वाले का अधिकार है कि वह उस वस्तु का बेच दे।

(12) सशुल्क उपनिधाता (Bailor for Reward)–सशुल्क उपनिधाता से तात्पर्य उससे है जो मूल्य के बदले वस्तु को उपनिधान में देता है। धारा–150 में उपनिधाता को दो कोटियों में विभाजित किया गया है–

(1) आनुग्रहिक उपनिधाता (Grateuitous Bailor)– आनुग्रहिक उपनिधाता एक ऐसा उपनिधाता होता है जो बिना प्रतिफल के अपनी वस्तुओं को देता है चूँकि वह प्रतिफल नहीं लेता है, उसके कर्त्तव्य पुरस्कार के लिए उपनिधाता के अपेक्षा कम होते हैं। आनुग्रहिक उपनिधाता का कर्त्तव्य होता है वह उपनिधान में भी दी जाने वाली वस्तुओं के दोषों को बताये। परन्तु वह केवल उन्हीं वस्तुओं के दोषों को बताने के लिए बाध्य है जिन्हें वह जानता है तथा जो वस्तुओं के प्रयोग में हानिकारक होंगे। उदाहरण के लिए 'क' 'ख' को एक घोड़ा उधार देता है जिसके बारे में उसे ज्ञात है वह दुष्ट है। वह इस बात को प्रकट नहीं करता कि घोड़ा दुष्ट है। घोड़ा भाग खड़ा होता है 'ख' घोड़े से गिरता है वह क्षत हो जाता है। उठाये गये नुकसान के लिए क, 'ख' के प्रति उत्तरदायी है। वस्तुओं के उन दोषों के लिए जिनका उसे पता नहीं है, आनुग्रहिक उपनिधाता उत्तरदायी नहीं होता है।

(2) पुरस्कार के लिए उपनिधथाता (Bailor for Rewarded)– धारा–150 के अनुसार–'यदि वस्तुयें अविक्रय के लिए उपनिहित की गई है तो उपनिधाता ऐसे नुकसान के लिए उत्तरदायी है, भले ही उसे उपनिहित वस्तुओं में की गई ऐसी त्रुटियों के अस्तित्व का पता हो या न रहा हो। यह नियम–हीमन एण्ड वाइफ बनाम नियें एण्ड सन्स में प्रतिपादित किया गया था। इस वाद में वादी ने प्रतिवादी से एक गाड़ी उधार ली थी तथा गाड़ी के निचले हिस्से के एक बोल्ट के हट जाने से वह घायल हो गया। न्यायालय ने प्रतिवादी को दायित्वाधीन घोषित किया, क्योंकि उक्त दोष सावधानी तथा कौशल से खोजा जा सकता था।'